हिन्दी नाटक
उद्‌भव एवं विकास

(Hindi Drama: Origin and Development)

जमील खान

हिन्दी नाटक : उद्भव एवं विकास

हिन्दी नाटक : उद्‌भव एवं विकास

(Hindi Drama: Origin and Development)

जमीन खान

भाषा प्रकाशन
नई दिल्ली - 110002

© प्रकाशक

I.S.B.N. : 978-81-323-5625-7

प्रथम संस्करण : 2021

भाषा प्रकाशन

22, प्रकाशदीप बिल्डिंग, अंसारी रोड,
दरियागंज, नई दिल्ली - 110002

द्वारा वर्ल्ड टेक्नोलॉजीज नई दिल्ली के सहयोग से प्रकाशित

प्रस्तावना

नाटक, काव्य का वह रूप है, जो रचना श्रवण द्वारा ही नहीं अपितु दृष्टि द्वारा भी दर्शकों के हृदय में रसानुभूति कराता है। नाटक में श्रव्य काव्य से अधिक रमणीयता होती है। श्रव्य काव्य होने के कारण यह लोक चेतना से अपेक्षाकृत अधिक घनिष्ठ रूप से संबद्ध है।

नाटक को रंगमंच पर प्रस्तुत किया जाता है। यह सुना भी जाता है और देखा भी जाता है। इसमें श्रव्य-काव्य का भी सामंजस्य हो जाता है, जबकि साहित्य की अन्य विधाएँ सुनी या पढ़ी जाती हैं। उन्हें साकार रूप में घटित होते नहीं देखा जा सकता। इसी दृश्यत्व के कारण नाटक को साहित्य की सभी विधाओं से श्रेष्ठ माना जाता है। नाटक के महत्त्व को दृष्टि में रखकर ही भरत मुनि ने नाटक की उत्पत्ति को दैवी माना है। उनके कथनानुसार देवताओं की प्रार्थना पर त्रेतायुग में ब्रह्माजी ने ऋग्वेद से पाठ, सामवेद से गान, यजुर्वेद से अभिनय और अथर्ववेद से रस लेकर पंचम वेद के रूप में नाट्यवेद की रचना की। इसके लिए शिवजी ने तांडव-नृत्य और पार्वती ने लास्य प्रदान किया। इसके बाद ब्रह्मा ने विश्वकर्मा को एक नाट्यगृह का निर्माण करने को कहा। कहना न होगा कि यह घटना पूर्ण कल्पित है, फिर भी इसमें नाटक की प्राचीनता और उसके तत्त्वों पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है।

हिंदी रंगमंच से अभिप्राय हिंदी और उसकी बोलियों के रंगमंच से है। हिन्दी रंगमंच की जड़ें रामलीला और रासलीला से आरम्भ होती हैं। हिन्दी रंगमंच

पर संस्कृत नाटकों का भी प्रभाव है। भारतेन्दु हरिश्चंद्र हिन्दी रंगमंच के पुरोधा हैं।

हिंदी रंगमंच संस्कृत, लोक एवं पारसी रंगमंच की पृष्ठभूमि का आधार लेकर विकसित हुआ है। ध्यातव्य है कि भरतमुनि ने नाट्यशास्त्र में 'नाट्य' शब्द का प्रयोग केवल नाटक के रूप में न करके व्यापक अर्थ में किया है, जिसके अंतर्गत रंगमंच, अभिनय, नृत्य, संगीत, रस, वेशभूषा, रंगशिल्प, दर्शक आदि सभी पक्ष आ जाते हैं।

भारत में संस्कृत रंगमंच के पृष्ठभूमि में चले जाने के बाद भी लोक रंगमंचों की परंपरा अत्यंत सुदृढ़ रही। नौटंकी, रासलीला,रामलीला, स्वांग, नकल, खयाल, यात्र, यक्षगान, नाचा, तमाशा आदि लोकप्रिय लोक - नाट्य रूप रहे हैं। इसी प्रकार पारसी रंगमंच की भी हिंदी रंगमंच के विकास में ऐतिहासिक भूमिका है। बलवंत गार्गी हिंदी रंगमंच का सूत्रपात पारसी रंगमंच से ही मानते हुए कहते हैं कि–"जिस समय बंगाल में 1870 में व्यावसायिक थिएटर की नींव रखी जा रही थी, तब कुछ पारसी मुंबई में नाटक और ललित कलाओं में रुचि लेने लगे। परिणाम यह हुआ कि पारसियों ने व्यावसायिक हिंदी नाटक की स्थापना करने में पहल की" इस बात का समर्थन प्रसिद्ध नाट्य समीक्षक नेमिचंद्र जैन तथा अन्य विद्वान भी करते हैं।

पुस्तक लेखन में कई लिखित व अलिखित स्रोतों से मदद ली गई है; मैं उन सभी विज्ञ लेखकों के प्रति अपना आभार प्रकट करता हूँ। आशा करता हूँ कि पुस्तक पाठकों के लिए उपयोगी होगी।

–लेखक

अनुक्रम

प्रस्तावना *v*

1. विषय बोध **1**

नाटक का अर्थ 2

नाटक की परिभाषा 3

नाटक कला का स्वरूप 6

नाटक का प्रयोजन 14

महत्त्व और उपादेयता 15

नाट्यकर्म के तत्त्व 16

हिंदी रंगमंच प्रयोग और परंपरा 21

हिंदी रंगमंच का विकास 23

मोहन राकेश और हिंदी रंगमंच का विकास 27

राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय 28

अन्य संस्थाएं 29

हिंदी नाटक का प्रारंभ 37

प्राचीन हिन्दी नाटक 47

आधुनिक हिन्दी नाटक 48

लोकनाट्य का प्रचलित स्वरूप 50

इतिहास 56

2. भारतेन्दु-युगीन नाटक **61**
भारतेन्दु मण्डल 62
भारतेन्दुयुगीन कविता की मुख्य विशेषताएँ 62
भारतेन्दुकालीन कथा 66
मौलिक नाटक 70
बंगला 76
अंग्रेजी 77
भारतेन्दु की रंगदृष्टि 78
महावीर प्रसाद द्विवेदी 97
हजारी प्रसाद द्विवेदी 103
कृतियाँ 104
नाथ सम्प्रदाय 105
बाबू मैथिलीशरण गुप्त 113
पंडित लोचन प्रसाद पांडेय 114
पंडित राम नरेश त्रिपाठी 116
पंडित सत्यनारायण 'कविरत्न' 117
वियोगी हरि 118
मुकुटधर पांडेय 122
व्यावसायिक जीवन 123
वर्णनात्मक शैली 125
3. प्रसाद-युगीन नाटक **127**
प्रसाद-युगीन समीक्षा 143
जयशंकर प्रसाद की साहित्य दृष्टि 145
अजातशत्रु में जयशंकर प्रसाद की नाट्य दृष्टि 161
प्रसादयुगीन प्रतिनिधि रचनाकार 173
सुमित्रानंदन पंत 174
साहित्य सृजन 175
विचारधारा 176
कृतियाँ 181
प्रमुख कृतियाँ 183

4. प्रसादोत्तर-युगीन नाटक **186**
ऐतिहासिक नाटक 186
समस्यामूलक नाटक 186
प्रमुख नाटक रचियिता 196
भारतीय संस्कृति के संवाहक 201
प्रमुख कृतियाँ 204
कृतियाँ 207

1

विषय बोध

नाटक, काव्य और गद्य का एक रूप है। जो रचना, श्रवण द्वारा ही नहीं अपितु दृष्टि द्वारा भी दर्शकों के हृदय में रसानुभूति कराती है, उसे नाटक या दृश्य-काव्य कहते हैं।। नाटक में श्रव्य काव्य से अधिक रमणीयता होती है। श्रव्य काव्य होने के कारण यह लोक चेतना से अपेक्षाकृत अधिक घनिष्ठ रूप से संबद्ध है। नाट्यशास्त्र में लोक चेतना को नाटक के लेखन और मंचन की मूल प्रेरणा माना गया है।हिन्दी साहित्य में नाटक का विकास आधुनिक युग में ही हुआ है। इससे पूर्व हिन्दी के जो नाटक मिलते हैं।, वे या तो नाटकीय काव्य हैं। अथवा संस्कृत के अनुवाद मात्र या नाम के ही नाटक हैं, क्योंकि उनमें नाट्यकला के तत्त्वों का सर्वथा। अभाव है, जैसे–नेवाज का 'शकुन्तला', कवि देव का 'देवमायाप्रपंच', हृदयराम का 'हनुमन्नाटक' राजा जसवन्तसिंह का 'प्रबोधचन्द्र चन्द्रोदय' नाटक आदि। रीवां नरेश विश्वनाथ सिंह का 'आनन्द रघुनन्दन' नाटक हिन्दी का प्रथम मौलिक नाटक माना जाता है। जो लगभग 1700 ई. में लिखा गया था।, किन्तु एक तो उसमें ब्रजभाषा का प्रयोग हुआ है, दूसरे वह रामलीला की पद्धति पर है। अतः वह भी आधुनिक नाट्यकला से सर्वथा दूर है। हिन्दी साहित्य के आदि और मध्य युग में गद्य अत्यन्त अविकसित स्थिति में था। और अभिनयशालाओं का सर्वथा अभाव था। अस्तु, हिन्दी साहित्य के आदि और मध्य युग में नाट्यकला का विकास न हो सका, जबकि हिन्दी लेखकों के सम्मुख संस्कृत की नाट्यकला अत्यन्त विकसित और उन्नत अवस्था में विद्यमान थी।

आधुनिक युग में हिन्दी नाटक का सम्पर्क अंग्रेजी से स्थापित हुआ। अंग्रेज लोग नाट्यकला और मनोरंजन में अत्यधिक रुचि रखते थे और साहित्य में नाटकों की रचना भी प्रभूत मात्रा में हो चुकी थी। इसके साथ ही इस युग में हिन्दी-गद्य भी स्थिर हो गया और उसमें अभिव्यंजना शक्ति का भी विकास हो गया। इसलिए हिन्दी-नाट्यकला को पनपने का समुचित अवसर इसी युग में आकर प्राप्त हुआ।

नाटक का अर्थ

नाटक की गिनती काव्यों में है। काव्य दो प्रकार के माने गये हैं– श्रव्य और दृश्य। इसी दृश्य काव्य का एक भेद नाटक माना गया है। पर दृष्टि द्वारा मुख्य रूप से इसका ग्रहण होने के कारण दृश्य काव्य मात्र को नाटक कहने लगे हैं।

भरतमुनि का नाट्यशास्त्र इस विषय का सबसे प्राचीन ग्रंथ मिलता है। अग्निपुराण में भी नाटक के लक्षण आदि का निरूपण है। उसमें एक प्रकार के काव्य का नाम प्रकीर्ण कहा गया है। इस प्रकीर्ण के दो भेद है– काव्य और अभिनेय। अग्निपुराण में दृश्य काव्य या रूपक के 27 भेद कहे गए हैं–नाटक कला का वह रूप है, जो व्यक्ति के तनाव एवं द्वंद की खोज करती है। नाटक में दर्शकों के बीच एक कहानी का प्रस्तुतीकरण, संवादों एवं शारीरिक क्रियाओं के माध्यम से किया जाता है। नाटक के दौरान कहानी का सम्प्रेषण थियेटर के विभिन्न अवयवों, यथा अभिनय, पहनावा, दृश्यों, प्रकाश, संगीत, आवाज एवं संवाद के माध्यम से किया जाता है। नाटक एवं उसके द्वारा संप्रेषित संदेश का बौद्धिक एवं भावनात्मक प्रभाव नाटक के कलाकारों एवं दर्शक/श्रोताओं दोनों पर होता है। नाटक में हम अपनी छवि का मूल्यांकन कर सकते हैं। एवं मानव व्यवहार तथा भावनाओं को गहराइयों से समझ सकते हैं।

पाणिनी के अनुसार नाटक की उत्पत्ति 'नट्' धातु से हुई है। तथा रामचन्द्र गुणचन्द्र के अनुसार 'नाट्यदर्पण' में इसका उद्‌भव 'नाट्' धातु से हुआ है। वेबर और मोनियर बिलियम्स का मत है कि 'नट्' धातु 'नृत्' धातु का प्राकृत रूप है। मार्कण्ड का मानना है कि 'नृत्' बहुत प्राचीन है और 'नट्' का प्रचलन अपेक्षाकृत कम पुराना है। सायण ने अपने भाष्यों में 'नट्' का अर्थ 'व्याप्नोति' किया है और 'नृत्' का गात्रविक्षेपण ऐसा प्रतीत होता है कि वेदोत्तर काल में दोनों धातुएँ समानार्थक होती गईं, किंतु कालांतर में 'नट्' धातु का अर्थ अधिक व्यापक बन गया और 'नृत्' के अर्थ के साथ-साथ अभिनय का अर्थ इससे सिमटता चला

गया। व्युत्पत्ति के अनुसार नट् से सम्बन्धित कार्य जिसमें होता है या अभिनेतागण जिसमें रहते हैं, उस काव्य को नाटक कहते हैं। संस्कृत में नाटक रूपक का एक भेद माना जाता है पर हिन्दी में वह रूपक का पर्याय बन गया है। वैसे अर्थ में दोनों प्रायः समान ही हैं। संस्कृत आचार्यों ने दृश्य-काव्य को रूपक कहा है। 'रूपक' शब्द 'नाट्य' का वाचक माना जाता है। दशरूपककार धनंजय ने अवस्था की अनुकृति को 'नाट्य' कहा है– 'अवस्थानुकृतिर्नाट्यम्'। नाट्य के रूपक और उप-रूपक, दो भेद माने गये हैं। रूपक में रस की प्रमुखता रहती है और उप-रूपक में भाव, नृत्य और नृत् की। संस्कृत में रूपक के दस और उप-रूपक के अठारह भेद किये गये हैं। लेकिन हिन्दी में इनको विशेष महत्त्व नहीं दिया गया। आज दृश्यकाव्य को नाटक और एकांकी में ही वर्गीकृत किया जाता है।

नाटक को रंगमंच पर प्रस्तुत किया जाता है। यह सुना भी जाता है और देखा भी जाता है। इसमें श्रव्य-काव्य का भी सामंजस्य हो जाता है, जबकि साहित्य की अन्य विधाएँ सुनी या पढ़ी जाती हैं। उन्हें साकार रूप में घटित होते नहीं देखा जा सकता। इसी दृश्यत्व के कारण नाटक को साहित्य की सभी विधाओं से श्रेष्ठ माना जाता है। नाटक के महत्त्व को दृष्टि में रखकर ही भरत मुनि से नाटक की उत्पत्ति को दैवी माना जाता है। उनके कथनानुसार देवताओं की प्रार्थना पर त्रेतायुग में ब्रह्माजी ने ऋग्वेद से पाठ, सामवेद से गान, यजुर्वेद से अभिनय और अथर्ववेद से रस लेकर पंचम वेद के रूप में नाट्यवेद की रचना की। इसके लिए शिवजी ने तांडव-नृत्य और पार्वती ने लास्य प्रदान किया। इसके बाद ब्रह्मा ने विश्वकर्मा को एक नाट्यगृह का निर्माण करने को कहा। कहना न होगा कि यह घटना पूर्ण कल्पित है, फिर भी इसमें नाटक की प्राचीनता और उसके तत्त्वों पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है।

नाटक की परिभाषा

आचार्य धनंजय ने नाटक के अर्थ को परिभाषित करते हुए लिखा है कि अवस्था की अनुकृति नाटक है, यह परिभाषा व्यवहारिक और उपयोगी है। नाटक अनुकरण तत्त्व की प्रधानता है, साहित्य की सभी विधाओं में नाटक ही वह विधा है, जिसमें अनुकरण पर सर्वाधिक बल दिया गया है। परन्तु यहां एक प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि अनुकरण किसका हो, इसका उत्तर है, कर्म तथा मानवीय जीवन के क्रियाशील कार्यों का मनुष्य अनेक परिस्थितियों से हर क्षण गुजरता है।

उनकी भिन्न-भिन्न आवस्थाएँ होती हैं। भिन्न-भिन्न अवस्थाओं में रहने के कारण उनके जीवन रंगमंच पर अनेक दृश्य अनेक स्थितियाँ आती-जाती रहते हैं। नाटक की रचना करते समय नाटककार इन्हीं स्थितियों को ध्यान में रखता है।

नाटक, काव्य का वह रूप है, जो रचना श्रवण द्वारा ही नहीं अपितु दृष्टि द्वारा भी दर्शकों के हृदय में रसानुभूति कराती है। नाटक में श्रव्य काव्य से अधिक रमणीयता होती है। श्रव्य काव्य होने के कारण यह लोक चेतना से अपेक्षाकृत अधिक घनिष्ठ रूप से संबद्ध है।

विभिन्न प्रकार के काव्यों की भांति नाटक भी एक काव्य है, जिसके दो स्वरूप माने गये हैं– श्रव्य और दृश्य। इसी दृश्य काव्य का एक भेद नाटक माना गया है। पर दृष्टि द्वारा मुख्य रूप से इसका ग्रहण होने के कारण दृश्य काव्य को नाटक के नाम से जाना जाने लगा।

अग्निपुराण में भी नाटक के लक्षण आदि का निरूपण है। उसमें एक प्रकार के काव्य का नाम प्रकीर्ण कहा गया है। इस प्रकीर्ण के दो भेद है। काव्य और अभिनेय। अग्निपुराण में दृश्य काव्य या रूपक के 27 भेद बताए गए हैं। नाटक, प्रकरण, डिम, ईहामृग, समवकार, प्रहसन, व्यायोग, भाण, वीथी, अंक, त्रोटक, नाटिका, सट्‌टक, शिल्पक, विलासिका, दुर्मल्लिका, प्रस्थान, भाणिका, भाणी, गोष्ठी, हल्लीशक, काव्य, श्रीनिगदित, नाटयरासक, रासक, उल्लाप्यक और प्रेक्षण। साहित्यदर्पण में नाटक के लक्षण, भेद आदि का स्पष्ट रूप से वर्णन किया गया है।

दृश्य काव्य का एक भेद नाटक है। दृश्य काव्य के मुख्य दो विभाग हैं– रूपक और उप-रूपक। रूपक, नाटक, प्रकरण, भाण, व्यायोग, समवकार, डिम, ईहामृग, अंकवीथी और प्रहसन ये रूपक के दस भेद हैं। और नाटिका, त्रोटक, गोष्ठी, सट्‌टक, नाटयरासक, प्रस्थान, उल्लाप्य, काव्य, प्रेक्षणा, रासक, संलापक, श्रीगदित, शिंपक, विलासिका, दुर्मल्लिका, प्रकरणिका, हल्लीशा और भणिका उप-रूपक के भेद हैं।

उपरोक्त वर्णित भेदों के अनुसार नाटक शब्द दृश्य काव्य मात्रा के अर्थ में बोलते हैं। साहित्य दर्पण के अनुसार नाटक की रचना किसी प्रसिद्ध आख्यान को लेकर करनी चाहिए। वह बहुत प्रकार के विलास, सुख, दु:ख तथा अनेक रसों से युक्त होना चाहिए। उसमें पाँच से लेकर दस तक अंक होने चाहिए। नाटक का नायक प्रसिद्ध व्यक्ति होना चाहिए। नाटक के प्रधान या अंगी रस शृंगार और वीर हैं। शेष रस गौण रूप से आते हैं। शांति, करुणा आदि जिस रूपक में प्रधान हों, उसे नाटक की संज्ञा नहीं दी जा सकती है।

नाटक के पात्र, उसके दृश्य, उसका कथोपकथन, उसमें वर्णित घटना–स्थिति इत्यादि सभी को रंगमंच पर रूपायित किया जा सकता है। नाटक में प्रभावोत्पादक शक्ति तथा कल्पना दोनों का ही समावेश होता है। रंगमंच पर नाटक सजीव एवं सक्रिय हो उठता है। काव्यों में नाटक बहुत ही मनोरम, प्रभावोत्पादक तथा चित्ताकर्षक होता है। नाटक में साधारणीकरण की शक्ति सबसे ज्यादा है।

अभिनय

अभिनय किसी अभिनेता या अभिनेत्री के द्वारा किया जाने वाला वह कार्य है, जिसके द्वारा वे किसी कथा को दर्शाते हैं, साधारणतया किसी पात्र के माध्यम से। अभिनय का मूल ग्रन्थ नाट्यशास्त्र माना जाता है। इसके रचयिता भरतमुनि थे।

जब प्रसिद्ध या कल्पित कथा के आधार पर नाट्यकार द्वारा रचित रूपक में निर्दिष्ट संवाद और क्रिया के अनुसार नाट्यप्रयोक्ता द्वारा सिखाए जाने पर या स्वयं नट अपनी वाणी, शारीरिक चेष्टा, भावभंगी, मुखमुद्रा वेषभूषा के द्वारा दर्शकों को, शब्दों को शब्दों के भावों का प्रिज्ञान और रस की अनुभूति कराते हैं तब उस संपूर्ण समन्वित व्यापार को अभिनय कहते हैं। भरत ने नाट्यकारों में अभिनय शब्द की निरुक्ति करते हुए कहा है। 'अभिनय शब्द 'णीं' धातु में 'अभि' उपसर्ग लगाकर बना है। अभिनय का उद्देश्य होता है किसी पद या शब्द के भाव को मुख्य अर्थ तक पहुँचा देना, अर्थात् दर्शकों या सामाजिकों के हृदय में भाव या अर्थ से अभिभूत करना'। कविराज विश्वनाथ ने साहित्य दर्पण के छठे परिच्छेद के आरम्भ में कहा है। 'भवेदभिनयौवस्थानुकारः' अर्थात् अवस्था का अनुकरण ही अभिनय कहलाता है।

अभिनय करने की प्रवृत्ति बचपन से ही मनुष्य में तथा अन्य अनेक जीवों में होती है। हाथ, पैर, आँख, मुंह, सिर चलाकर अपने भाव प्रकट करने की प्रवृत्ति सभ्य और असभ्य जातियों में समान रूप से पाई जाती है। उनके अनुकरण कृत्यों का एक उद्देश्य तो यह रहता है कि इससे उन्हें वास्तविक अनुभव जैसा आनंद मिलता है और दूसरा यह कि इससे उन्हें दूसरों को अपना भाव बताने में सहायता मिलती है। इसी दूसरे उद्देश्य के कारण शारीरिक या आंगिक चेष्टाओं और मुखमुद्राओं का विकास हुआ जो जंगली जातियों में बोली हुई भाषा के बदले या उसकी सहायक होकर अभिनय प्रयोग में आती है।अभिनय एक कला है, जिसमें जीवन के प्रत्येक घटनाक्रम को बहुत ही प्रभावशाली ढंग से पिरोया जाता है। भरत

ने अभिनय के विषय में लिखा है कि अभिनय के परिवेश में भूत रूपायित होता है, वर्तमान प्रभावित होता है तथा भविष्य जन्म लेता है। 'नाटक वह प्रयोग है, जिसमें किसी प्रसिद्ध ऐतिहासिक अथवा कल्पित कथा के आधार पर नाट्यकार द्वारा रचित रूप के अनुसार, नाट्य प्रयोक्ता द्वारा प्रशिक्षित नट रंगमंच पर अभिनय तथा संगीत की सहायता से दर्शकों के हृदयों में यथार्थ रस उत्पन्न करके उनका मनोविनोद करते हैं और परोक्ष रूप से उन्हें उपदेश देते हैं तथा मन को शांति मिलती है।'

नाट्य मंचन को पंचम की संज्ञा से विलक्षित किया गया है। कल्पना ऐसी है कि इस वेद की रचना स्वयं ब्रह्मा ने की। उन्होंने ऋग्वेद से संवाद, सामवेद से गान, यजुर्वेद से अभिनय तथा अथर्ववेद से रस लेकर नाटक की रचना की। नाटक में जीवन के समस्त ऊहापोहों का अभिनय सुलभ चित्रण में होता है। सच तो यह है कि नाटक में त्रैलोक्य के भावों या अवस्थाओं का ही अनुकरण होता है।

विश्व के समस्त प्राणी अभिनय करते हैं और इस दुनिया से चले जाते हैं। किसी भी सही स्थिति की नकल करके, उसी के अनुरूप हाव-भाव द्वारा प्रस्तुत किया जाए तो उसे अभिनय कहा जाता है। अभिनय वास्तविकता का प्रतिनिधित्व करता है। नाटक एक दृश्य-काव्य है, जिनके लिए अभिनय आवश्यक है और अभिनय के लिए रंगमंच आवश्यक होता है। अभिनय तथा रंगमंच दोनों एक-दूसरे के पूरक हैं और पारस्परिक रूप से सम्बन्धित भी। नाटक मुख्यत: सर्जनात्मक कला है। सर्जनात्मक कला के इस रूप (नाटक) से तात्पर्य नाटक के लिखित रूप से नहीं, बल्कि इसके अभिनीत रूप से है।

नाटक कला का स्वरूप

सभी कलाओं के द्वारा मानवाभिव्यक्ति को व्यक्त करने का समय दिया जाता है। सृष्टि की रचना के प्रारम्भ से ही संगीत की मधुर ध्वनि मानव मन में स्थापित है। संगीत का अदभुत प्रभाव मानव पर ही नहीं, अपितु पशु-पक्षियों पर भी गहरा होता है। संगीत मानव की भावनाओं को जागृत करता है तथा सांसारिक समस्याओं एवं दु:खों को भुलाने में विशेष रूप से सहायक सिद्ध होता है। संगीत शब्द में गायन, वादन एवं नृत्य तीनों कलाओं का समावेश है। भावों को शब्दों में संजोकर और स्वरों में पिरोकर अभिव्यक्ति करने को ही संगीत कहा जाता है।

कला या लोक संगीत द्वारा पूरे संसार में मानवता, आत्मीयता की स्थापना की जा सकती है। पंडित जवाहरलाल नेहरू की दृष्टि में लोकसंगीत से हमें उल्लास मिलता है तथा यह शिक्षा मिलती है कि जीवन का आनन्द केवल भौतिक पदार्थों की उपलब्धि में ही नहीं है।

यहाँ एक सुयोग्य शिक्षक अपने छात्रों को शिक्षित करने के साथ-साथ उन्हें सर्वगुण-सम्मान बनाने का प्रयास करता है। शिक्षा के साथ पाठान्तर क्रियाओं में प्रवीण वह उनके सर्वांगीण विकास में सहायक सिद्ध होता है। एक शिक्षक अपने छात्रों तक संस्कृति का सर्वोत्तम संदेश देने वाला होता है। वह उन तक कला और संगीत का ज्ञान पहुँचाता है, जिसके लिए वह नाटक, लोक-गीत, लोक-नृत्य इत्यादि का सहारा लेता है।

यहाँ पर हिन्दी का 'लोक' शब्द एंग्लो-सैक्शन के शब्द 'फोक' जैसा ही है। इसमें लोक-गीत लोक-वाद्य तथा लोक-नृत्य तीनों का समावेश है। दैनिक जीवन में इनका बहुत ही महत्त्वपूर्ण स्थान है। इसका रहन-सहन, खान-पान, वेश-भूषा इत्यादि से अटूट सम्बन्ध है। जैसे-जैसे समाज विकसित होता गया, वैसे-वैसे मानव की भावानुभूतियों के सूक्ष्म स्तरों का भी विकास हो गया। शनैः-शनैः लोक-संगीत में पृथक्-पृथक् प्रदेशों में मनुष्यों की प्रकृति, बोलचाल तथा सभ्यता की विभिन्नता के कारण विविधता आने लगी। सभी प्रदेशों में उसी स्थान की ग्रामीण बोलियों में ही लोक-गीत गाए जाते थे। वर्तमान समय में भी यही स्थिति बनी हुई है।

दृश्य काव्य कला के अंतर्गत ही नाटक आता है। नाटक में अभिनय एवं रंगमंच दोनों का होना अनिवार्य है। वास्तव में अभिनय तथा रंगमंच दोनों एक-दूसरे के पूरक हैं, अर्थात् पारस्परिक रूप से सम्बद्ध नाटक मुख्यतः सृजनात्मक कलाओं में से एक है। सृजनात्मक कला से अभिप्राय नाटक के लिखित रूप से नहीं, बल्कि उसके अभिनीत रूप से हैं। नाटक की सार्थकता प्रस्तुतीकरण और निर्देशक की भूमिका पर निर्भर होती है। नाटक रंगमंच पर अभिनीत होकर ही पूर्णता को प्राप्त करता है। नाटक निर्देशक एवं रंग-शिल्पी सभी का प्रयास मुख्यतः अभिनेता के सृजन कार्य को अधिकाधिक प्रभावशाली एवं सक्षम बनाने के लिए होता है। दूसरी ओर भारतवर्ष में अभिनय की प्रतिभा लिए असंख्य अभिनेता है। व्यावसायिक एवं अर्द्ध-व्यावसायिक दोनों प्रकार के उत्साही अभिनेता भारतीय रंगमंच को अपनी अभिनय कला से समृद्ध कर रहे हैं। अभिनेता

जिस चरित्र को मंच पर अभिनीत करता है, यदि वह उसको सही अर्थों में जीता है, तभी दर्शक उसके अभिनय की महत्ता को समझ पाते हैं।

'ऋग्वेद' में नर्तकी और 'यजुर्वेद' में सूत्र, सैलूषकारी (विदूषक) इत्यादि के उल्लेख से यह साफ हो जाता है कि प्राचीनकाल में भी नृत्य तथा नाट्य का महत्त्व किसी-न-किसी रूप में अवश्य था, जो निरन्तर विकास की दिशा में अग्रसर होता गया और विदेशी सम्पर्क में अपना परिष्कार करता गया। भारत की यह पुरानी विरासत आज भी अपना अहम् स्थान बनाए हुए है और जनमानस को निरंतर आन्दोलित कर रही है। भारतीय रंगमंच को विरासत में अनेक नाट्य-रूप मिले हैं, जिनका विकास अनेक रूपों में आगे चलकर हुआ। इस तरह नाट्य कला के कुछ प्रमुख भाग वर्णित है जो निम्न हैं–

1. लोक-नाट्य।
2. नृत्य-नाट्य।
3. भारतीय संगीत नाटक।

1. लोक-नाट्य–लोकनाट्यों का लोकजीवन से अत्यंत घनिष्ठ संबंध है। यही कारण है कि लोक से संबंधित उत्सवों, अवसरों तथा मांगलिक कार्यों के समय इनका अभिनय किया जाता है। विवाह के अवसर पर अनेक जातियों में यह प्रथा है कि स्त्रियाँ बारात विदा हो जाने पर किसी 'स्वाँग' या 'साँग' का अभिनय प्रस्तुत करती हैं, जिसे 'भोजपुरी' प्रदेश में 'डोमकछ' कहते हैं।

लोकनाट्यों की भाषा बड़ी सरल तथा सीधी सादी होती है, जिसे कोई भी अनपढ़ व्यक्ति बड़ी आसानी से समझ सकता है। जिस प्रदेश में लोकनाट्यों का अभिनय किया जाता है, नट लोग वहाँ की स्थानीय बोली का ही प्रयोग करते हैं। ये लोग अभिनय के समय गद्य का ही प्रयोग करते हैं। परंतु बीच-बीच में गीत भी गाते जाते हैं। लोकनाट्यों के संवाद बहुत छोटे तथा सरस होते हैं। लंबे कथोपकथनों का इनमें नितांत अभाव होता है। लंबे संवादों को सुनने के लिए ग्रामीण दर्शकों में धैर्य नहीं होता। अत: नाटकीय पात्र संक्षिप्त संवादों का ही प्रयोग करते हैं।

लोकनाट्यों का कथानक प्राय: ऐतिहासिक, पौराणिक, या सामाजिक होता है। धार्मिक कथावस्तु को लेकर भी अनेक नाटक खेले जाते हैं। बंगाल के लोकनाट्य 'जात्र' और 'कीर्तन' का आधार धार्मिक आख्यान होता है। राजस्थान में अमरसिंह राठौर की ऐतिहासिक गाथा का अभिनय किया जाता है। केरल प्रदेश में प्रचलित 'यक्षगान' नामक लोकनाट्य का कथानक प्राय: पौराणिक होता है।

उत्तरप्रदेश की रामलीला और रासलीला की पृष्ठभूमि धार्मिक है। नौटंकी और स्वाँग की कथावस्तु समाज से अधिक संबंध रखती है।

लोकनाट्यों में प्राय: पुरुष ही स्त्री पात्रों का कार्य किया करते हैं परंतु व्यवसायी नाटक मंडलियाँ साधारण जनता को आकृष्ट करने के लिए सुंदर लड़कियों का भी इस कार्य के लिए उपयोग करती हैं। लोकनाट्यों के पात्र अपनी वेशभूषा की अपेक्षा अपने अभिनय द्वारा ही लोगों को आकृष्ट करने की चेष्टा करते हैं। इन नाटकों के अभिनय में किसी विशेष प्रकार के प्रसाधन, अलंकार या बहुमूल्य वस्त्र आदि की आवश्यकता नहीं होती। कोयला, काजल, खड़िया आदि देशी प्रसाधनों से मुख को प्रसाधित कर तथा उपयुक्त वेशभूषा धारण कर पात्र रंगमंच पर आते हैं। कुछ पात्र प्रसाधन के लिए अब पाउडर और क्रीम का भी प्रयोग करने लगे हैं।लोक-नाट्य का सदा जनसाधारण से सम्बन्ध रहा है। लोक-नाटक सर्वसाधारण के रंगमंच का आवश्यक भाग है। समय-समय पर आवश्यकतानुसार इनका रूप बदलता रहा है। लोक-नाट्य हमारे रंग जीवन का अनन्य महत्त्वपूर्ण रूप है। **नेमिचन्द्र जैन** के शब्दों में, "लोक-नाट्य हमारे नाट्य-परम्परा की एक मूलभूत कड़ी है, क्योंकि वह कई प्रकारों और रूपों में संस्कृत नाटक के बाद माध्यकालीन नाट्य-परम्परा का ही निरन्तरण है।"

मुख्यत: प्रत्येक भाषाओं के गम्भीर और जागरूक रंग-कर्मियों ने अनेकानेक कारणों से यह अनुभव किया है कि इस देश में रंगमंच के विकास में लोक-नाट्य परम्परा किसी-न-किसी रूप में सम्भवत: उपयोगी सिद्ध हों। पूरे भारतवर्ष में आज भी यात्रा, नौटंकी, स्वांग, मंच, भंवर, तमाशा, दशावतार, जैसे–यश-गान, झांकियां, नाटक, रासलीला, रामलीला जैसे विभिन्न स्तर के लोक-नाट्य होते हैं। नि:सन्देह समस्त लोकप्रिय नाट्यों में ऐसी कुछ सामान्य मान्यताएँ हैं, जो समाज को एकसूत्र में बांधती हैं और सम्मिलित रूप में उन्हें एक व्यक्तित्त्व भी प्रदान करती है, अर्थात् व्यक्तित्त्व उभारने का अवसर देती है। समाज को पुरानी परम्पराओं से जोड़ती है। पुरातन काल की परम्पराओं से वर्तमान समाज को अवगत कराती है।

इन सभी नाट्य-रूपों की विषय-वस्तु और कथानक एक ओर तो मुख्यत: पौराणिक, धार्मिक और ऐतिहासिक स्रोतों से प्रमाण मिलते हैं तथा दूसरी ओर देखा गया है कि अपने-अपने क्षेत्र की तत्कालीन सामाजिक परिस्थितियों से सम्बन्धित हैं।

इन सभी नाट्य रूपों में बहुत कुछ संस्कृत नाटकों की कथागत, स्थानगत एवं रूपगत रूढ़ियों का निर्वाह मिलता है। परन्तु बहुत से लोक-नाट्यों की कथा का विकास इसी प्रसंग से सम्बन्धित संस्कृत नाटक जैसा ही है। रंग-रचना की दृष्टि से भी बहुत-सी बातें मिलती-जुलती हैं। ये सभी नाटक खुले रंगमंच (स्टेज) पर होते हैं। देश के भिन्न-भिन्न भागों के लोक-नाट्यों में आमतौर पर सामान्य विशेषताएँ मिलती-जुलती हैं। फिर भी धीरे-धीरे नाटक और रंगमंच के कलात्मक स्वरूप प्रभाव और सम्भावना में लगातार परिवर्तन हो रहे हैं। नाटकों ने सदियों से समाज को आनन्द और दक्षताओं को विकसित करने का अवसर प्रदान किया है। भिन्न-भिन्न कलाओं ने मानवाभिव्यक्ति को व्यक्त करने का रुचिकर अवसर प्रदान किए हैं। भारत देश की लोक-नाट्य परम्परा बहुत ही विविधातपूर्ण एवं समृद्ध है। इसमें एक ओर जहाँ संस्कृत घटक तथा रंगमंच के बहुत से तत्त्व अवशिष्ट हैं, वहीं दूसरी ओर सदियों से उसने देश की लोकधर्मी नाट्य-चेतना और रुचि को अपने भीतर संजोया हुआ है और जनसाधारण का मनोरंजन किया है। इसमें नाट्य-रचना और रंग प्रथा की ऐसी बहुत-सी पद्धतियां, रूढ़ियाँ तथा मान्यताएँ हैं, जो मूल रूप से कभी पुरानी नहीं पड़ती, अर्थात् उनका मूलरूप नहीं बदलता और जिनमें किसी भी देश तथा काल का रंगधर्मी प्रेरणा ले सकता है। लोक-नाटकों की विशेषताओं की रचना पुरानी होते हुए भी नयापन लिये हुए है। इससे प्राचीन को नवीनता में परिवर्तित करने का अवसर मिलता है। परम्पराएँ सर्वदा पीढ़ी-दर-पीढ़ी चलती रहती हैं। देश के जनसाधारण की रंगमंच चेतना को उजागर करने में लोक-नाटक बहुत ही लोकप्रिय हो रहे हैं। लोक-नाटकों से कला एवं दक्षताओं को विकसित करने में मदद प्राप्त होती है।

2. नृत्य-नाट्य (बैले)—ब्रज की आदि कालीन नृत्य एवं नाट्य कलाओं के प्रेरणा-स्रोत श्री कृष्ण थे। नृत्य का उत्कृष्ट रूप नृत्य-नाट्य है, जो वस्तुतः गायन, वादन, नृत्य एवं नाट्य कलाओं का संगम हैं। श्रीकृष्ण ने ब्रज की गोप-बालाओं के साथ जो नृत्य-नाट्य किया था, उसे 'रास' कहा गया है। आधुनिक विद्वानों का मत हैं, 'रास' शब्द कृष्ण-काल में प्रचलित नहीं था य उसका प्रचलन बहुत बाद में हुआ। 'रास' शब्द के सर्वाधिक प्रचार का श्रेय श्रीमद्‌भागवत की 'रास-पंचाध्यायी' को है, जिसकी रचना गुप्त काल से पहिले की नहीं मानी जाती है। कुछ विद्वान 'रास' का पूर्व रूप 'हल्लीसक' मानते है। 'रास' और 'हल्लीसक' पृथक्-पृथक् परंपराएँ थी।

जो बाद में एक-दूसरे से संबद्ध हो गई थीं। इस प्रकार श्रीकृष्ण के नृत्य-नाट्य का आरंभिक नाम 'हल्लीसक' नहीं था। उसके लिए सदा से 'रास' शब्द ही लोक में प्रचलित रहा है। ऐसा ज्ञात होता है 'रास' की पहिले मौखिक परंपरा थी, जो प्रचुर काल तक विद्यमान रही थी। उसी मौखिक और लोक प्रचलित शब्द को 'भागवतकार' ने साहित्य में अमर-कर दिया था।संस्कृत शब्द नृता (अभिनय) नृत (नाच) शब्द से उत्पन्न हुआ है, जो नाट्य-कला से सम्बन्धित है। नृत-नाट्य में पूरी कहानी (विषय) मंच पर केवल नृत द्वारा प्रस्तुत की जाती है। नृत या अभिनय या मूल संकेतों द्वारा नृत्य-नाटक में पूरी कहानी मूक होकर केवल नृत्य द्वारा ही प्रस्तुत की जाती है। इसमें नृत्य और वादन दो अंगों का ही समावेश होता है। इसमें संगीत नहीं होता। वे एक शब्द को भी अपने मुख से उच्चारित नहीं करते। नृत्य अथवा अभिनय में मूल संकेतों द्वारा आन्तरिक भावनाओं व भावों को स्पष्ट करने का सफल प्रयास किया जाता है। जैसे–कृष्ण लीला, सपेरा-नृत्य, सावन की हरियाली, हरेली दृश्य, नृत्य-नाटकों द्वारा दिखाए गए हैं।

यहाँ पश्चिमी नृत्य-नाट्य की तुलना में भारतीय नृत्य-नाट्य काफी पुराने है। भारतीय नृत्य-कला भावों से ओतप्रोत है और इसमें अभिनय तथा हस्तों की भाषा है। पश्चिमी नृत्य-नाट्य आँखों एवं हस्तों की भाषा को नहीं जानता। भारतीय नृत्य-नाट्य की जड़ें पौराणिक और धार्मिक गाथाओं में है और इनमें गहन आध्यात्मिकता है। **नेमिचन्द्र जैन** लिखते हैं–"नृत्य-नाट्य या बैले हमारे देश के लिए नया नाम है और एक प्रकार से यह परिकल्पना भी नई है। भारतीय रंग-परंपरा में कथाबद्ध नृत्य या संगीत नाटक या उसके दूसरे नामों से सम्मानित होता रहा है। कुंखजी नाटक बैले या नृत्य-नाट्य नाम उदयशंकर या उनकी प्रेरणा एवं प्रभाव में बनी कथाबद्ध नृत्य रचनाओं को दिया जाता रहा है। इस प्रकार नृत्य-नाटक को अब दो रूपों में विभक्त किया जाने लगा है–एक, परम्परा और दूसरा, आधुनिक परम्परागत नृत्य-नाटकों में कथकलि का स्थान सबसे महत्त्वपूर्ण है। कथकलि नृत्य-नाट्य मूलत: एक उत्कृष्ट शास्त्री नृत्य-परम्परा में आन्ध्र का कुचिपुरी नृत्य नाट्य, कर्नाटक का यशगान नृत्य-नाट्य, तमिलनाडु भागवत मेल तथा करंवजी नृत्य-नाट्य उल्लेखनीय है। कथकलि नाट्यशास्त्रीय नृत्य-परम्परा के रूप में अग्रसित हो रहा है। नि:सन्देह ये सब नृत्य-नाट्य रोचक एवं महत्त्वपूर्ण हैं, जिनके संरक्षण और परिसंस्कार प्रदर्शन का स्थान अधिक प्रमुख है।

वर्तमान काल में जीवन को प्रदूषणरहित करने और जीवन की अभिव्यक्ति को व्यक्त करने के लिए ऐसे नए नाट्य-रूपों के विकास की विशेष रूप से आवश्यकता है, जो देश की परम्परागत पद्धतियों के विभिन्न सूत्रों को नवीनता के साथ जोड़ सके तथा उसके द्वारा आधुनिक जीवन के भाव-बोध की प्रत्यक्ष सीधी अनुभूति को रूपांतरित किया जा सके। बैले–एक नवीनतम शैली को रवींन्द्रनाथ ठाकुर के नृत्य-नाटक की प्रेरणा तथा शुरूआत माना जाता है। इस विषय में **बलवन्त गार्गी** जी का कहना है, "रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने अपने जीवन के अन्तिम बीस वर्ष में (912-41) नृत्य-नाटक लिखें, उन्हें संगीतबद्ध किया और उनका मंच पर प्रदर्शन भी किया है।"

सही रूप में नृत्य-नाटय की प्रेरणा इस सदी के तीसरे दशक में उदयशंकर जी ने दिया। नाटककार, साहित्यकार उदयशंकर ने यूरोप में बैले का अध्ययन किया। बैले के आधार पर भारतीय नृत्य परम्परा में बैले बनाने का प्रयास किया। उन्होंने नृत्य-नाटक की एक नई शैली विकसित की, जिसमें भारत की शास्त्रीय तथा लोक-नृत्य परम्पराओं और पश्चिमी बैले पद्धति का समन्वय था। इस नृत्य-नाटक के माध्यम से आधुनिक जीवन के यथार्थ (वास्तविकता) को अभिव्यक्त कर सकते हैं।

समय-समय पर नृत्य नाटक को आधुनिकता के तौर पर प्रदर्शित करने की कोशिश की गई नृत्य-नाटक में आधुनिक यथार्थ को स्पष्ट करने की विशेषता है। नाटक समृद्धि, आनन्द और प्रसन्नता का प्रतीक है, जिसमें समाज की वास्तविकता को स्पष्ट किया जाता है। इसके लिए आज आवश्यकता है–हमारे नृत्य और नाट्य-चिन्तकों में सुस्पष्ट चिन्तन और साहसपूर्ण मार्गदर्शन की।

3. भारतीय संगीत नाटक– भारत के प्रमुख नाट्य-प्रकारों में मुख्य रूप भारतीय संगीत नाटक का रहा है। **बलवन्त गार्गी** जी का कहना है–"शताब्दियों से संगीत हमारे जीवन के हर कार्य पर छाया रहा है। बीजने-काटने में संगीत है। पीसने और छानने के लोग आवाज लगा-लगाकर और गा-गाकर चीजें बेचते हैं।" भारतीय संगीत परम्परा बहुत पौराणिक एवं धार्मिक है। प्राचीनकाल से संगीत को जीवन की खुशियों और आनन्द का आधार माना गया है। कोई भी उत्सव होता है तो संगीत नाटक के माध्यम से प्रस्तुत किया जाता है। जन्मोत्सव हो या विवाहोत्सव मनुष्य खुशी से झूमने लगता है। महिलाएँ एवं पुरुष मिलकर संगीत नाटक के माध्यम से प्रसन्नता जाहिर करते हैं। नृत्य और संगीत दोनों आकर्षक, मनमोहक अलग-अलग कलाएँ हैं, परन्तु नृत्य और संगीत को सामूहिक रूप से

प्रदर्शित करने से इनका महत्त्व एवं आकर्षण बहुत बढ़ जाता है। नृत्य संगीत और वाद्यो के समावेश से यह सर्वश्रेष्ठ कला सिद्ध हो रही है, जो मानव की संवेदना तथा अभिव्यक्ति को झकझोर देती है।

भारत में संगीत मूलक गेय नाटक का अभाव नहीं, बल्कि सम्पूर्णत: गेय नाटकों के यहाँ बहुत से प्रकार प्रचलित है। यथा-यशगान, स्वांग, नौटंकी, रासलीला, रामलीला, मवई, नाच, तमाशा, यात्रा आदि सम्पूर्णत: लोक-नाट्य एवं अंश रूप से संगीत मूलक नाटक है। संगीत नाट्य में कहानी के पात्रों का पारस्परिक संघर्ष और नाटक के भाव की अभिव्यक्ति केवल संगीत के माध्यम से होती है। साहित्यकार और कथावाचक गांवों की चौपाल या धर्मशाला में बैठकर प्राचीन वर्णनात्मक काव्य-गाथाओं को गाकर उनमें नाटकीय अंश उसी प्रकार व्यक्त करते हैं, जिस प्रकार चित्रकार रंग और ब्रुश के माध्यम से तथा मूर्तिकार शिला-पत्थर के माध्यम से। उसी प्रकार संगीत नाट्य का माध्यम केवल गायन (संगीत) ही है।

भारत के पुराने रंग-परम्परा संगीत नाटकों से युक्त होने के कारण यथार्थवादी रंगमंच की स्थापना की गई और उन्मुख होने के कारण भारतीय नाटककारों का ध्यान पिछले कुछ वर्षो से ही भारतीय संगीत नाटकों की ओर गया है। संगीत मूलक नाटक की रचना अथवा नाटक के प्रयोग के प्रयास में भी बार-बार भारतीय गीत नाटक को अपने निजी प्रकारों से किसी रचनात्मक सार्थकता और आधुनिक संवेदनशीलता के स्तर तक ले जाने का प्रयास नहीं किया गया। यहाँ तक कि संगीत नाटकों को जीवन्त आधुनिक रंगमंच का अंग बनाने की दिशा में भी अधिक प्रयत्न नहीं हो सका।

19वीं सदी तक भारत में संगीत नाट्य का प्रचलित रूप विदित नहीं था। अमानत (नाम) के इन्द्र सभा में ज्ञानियों और गीतों का मनोहर सुयोग नाट्य था। वर्तमान हिन्दी नाटकों की नींव यही से पड़ी और यही से संगीत मंच का चित्र उभरना प्रारम्भ हो गया। बीसवीं शताब्दी के पूरे दशक तक गीत भरे नाटक का विकास मूक नाटक से भिन्न रूप में हुआ। फिर धीरे-धीरे अनेक संगीत नाट्य लिखे और प्रस्तुत किए गए। **बलवन्त गार्गी** जी का कहना है-"जिस प्रकार नृत्य लिपिकारगण हमारे लोक-नृत्यों से बहुत कुछ ग्रहण कर रहे हैं, ऐसे संगीत नाटकों की उन्नति के लिए यह आवश्यक है कि संगीत की लोक-धुनों के भण्डार को अपनी कल्पना का स्थान समझकर प्रयोग में लाया जाए, इससे संगीत नाट्य भी अपने लिए वह स्थान बना सकेगा, जो नृत्यों-नाट्य ने बनाया है।"

हमारे देश में लोक-सम्पर्क विभागों की स्थापना की गई है। पूरे देश में जिला स्तर तब लोक-सम्पर्क विभाग स्थापित किए गए हैं, जो देश की लोक-कला और सृजनात्मक क्रियाओं के विकास में एवं प्रचार में सहयोग दे रहे हैं। लोक सम्पर्क विभाग अनेक उत्सवों, आयोजनों पर नृत्य-कला, संगीत नृत्य-कला, अभिनय कला का प्रदर्शन करके विभिन्न कलाओं के विकास में अनूठा योगदान हैं।

इस तरह लोक-कलाओं का मानव जीवन में बहुत महत्त्व है। लोक-कलाओं द्वारा स्वतन्त्र रूप से सामान्य लोगों को अभिव्यक्ति व्यक्त करने का अवसर मिलता है। मोनो-एक्टिंग माइम, अभिनय, नाटक, नृत्य-नाटक, संगीत-नाटक, लोक-नाटक इत्यादि सृजनात्मक क्रियाओं की दक्षता से ही मानव का विकास हो सकता है।

नाटक का प्रयोजन

प्रयोजनमूलक हिन्दी के संदर्भ में 'प्रयोजन' शब्द के साथ 'मूलक' उपसर्ग लगने से प्रयोजनमूलक पद बना है। प्रयोजन से तात्पर्य है उद्देश्य अथवा प्रयुक्ति। 'मूलक' से तात्पर्य है आधारित। अतः प्रयोजनमूलक भाषा से तात्पर्य हुआ किसी विशिष्ट उद्देश्य के अनुसार प्रयुक्त भाषा। इस तरह प्रयोजनमूलक हिन्दी से तात्पर्य हिन्दी का वह प्रयुक्तिपरक विशिष्ट रूप या शैली है जो विषयगत तथा संदर्भगत प्रयोजन के लिए विशिष्ट भाषिक संरचना द्वारा प्रयुक्त की जाती है। विकास के प्रारम्भिक चरण में भाषा सामाजिक सम्पर्क का कार्य करती है। भाषा के इस रूप को संपर्क भाषा कहते हैं। संपर्क भाषा बहते नीर के समान है। प्रौढा की अवस्था में भाषा के वैचारिक संदर्भ परिपुष्ट होते हैं और भावात्मक अभिव्यक्ति कलात्मक हो जाती है। भाषा के इन रूपों को दो नामों से अभिहित किया जाता है। प्रयोजनमूलक और आनन्दमूलक। नाटक-शिक्षण के अनेक उद्देश्य है, जिनमें निम्नांकित प्रमुख हैं–

(1) छात्रों में साहित्यिक सृजनात्मक शक्ति का विकास करना।
(2) छात्रों को विभिन्न प्रकार के मानव-आचरणों एवं चरित्रों से परिचित कराना।
(3) छात्रों को मानव-स्वभाव के व्यावहारिक रूप से परिचित कराना।
(4) छात्रों को वास्तविक जीवन के लिए तैयार करना।
(5) छात्रों में वक्तृत्व-कला को विकसित कर, उन्हें सार्वजनिक भाषण करने में झिझक से मुक्त कराना।

(6) छात्रों को मानव-जीवन तथा समाजगत परिस्थितियों से परिचित कराना।
(7) छात्रों को विभिन्न अवसरों के अनुकूल आचरण करना तथा वार्तालाप करना सिखाना।
(8) छात्रों को इतिहास एवं संस्कृति से परिचित कराना।
(9) छात्रों को स्वस्थ मनोरंजन कराना।
(10) छात्रों को भावानुसार तथा प्रभावकारी वाचन की कला में निष्णात करना।
(11) छात्रों को अभिनय कला से परिचित कराकर उसमें निष्णात करना।
(12) छात्रों में साहित्य के प्रति रुचि उत्पन्न करना।

महत्त्व और उपादेयता

नाटक की उपयोगिता एवं महत्व को निम्न बिन्दुओं द्वारा किया जा सकता है–

1. विभिन्न रुचियों की संतुष्टि का साधन–नाटक वह साहित्यिक साधन है, जिसके द्वारा मानव की विभिन्न रुचियों की संतुष्टि होती है। भरत मुनि के अनुसार ऐसा कोई ज्ञान, योग, विद्या, कला अथवा शिल्प नहीं है, जिसे नाटक के माध्यम से प्रस्तुत न किया जा सके। नाटक में कहीं धर्म, कहीं क्रीड़ा अर्थ, कहीं श्रम, कहीं हँसी, कहीं रुदन, कहीं काम तथा शृंगार के बहुरंगी फव्वारे छूटते रहते हैं। नाटक में वीर रस तथा रुद्र रस का निर्झर भी अपने पूर्ण वेग के साथ प्रवाहित होता है। अतः नाटक मानव की विभिन्न रुचियों की संतुष्टि का एक विशिष्ट साधन है।

2. कल्पना से अधिक वास्तविकता–नाटक में कल्पना के स्थान पर वास्तविकता अधिक होती है। इसलिए नाटक जीवन के अधिक निकट होता है। सच तो यह है कि इसमें वास्तविक जीवन ही रूपायित होता है।

3. लोकहित तथा लोकरंजन की भावना से पूर्ण–नाटक में लोकरंजन तथा लोकहित की भावना प्रमुख होती है। इससे दर्शकों तथा पाठकों का मनोरंजन होने के साथ-साथ उन्हें लोकहितकारी प्रेरणा तथा संदेश की प्राप्ति भी होती है।

4. कवित्व की चरम भाषा–नाटक कवित्व की चरम भाषा है। काव्य में वर्णित दृश्य अथवा अवस्था को मानविक रूप से समझा जा सकता है। इसके विपरीत नाटक में वर्णित दृश्य अथवा स्थिति को रंगमंच पर प्रत्यक्ष देखकर आनंद प्राप्त किया जा सकता है। इस आनंद को 'ब्रह्मानंद' का नाम दिया गया है।

5. शिक्षण का प्रभावकारी माध्यम–नाटक शिक्षण का एक प्रभावशाली साधन है। नाटक एक जीवंत श्रव्य-दृश्य उपादान है। आचरण तथा व्यवहार की शिक्षा नाटक के माध्यम से सर्वोत्तम ढंग से दी जा सकती है। इतिहास की शिक्षा तो नाटक के माध्यम से जीवंत तथा वास्तविक हो उठती है। आजकल टेलीविजन पर अभिनय द्वारा विभिन्न विषयों की शिक्षा प्रदान की जाने लगी है।

6. नाटक के गद्य, पद्य एवं मिश्रित रूप–नाटक गद्य, पद्य तथा मिश्रित तीनों रूपों में हो सकती है। शेक्सपियर, कालिदास जैसे महान् नाटककारों ने अपने नाटकों की रचना पद्य में की है। डी. एल. राय, सेठ गोविन्द दास, रामकुमार वर्मा तथा जयशंकर प्रसाद ने अपने नाटक मुख्य रूप से गद्य में लिखे हैं। उन्हें मिश्रित भी कहा जाता है।

7. जन-साधारण की वस्तु–नाटक जनसाधारण की वस्तु है। जब नाटक रंग मंच पर प्रस्तुत किया जाता है तब अच्छे-अच्छे मानव इसको सही मानने पर मजबूर हो जाते हैं और दर्शक उन्हें वाहवाही देते हैं। रंगमंच पर नाटक की दुरूहता समाप्त हो जाती है। वह जनसाधारण की पहुंच में आ जाता है तथा जन-साधारण आलोड़ित-बिलोड़ित हो जाती है। इस प्रकार नाटक जन-साधारण की वस्तु बन जाती है।

नाट्यकर्म के तत्त्व

नाटकों के संबंध में शास्त्रीय जानकारी को नाट्य शास्त्र कहते हैं। इस जानकारी का सबसे पुराना ग्रंथ भी नाट्यशास्त्र के नाम से जाना जाता है, जिसके रचयिता भरत मुनि थे। भरत मुनि का जीवनकाल 400 ईसापूर्व से 100 ई. के मध्य किसी समय माना जाता है।नाट्य मूलतः अभिनय व्यापार है। नाट्यकर्म का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण तत्त्व है अभिनय, जहाँ एक कलाकार द्वारा जीवनानुभवों की पुनः प्रस्तुति होती है। अभिनय ही वह जरिया है, जिससे नाटक की मूल संवेदना दर्शकों तक पहुँचती है। इसके मूलार्थ 'साक्षात्कारात्मक' रूप से नाट्य व्यापार को दर्शकों तक पहुंचाना या 'अभिनीयते इति अभिनयः' इन्हीं बातों की ओर इशारा करते हैं। फिर किसी सर्जक द्वारा नाटक की रचना अभिनीत करने के लिए ही तो की जाती है। अभिनेताओं को जिंदगी के अनुभवों की अधिकतम संभावनाओं को खोलना-खोजना होता है, इसीलिए नाट्य में एक कलाकार की साधना कई तरह की चुनौतियों से होकर गुजरती है।

रंगमंच शब्द का प्रयोग मुख्य तौर पर नाट्य-प्रदर्शन के लिए प्रयुक्त मंच, भवन या स्थान के लिए होता है। किन्तु यह इसका स्थूल अर्थ है। रंगमंच स्थिति या घटनाओं के नाटकीय प्रदर्शन के माध्यम से आनन्द में निमग्न करने की कला है। रंगमंच के समक्ष चुनौतियाँ हर दौर में रही हैं, भले ही इन चुनौतियों का रूप बदलता रहा हो। भरत ने जब नाट्यशास्त्र रचा तब भी ये थी, फिर भी उन्होंने अपने तरीके से उनसे टकराने का साहस किया था। आज के रंगकर्मी अपने तरीके से उनसे जूझ रहे हैं। आधुनिक थियेटर के सामने पहले सिनेमा ने चुनौती दी, फिर नए-नए माध्यम उभरते चले गए। लोगों की रुचियाँ बदली, वे रंगमंच से दूर होते चले गए। फिर भी रंगमंच जीवित है तो इसका श्रेय उसकी ताकत बने हुए निष्ठावान रंगकर्मियों को जाता है। वस्तुतः रंगमंच का कोई विकल्प नहीं है। यह हर दौर में अस्तित्त्व में रहा है और सदा रहेगा।

हिंदी रंगकर्म पिछले तीन-चार दशकों की सघन सक्रियता के बावजूद उस गति को नहीं पा सका है, जो अपेक्षित थी। महज मनोरंजन का माध्यम माने जाने की विडम्बना से गुजर रहा है, आज का रंगकर्म। जबकि यह उसी प्रकार का गम्भीर और उत्तरदायी माध्यम है, जैसे कविता, कहानी या उपन्यास। हिंदी प्रदेशों में इससे जुड़ी सामाजिक मान्यताएँ तोड़ी जाएँ, यह जरूरी है। आज बड़े पैमाने पर कलाकार रंगकर्म को सिने या टेली जगत् की सीढ़ी के रूप में इस्तेमाल कर रहे हैं तो यह अकारण नहीं है। रंगकर्म को व्यावसायिक आधार चाहिए, तभी प्रतिभा पलायन रुकेगा। चुनौतियों के बावजूद कई रंगकर्मी तमाम आकर्षणों को छोड़कर रंग जगत् से जुड़े हुए हैं। यह बहुत बड़ी बात है। कई सिने कलाकार ऐसे भी हैं, जो रंगमंच से अपना रिश्ता बनाये रखना चाहते हैं। वे मौका मिलते ही रंगमंच पर आने में पीछे नहीं रहते हैं। किसी भी श्रेष्ठ कलाकार के लिये रंगमंच स्वयं को सम्पूर्णता में व्यक्त करने का सशक्त माध्यम होता है। रंगमंच कलाकार को पूर्ण अनुभव देता है, जहां उसका अभिनय और दर्शकों की प्रतिक्रिया दोनों मिलकर एक वृत्त पूरा करते हैं। सिनेमा की तरह रंगमंच पर कोई रिटेक नहीं होता है और न खण्ड-खण्ड रंगानुभव। इसलिये सिनेमा या कोई अन्य माध्यम कभी रंगमंच की जगह नहीं ले सकेंगे।

आधुनिक दौर में नाट्य कला के अध्ययन, प्रशिक्षण और शिक्षण तकनीक की दिशा में पर्याप्त प्रगति हुई है। वस्तुतः रंगमंचीय कला मानवता की सार्वभौम अभिव्यक्ति की कला है, जिसका रिश्ता विश्व के बहुत बड़े मानव समूहों से है। इसी दृष्टि से एक स्वायत्त अन्तर्राष्ट्रीय संगठन की स्थापना 1948 में की गई,

जो इंटरनेशनल थियेटर इंस्टीट्यूट (यूनेस्को, पेरिस) के रूप में सुविख्यात है। इस संस्थान का उद्देश्य थियेटर कलाओं में ज्ञान और अभ्यास के वैचारिक आदान-प्रदान को बढ़ावा देना है। इस संस्था द्वारा नृत्य रंगमंच, संगीत रंगमंच, तृतीय विश्व के रंगमंच, नये थियेटर आदि के साथ ही रंग-शिक्षण को भी प्रोत्साहित किया जाता है। आज विश्व के कई देशों में इस संस्था की शाखाएँ क्रियाशील हैं, जो रंग प्रशिक्षण और नवाचार की दिशा में सराहनीय भूमिका निभा रही हैं।

हमारे देश में भी रंग प्रशिक्षण के जगत में अनेक विश्वविद्यालय और स्वतंत्र संस्थान सक्रिय भूमिका निभा रहे हैं। इनमें जयपुर, हैदराबाद, पुणे, मैसूर, बड़ौदा, कोलकाता आदि नगरों में स्थापित विश्वविद्यालयों के नाट्य विभाग शामिल हैं। नाट्य-शिक्षण संस्थाओं में 1959 में नई दिल्ली में स्थापित और 1975 से स्वतंत्र रूप से कार्यरत राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय (एन.एस.डी) का नाम विशेष उल्लेखनीय है। यह संस्था रंगमंच के सिद्धांत और व्यवहार-दोनों पक्षों पर बल देती है। संस्था द्वारा ड्रामेटिक्स में तीन वर्षीय डिप्लोमा पाठ्यक्रम संचालित किया जाता है, जिसके जरिये देश के कई ख्यातनाम रंगकर्मी तैयार हुए हैं। एन. एस.डी. के अलावा भारतेंदु नाट्य अकादमी, लखनऊ, इंडियन माइम थियेटर, कोलकाता, श्रीराम सेंटर फॉर परफोर्मिंग आर्टस, नई दिल्ली, रंगमंडल, भोपाल आदि भी लम्बे समय से थियेटर प्रशिक्षण में सक्रिय योगदान दे रहे हैं।

रंगकला और अभिनय के बदलते परिदृश्य को ध्यान में रखते हुए भारत के अधिकांश नाट्य प्रशिक्षण केंद्रों में भारतीय और पाश्चात्य दोनों नाट्य सिद्धान्तों, रंग-तकनीकों एवं अभिनय-पद्धतियों के अध्यापन और प्रयोग पर बल दिया जाता है। वस्तुत: अभिनय प्रशिक्षण की शुरूआत में एक कलाकार के लिए जरूरी होता है कि वह खुद एक स्थिति विशेष का निर्माण करें। फिर किसी सहयोगी के साथ काम करते हुए समन्वय और संबंधों की समस्या का समाधान करें। नाटक में अभिनय को सबसे अधिक महत्व दिया जाता है

नाट्य में अभिनय का काफी महत्व है। अत: अन्य रंग तत्त्वों, यथा ध्वनि, आलोकन, संगीत, मंच सामग्री आदि की सार्थकता तभी है जब वे अभिनय को आधार देने में अपना योगदान दें। किसी भी अभिनेता को इन तमाम रंग तत्त्वों के विषय में ज्ञान होना बहुत जरूरी है। तभी वह अपने अभिनय को समूचेपन के साथ प्रत्यक्ष कर पाएगा। अभिनय कला का विधिवत् प्रशिक्षण अभिनेता को इस कला के विभिन्न आयामों से तो परिचित कराता ही है साथ-ही-साथ वह

अलग-अलग माध्यमों जैसे फिल्म, धारावाहिक आदि के जरिये देखे गए अभिनय की नकल या फिर टाइप्ड होने से भी बच सकता है। अभिनय की तैयारी के लिए विभिन्न प्रकार के व्यायामों और अभ्यासों से एक अभिनेता अपने शरीर और मन पर प्रभावी नियंत्रण स्थापित कर सकता है, जिसके बिना एक चरित्र का सटीक निर्वाह असंभव है।

अभिनय कला की दृष्टि से भरत मुनि का नाट्यशास्त्र अनेक सूत्रों को समेटे व सँजोए हुए है। नाट्यशास्त्र ताल, लय और भावों की समझ के साथ ही शरीर-क्रिया एवं गति को समायोजित करने में काफी महत्वपूर्ण है। एक कलाकार स्थायीभाव, विभाव, अनुभाव और संचारी भावों के साथ ही अवस्थानुरूप अनुकृति एवं चारी विधान से नाट्यशास्त्र के चतुर्थ आयामी अभिनय की समझ विकसित कर सकता है। आंगिक अभिनय में अंग संचलन की गति, अंग-उपांगों की चेष्टाएँ एवं मुद्राओं का अभ्यास महत्त्वपूर्ण है, जिन पर भरत ने पर्याप्त प्रकाश डाला है। मनुष्य और मनुष्येत्तर प्रकृति या जीव की अलग-अलग गतियों का निरूपण भरत का नाट्यशास्त्र करता है। भरत ने वाचिक अभिनय में देश, काल और पात्र के अनुरूप भाषिक विधान किया है और बलाघात, स्वरालाप, काकु, विराम, 'वास-प्रश्वास की क्रिया आदि को भी महत्त्व दिया है, जिनके सूक्ष्म व्यवहार से वाचिक अभिनय प्रभावशाली बन सकता है। भरत ने आहार्य अभिनय में वेश-भूषा, अंग रचना, अलंकार आदि को विशेष महत्त्व दिया है। सात्विक अभिनव अपेक्षाकृत अधिक परिश्रम और अभ्यास की अपेक्षा करता है, तभी प्रसंग के अनुरूप अनुभाव साकार हो सकते हैं। इस क्रियाओं में अंगों का स्थिर हो जाना, मुँह का रंग उड़ जाना, कंपन, आवाज का बदलाव आदि प्रमुख हैं। अभिनय के ये आयाम दर्शक के मन के भाव को जाग्रत कर रस निष्पति तक ले जाते हैं।

20 वीं शताब्दी के प्रारंभिक यूरोपीय अभिनय प्रशिक्षण स्कूलों में स्तानिस्लाव्स्की, मेयर होल्ड, मिशेल चेखव आदि के सिद्धांत और अनुप्रयोग एक कलाकार को मनोवैज्ञानिक एवं जैव-यांत्रिकीय तैयारी और कल्पनाशीलता को निखारने के लिए उपयोगी हैं। स्तानिस्लाव्स्की पद्धति में दृष्टि, श्रवण, स्पर्श, गंध और स्वाद के बोध के साथ ही भावनात्मक स्मृतियों पर एकाग्र कराया जाता है। यह पद्धति एक पाठ को लेकर उसके उप-पाठों को अन्वेषित करने पर भी बल देती है, तभी नाट्य-संवेदना गहनतर हो सकती है। मेयर होल्ड की अभिनय पद्धति में जैव-यांत्रिकी पर विशेष नोट दिया जाता है। इस पद्धति को शारीरिक संतुलन, गति और विचार, लयात्मक सजगता, सह-अभिनेता और दर्शकों के साथ

अनुक्रियात्मकता आदि महत्व प्रदान करते हैं। चेखव की अभिनय पद्धति बिम्बों की कल्पना और समावेशीकरण, नाट्य वातावरण और वैयक्तिक अनुभूति, मनौवैज्ञानिक भाव-भंगिमा आदि की समझ विकसित करती है।

आजकल के अभिनय में गति और क्रिया पर आधारित अभ्यास, शारीरिक और भावात्मक स्तर पर खुलने के लिए क्रीडा एवं योग, कंठ अभ्यास, अवाचिक विस्तारण, संभाषण, पाठ-विश्लेषण, अभिनेता और चरित्र के शरीर के बीच संबंध के जरिए चरित्र की निर्माण-प्रक्रिया, दृश्य संरचना की समझ आदि अभ्यासों पर विशेष रूप से बल दिया जाता है। मानसिक योग्यता के लिए एकाग्रता और निरीक्षण, स्मृति और पुनः स्मरण, तार्किकता, कल्पनाशीलता, भावानुभूति आदि से जुड़े हुए अभ्यासों पर भी बल दिया जाता है। इसी तरह विविधायामी सम्प्रेषण और क्रियाओं को लेकर इम्प्रोवाइजेशन या आशु अभिनय के नए-नए अवसर भी एक अभिनेता को बेहतर बनाते हैं। अभिनय में मनो-शारीरिक क्रिया का सर्वोपरि महत्त्व है, जो अनुभूतियों को मंच पर साक्षात् ले आती है।

ब्रिटिश रंगकर्मी एडवर्ड हेनरी गार्डन क्रेग का चिंतन भी स्तानिस्लास्की की भांति अस्वाभाविकता के विरोध में पनपा है, किन्तु उसे सरल-सपाट ढंग की स्वाभाविकता स्वीकार नहीं थी। क्रेग ने एक अभिनेता की तुलना कठपुतली से की है। इनका मानना है कि कठपुतली मनुष्य से बेहतर है, जो अटपटे तर्कों और महत्त्वाकांक्षाओं से मुक्त होती है। क्रेग ने दृश्यबंधों पर भी पर्याप्त कार्य किया। उनकी अभिनय-पद्धति व्याख्यात्मक है, जिसमें अभिनेता चरित्र का यथावत् अभिनय न कर उसकी व्याख्या प्रस्तुत करता है।

मेयर होल्ड ने भी अभिनय का एक नया सिद्धांत स्टायलाइज्ड या रीतिवादी अभिनय का प्रतिपादन किया, मेयर का मानना है कि पारम्परिक थियेटर से दर्शक और अभिनेता के बीच के परदे को हटाये जाने की आवश्यकता है। उसके साथ ही उन्होंने तरह-तरह की चित्रावलियों और परदों का बहिष्कार कर दिया। वे कामेदिया देल आर्ते के प्रभाव नाटक में रीतिवादी अभिनय को लेकर आये, जहाँ निश्चित गतियों, प्रतीकों और घटना में अन्तर्निहित संयोजनों का अभिव्यंजनात्मक ढंग से प्रस्तुतीकरण होता है। इसी रीतिवादी अभिनय को बाद में अभिव्यंजनावाद के नाम से जाना गया, जहाँ मुखौटों का प्रयोग भी किया जाता है। इस तरह प्राचीन रंगमंच की विशिष्ट युक्तियाँ नये रूप-रंग में लौटने लगीं और उनके महत्व में भी वृद्धि होने लगी।

विश्व प्रसिद्ध रंगकर्मी बर्टोल्ट ब्रेख्त ने रंगमंच की प्रचलित रूढ़ियों को तोड़कर एक नये ढंग के रंगमंच की परिकल्पना की, जहाँ अभिनय के एक नये सिद्धांत ने जन्म लिया। ब्रेख्त ने अभिव्यंजनावाद से शुरूआत की थी, बाद में वे तटस्थतावादी अभिनय-सिद्धांत के जनक बने। वे एक अभिनेता से अपेक्षा करते हैं कि वह किसी भी भूमिका को करते हुए अपने व्यक्तित्त्व को भी बनाये रखे। इस तरह वह चरित्र के रूप में पूरी तरह विलीन न होकर अभिनय करता रहे। इस अभिनय को उन्होंने महाकाव्योचित अभिनय का नाम दिया। उनका तर्क है यह मूर्त और तथ्यात्मक प्रक्रिया किसी अरण के पीछे छिपी नहीं रहती अर्थात् अभिनेता खुद रंगमंच पर हमारे सामने खड़ा होकर दिखता है। वे अपेक्षा करते हैं कि अभिनेता यह निरन्तर दर्शाता चले कि वह चरित्र न होकर, उस चरित्र का अभिनय कर रहा है।

पश्चिम में अभिनय की एक और प्रणाली विसंगतिमूलक या ऊल-जलूल अभिनय पद्धति के रूप में भी आई, जिसका संबंध एब्सर्ड थियेटर से है। यह रंगमंच मानकर चलता है कि जीवन की तमाम विसंगतियों को प्रस्तुत करने में यथार्थवादी ढंग से काम नहीं चल सकता। उसे तो विसंगतिपूर्ण व्यवहार से ही बेहतर ढंग से दिखाया जा सकता है। सेम्युअल बेकेट, आयनेस्को जैसे नाटककारों ने इस नाट्य-रूप से विसंगतिपूर्ण जीवन को सारहीन क्रम में जोड़कर निर्लिप्त ढंग से उसे पेश कर इस अभिनय-पद्धति को जन्म दिया था, जो स्वतंत्र या किसी न किसी रूप में अन्य रंग पद्धतियों में भी प्रयुक्त हो रही है।

हिंदी रंगमंच प्रयोग और परंपरा

हिंदी रंगमंच से अभिप्राय हिंदी और उसकी बोलियों के रंगमंच से है। हिन्दी रंगमंच की जड़ें रामलीला और रासलीला से आरम्भ होती हैं। हिन्दी रंगमंच पर संस्कृत नाटकों का भी प्रभाव है। भारतेन्दु हरिश्चंद्र हिन्दी रंगमंच के पुरोधा हैं।

हिंदी रंगमंच संस्कृत, लोक एवं पारसी रंगमंच की पृष्ठभूमि का आधार लेकर विकसित हुआ है। ध्यातव्य है कि भरतमुनि ने नाट्यशास्त्र में नाट्य' शब्द का प्रयोग केवल नाटक के रूप में न करके व्यापक अर्थ में किया है, जिसके अंतर्गत रंगमंच, अभिनय, नृत्य, संगीत, रस, वेशभूषा, रंगशिल्प, दर्शक आदि सभी पक्ष आ जाते हैं।

भारत में संस्कृत रंगमंच के पृष्ठभूमि में चले जाने के बाद भी लोक रंगमंचों की परंपरा अत्यंत सुदृढ़ रही। नौटंकी, रासलीला,रामलीला, स्वांग, नकल, खयाल, यात्र, यक्षगान, नाचा, तमाशा आदि लोकप्रिय लोक – नाट्य रूप रहे हैं। इसी प्रकार पारसी रंगमंच की भी हिंदी रंगमंच के विकास में ऐतिहासिक भूमिका है। बलवंत गार्गी हिंदी रंगमंच का सूत्रपात पारसी रंगमंच से ही मानते हुए कहते हैं कि " जिस समय बंगाल में 1870 में व्यावसायिक थिएटर की नींव रखी जा रही थी, तब कुछ पारसी मुंबई में नाटक और ललित कलाओं में रुचि लेने लगे।

परिणाम यह हुआ कि पारसियों ने व्यवसायिक हिंदी नाटक की स्थापना करने में पहल की इस बात का समर्थन प्रसिद्ध नाट्य समीक्षक नेमिचंद्र जैन तथा अन्य विद्वान भी करते हैं।

हिंदी रंगमंच का प्रारंभ 1853 ईसवी में नेपाल के माटगांव में अभिनीत' विद्याविलाप' नाटक से माना जाता है। किंतु यह नेपाल तक ही सीमित रह गया। वस्तुत: हिंदी रंगमंच का नवोत्थान 1871 ईसवी में स्थापित 'अल्फ्रेड नाटक मंडली' से हुआ। जिसने भारतेंदु, राधाकृष्ण दास के नाटकों का मंचन प्रस्तुत किया।

राधेश्याम कथावाचक इस मंडली के प्रमुख नाटककार थे। इस मंडली के मंच पर स्त्री चरित्रों की भूमिका पुरुष पात्र ही किया करते थे, इसी बीच कोलकाता के 'मॉर्डन थिएटर' ने मुंबई की 'पारसी रंगमंच' की 'इम्पीरियर' आदि अनेक नाटक कंपनियों को खरीदकर कोलकाता को रंगमंच का केंद्र बना दिया।

इन संस्थाओं के एकीकरण के कारण नारायण बेताब, आगा हश्र, तुलसीदत्त शैदा, हरिकृष्ण जौहर आदि अनेक नाटककारों का संगम स्थल कोलकाता का 'मॉडर्न थिएटर' हो गया। मुंबई और कोलकाता के इन रंगमंच के एकीकरण में हिंदी रंगमंच के विकास में अभूतपूर्व योगदान दिया।

हिंदी में अव्यवसायिक रंगमंच का सूत्रपात 1868 ईस्वी में बनारस थिएटर के साथ हुआ। 1884 में बनारस में 'नेशनल थियेटर' की स्थापना हुई। भारतेंदु के अंधेर नगरी का प्रथम मंचन नेशनल थियेटर में ही किया था।

हिंदी रंगमंच के विकास में 'भारतेंदु नाटक मंडली' (1906) की भूमिका महत्वपूर्ण मानी जाती है।इस मंडली ने लगभग डेढ़ दर्जन नाटकों का मंचन किया जिसमें 'सत्य हरिश्चंद्र' , 'सुभद्रा हरण' , 'चंद्रगुप्त', 'स्कंदगुप्त', 'ध्रुवस्वामिनी' प्रमुख है। इस नाटक मंडली ने भारतेंदु युगीन नाटकों के साथ – साथ प्रसाद के

नाटकों को भी सफलतापूर्वक मंचित कर हिंदी के अपने स्वतंत्र रंगमंच के विकास का मार्ग प्रशस्त किया।

जयशंकर प्रसाद के नाटकों को मंचित कर इस संस्था ने सिद्ध किया कि प्रसाद के नाटक पूर्णत: अभिनेय है। आगे चलकर काशी हिंदू विश्वविद्यालय की 'विक्रम परिषद' की स्थापना 1939 ईस्वी में हुई थी। इसने नाटकों में स्त्री पात्र के लिए स्त्रियों द्वारा ही अभिनय की परंपरा डाली।

हिंदी रंगमंच के विकास में' बलिया नाट्य समाज' (1884) की भूमिका भी ऐतिहासिक मानी जाती है। 1884 ईसवी में यही पर भारतेंदु ने नाटक पर एक लंबा व्याख्यान दिया था। उसी समय 'सत्य हरिश्चंद्र' तथा' नीलदेवी' नाटकों का मंचन किया गया था। उसी समय भारतेंदु ने हरिश्चंद्र की भूमिका निभाई थी। इस नाटक के मंचन को उस क्षेत्र में अपार लोकप्रियता प्राप्त हुई थी। इस संदर्भ में गोपालराम गहमरी ने लिखा है कि "पात्रों का शुद्ध उच्चारण हमने उसी समय हिंदी में नाटक स्टेज पर सुना था।"

हिंदी रंगमंच के विकास में काशी के पश्चात इलाहाबाद के रंगमंच यो का महत्वपूर्ण योगदान रहा है। यहां के महत्वपूर्ण नाट्य मंच 'आर्य नाट्य सभा', 'श्री राम लीला नाटक मंडली' तथा 'हंदी नाट्य समिति' थे। कानपुर की संस्थाओं ने भी हिंदी रंगमंच को आगे बढ़ाने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है।

यहां के प्रमुख नाट्य मंच है – 'भारत नाट्य समिति' और 'भारतीय कला मंदिर' वर्तमान समय में कानपुर की 'कानपुर अकादमी ऑफ ड्रामेटिक आर्ट्स' तथा 'एंबेसडर' संस्थाएं समकालीन नाटकों के मंचन में महत्वपूर्ण भूमिका निभा रही है। बिहार में 'पटना नाटक मंडली' (1876) तथा' अमेच्योर ड्रामेटिक एसोसिएशन' उल्लेखनीय नाट्य मंच रहे है।

हिंदी रंगमंच का विकास

भारतेंदु युग

भारतेंदु युग में व्यापक पैमाने पर न सिर्फ नाट्य – लेखन हुआ बल्कि उनके मंचन के लिए भी प्रेरणा मिली। स्वयं भारतेंदु नाट्य लेखन एवं अभिनय के केंद्र में एक संस्था की तरह कार्यशील थे। भारतेंदु से पूर्व भी पारसी रंगमंच व्यवसायिक स्तर पर सक्रिय था। भारतेंदु ने सक्रिय होकर पारसी रंगमंच के समानांतर एक अव्यवसायिक रंगमंच का आरंभ किया।

भारतेंदु ने हिंदी रंगमंच के विकास में परंपरा और आधुनिकता का समन्वय करते हुए संस्कृत नाट्य परंपरा के महत्वपूर्ण तत्त्वों को लोक नाट्य परंपरा के साथ समन्वित करते हुए अपनी विशिष्ट प्रतिभा से हिंदी के अपने रंगमंच के विकास को तीव्र गति प्रदान की। उन्होंने पश्चिम की ग्रीक परंपरा को भी सीमित मात्रा में समाविष्ट किया। भारतेंदु ने अपने नाटकों को अधिकाधिक अभिनेय बनाए जाने पर बल दिया। उन्होंने अपने नाटकों में पात्र योजना, भाषा, संवाद योजना में रंग संकेतों के माध्यम से अभिनेता का भी ध्यान रखा।

पारसी थियेटर

आज क्या बात अधिक उदारता से स्वीकार की जाने लगी है कि हिंदी रंगमंच के विकास में पारसी रंगमंच की भूमिका को कम करके नहीं आंका जा सकता। पारसी थियेटर शुद्ध व्यवसायिक थियेटर था, इसलिए उसने अपनी मौलिक रंग पद्धतियों का विकास किया। इसमें अंग्रेजी की तुलना में भारतीय लोक रंग, शेरो - शायरी, उर्दू मिश्रित संवाद, भावुकता का आवेग, अतिनाटकीयता, गीत-संगीत की बहुलता, नृत्य, चमत्कारिक, ध्वनि-प्रभाव आदि पर अत्यधिक बल दिया गया। लक्ष्मीनारायण लाल लिखते हैं" आगा हश्र, राधेश्याम कथावाचक कि नारायण बेताब के नाटक पूरे हिंदी भाषी क्षेत्र के दशक के लिए आकर्षण केंद्र थे।"

पारसी रंगमंच की मूल विशेषताएं निम्नलिखित थी –

1. रंगमंच को व्यवसायिक रूप देकर प्रतिष्ठित करना और वेतन आधारित अभिनेताओं से कार्य कराना अर्थात रंगकर्म की स्वतंत्र सत्ता स्थापित करना।
2. पूरी हिंदीभाषी जनता से संरक्षण प्राप्त करना और साहित्य व रंगमंच की दूरी को समाप्त करना।
3. रंगमंच की प्रवृत्ति के अनुकूल भाषा एवं अभिनय शैली पर बल देना।

द्विवेदी युग एवं छायावाद युग राष्ट्रीय आंदोलन के विकास के चरण थे जिसमें राष्ट्रीय संस्कृति एवं मर्यादा पर अधिक बल होने के कारण पारसी रंगमंच की व्यवसायिक पद्धतियों की तीव्र भर्त्सना की गई। लक्ष्मीनारायण लाल के शब्दों में " हिंदी ने अतिशुद्धि एवं अर्थ - भावना के कारण पारसी रंगमंच को हिंदी का अपना नहीं माना और रंगमंच दर्शक, रंगमंच - नाटक, विषयवस्तु - नाटक, पाठक - दर्शक, व्यवसाय - साहित्य के बीच करीब पचास वर्षों का भयानक अंतराल पैदा कर दिया। "

किंतु पारसी रंग शैली को जनमानस में इतनी लोकप्रियता प्राप्त थी कि उससे भारतेंदु एवं प्रसाद अप्रभावित नहीं रह सके। दोनों ने पारसी रंगमंच की प्रतिक्रिया में लिखा लेकिन दोनों ने उसकी रंग – शैली, अभिनय – शैली और गीत संगीत के प्रभावों को जाने अनजाने ग्रहण किया है।

प्रसाद की नाट्य दृष्टि और हिंदी रंगमंच का विकास

प्रसाद के समक्ष मूल चुनौती हिंदी में गंभीर ऐतिहासिक सांस्कृतिक नाटकों की अनुपस्थिति की थी। उन्होंने गंभीर साहित्य नाट्य लेखन पर बल दिया एवं रंगमंच को निर्देशक एवं अभिनेता की प्रतिभा पर छोड़ दिया। उन्होंने साफ तौर पर कहा कि "नाटक के लिए रंगमंच होना चाहिए न कि रंगमंच के लिए नाटक" तब भी, उनके नाटकों में पर्याप्त रंग संकेत उपलब्ध हैं। पारसी रंगमंच की रंग पद्धतियों को अस्वीकार करते हुए भी प्रसाद ने उनसे पर्याप्त प्रभाव ग्रहण किया है। प्रसाद के नाटकों में कई जगह अतिनाटकीयता एवं गीतों की बहुलता पूर्णत: पारसी रंगमंच के प्रभाव से है। प्रसाद ने पाश्चात्य रंग परिकल्पना से भी प्राप्त प्रभाव ग्रहण किया है, वस्तुत: नाटकों का वृहदाकार पात्रों की बहुलता, देशकाल का विस्तार, युद्ध, मृत्यु जैसे दृश्यों का समावेश पाश्चात्य नाट्य परंपरा से ही प्रेरित है।

प्रसाद शेक्सपियर एवं बर्नार्ड शॉ के नाटकों से प्रभावित थे। दर्शकों की सांस्कृतिक अभिरुचियों के परिष्कार पर बल रखने के कारण प्रसाद जी ने भारतीय नाट्यशास्त्र से भी अनेक तत्त्वों को ग्रहण किया है। नि:संदेह हिंदी रंगमंच के विकास में प्रसाद की नाट्य दृष्टि की भूमिका को कम नहीं किया जा सकता।

यह सही है कि अपनी कई संरचनात्मक विशेषताओं जैसे पात्र – बाहुलता, कठिन दृश्य योजना, अवांतर कथाओं की उपस्थिति, दर्शन के प्रक्षेपण आदि की वजह से प्रसाद के नाटक प्राय: अभिनेयता के गुण से वंचित माने जाते हैं, किंतु कई रंग निर्देशकों जैसे इब्राहिम अल्काजी ने कहा है कि यह प्रसाद की नहीं, हिंदी रंगमंच की कमी है कि वह प्रसाद के नाटकों के लिए अपेक्षित प्रयोगशीलता का प्रदर्शन नहीं कर सका। आगे चलकर मोहन राकेश ने भारतेंदु एवं प्रसाद की नाट्य दृष्टियों के समन्वय के आधार पर ही हिंदी के अपने स्वभाविक सांस्कृतिक रंगमंच के विकास पर बल दिया।

इप्टा

इप्टा अर्थात 'इंडियन पीपल थिएटर एसोसिएशन' का जन्म देश की आजादी की लड़ाई और विश्वव्यापी फासीवाद विरोधी आंदोलन के गर्भ से हुआ था। इसकी स्थापना 25 मई 1943 को मुंबई में हुई थी। इसका नामकरण रोमा रौंला की पुस्तक 'पीपल थिएटर' के आधार पर किया गया था। सन 1943 - 47 के दौरान इप्टा की गतिविधियां अत्यधिक लोकप्रिय एवं देशव्यापी होने लगी थी।

इन समूह ने प्रगतिशील नाटकों के मंचन पर बल दिया। इसने लोक मंच के तत्त्वों को आत्मसात करते हुए नुक्कड़ नाटकों के मंचन को भी लोकप्रिय बनाया। हिंदी, उर्दू एवं अन्य भारतीय भाषाओं के भी सभी प्रगतिशील एवं वामपंथी लेखक, साहित्यकार, बुद्धिजीवी या तो प्रत्यक्षता इससे जुड़े थे या अप्रत्यक्ष रूप से इसके प्रशंसक थे।

आजादी के बाद भी 1960 तक सैकड़ों प्रगतिशील नाटकों का मंचन इप्टा द्वारा किया गया। अली सरदार जाफरी, कैफी आजमी, राजेंद्र रघुवंशी, रामविलास शर्मा, रांगेय राघव, ख्वाजा अहमद अब्बास, उपेंद्रनाथ अश्क जैसी महान हस्तियां इप्टा से जुड़ी थीं। बलराज साहनी इप्टा के एक महत्वपूर्ण अभिनेता थे। हिंदी रंगमंच को आम जनता के साथ जोड़े रखने में इप्टा की भूमिका ऐतिहासिक मानी जाती है एक ठहराव के बाद आज भी इप्टा समकालीन रंगमंच पर अपनी सक्रियता बनाए हुए हैं।

पृथ्वी थिएटर

1944 में पृथ्वीराज कपूर ने 'पृथ्वी थिएटर' की नींव रखी। फिल्म से कमाई अपनी सारी आमदनी उन्होंने इस थिएटर में लगा दी। इसकी स्थापना कर उन्होंने हिंदी रंगमंच को एक राष्ट्रीय स्वरूप प्रदान किया, साथ ही इप्टा के साथ सहयोग करते हुए हिंदी रंगमंच की सामाजिक भूमिका को भी पहचाना और स्पष्ट किया। प्रख्यात जन कवि और नाटककार शील ने पृथ्वी थिएटर को देश का राष्ट्रीय हिंदी रंगमंच मानते हुए पृथ्वीराज कपूर को सांस्कृतिक योद्धा बताया। 16 वर्ष तक पृथ्वी थिएटर ने पूरे भारत में नाटक मंचित किए इसमें कुल 8 नाटक थे - 'शकुंतला', 'दीवार', 'पठान', 'आहुति', 'कलाकार', 'पैसा', 'किसान',' दत्ता' इनमें कुल रंग सदस्यों की संख्या 80 से 90 थी।

इसका वार्षिक बजट तीन से चार लाख रुपए का था और एक लाख रुपये की सहायता सरकार से मिलती थी। इस थियेटर ने देशभर में अपनी प्रस्तुतियां दी। पृथ्वी थिएटर पारसी थियेटर के बाद ऐसा नाटक समूह था जो अपने नाट्य दल, रंग – सज्जा तथा रंग उपकरण के साथ उत्तर एवं दक्षिण भारत के सभी क्षेत्रों में यात्रा करता एवं प्रस्तुतियां देता था। इसमें पृथ्वीराज के अतिरिक्त जोहरा सहगल, राज कपूर, शम्मी कपूर, प्रेमनाथ, सुदर्शन सेठी और श्रीराम महत्वपूर्ण कलाकार थे। इनके नाटकों में साम्राज्यवाद विरोध, सामंतवाद विरोध, पूंजीवाद, के विकृत रूपों का विरोध, हिंदू – मुस्लिम एकता आदि महत्वपूर्ण विषय होते थे।

पृथ्वी थिएटर आज भी सक्रिय है कपूर परिवार की संजना कपूर पृथ्वी थिएटर का संचालन आज भी पूरी प्रतिबद्धता एवं व्यवसायिकता के साथ कर रही है। इस समूह में अखिल भारतीय नाट्य उत्सव का आयोजन किया था मुंबई और दिल्ली में आज भी यह समूह प्रतिवर्ष नाटकों का आयोजन करता है।

मोहन राकेश और हिंदी रंगमंच का विकास

मोहन राकेश की रंग – दृष्टि हिंदी रंगमंच के विकास में मील का पत्थर साबित करती है, उन्होंने पश्चिमी रंगमंच से पृथक हिंदी के नए एवं मौलिक रंगमंच की खोज करने का प्रयास किया। जहां पश्चिम का रंगमंच दृश्य – योजना और तकनीकी पर आधारित है उन्होंने हिंदी के लिए ऐसा रंगमंच बनाने की कोशिश की जो मानव तत्त्व और शब्द तत्त्व पर आधारित हो, ताकि कम से कम संसाधनों के साथ संश्लिष्ट से संश्लिष्ट प्रयोग किए जा सके।

अपने पहले नाटक 'आषाढ़ का एक दिन' की भूमिका में उन्होंने हिंदी के मौलिक रंगमंच के उद्देश्य की चर्चा की है वह लिखते हैं " हिंदी रंगमंच को हिंदी भाषी प्रदेश की सांस्कृतिक मूर्तियों और आकांक्षाओं का प्रतिनिधित्व करना होगा, रंगों और राशियों के हमारे विवेक को व्यक्त करना होगा। हमारे दैनंदिन जीवन के राग भिन्न रंग को प्रस्तुत करने के लिए हमारे संदेशों और स्तंभों को अभिव्यक्त करने के लिए जिस रंगमंच की आवश्यकता है, वह पाश्चात्य रंगमंच से कहीं भिन्न होगा।"

अपनी इसी रंग – दृष्टि को मोहन राकेश ने अपने सभी नाटकों 'आषाढ़ का एक दिन', 'लहरों के राजहंस' तथा' आधे अधूरे' में प्रयुक्त किया। यह रंग – दृष्टि मंच पर इतनी अधिक सफल रही कि इसमें हिंदी नाटक रंगमंच के नए

मुहावरे गढ़ दिए। सिर्फ एक दृश्य के माध्यम से नाटक के सभी अंगो की प्रस्तुति, मंचीय संवादों के अतिरिक्त नेपथ्य से बहुत सी ध्वनियों का सार्थक प्रयोग, अभिनेताओं की आंगिक चेष्टाओं के माध्यम से अकथनीय को भी कह देने की ताकत जैसी विशेषताओं ने मोहन राकेश की रंगमंचीय प्रयासों को यह अभूतपूर्व सफलता दिलाई।

राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय

भारत में रंगमंच के विकास को देखते हुए संगीत नाटक अकादमी द्वारा अप्रैल 1959 में 'राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय' की स्थापना की गई। इस विद्यालय ने न सिर्फ देश की महत्वपूर्ण रंग प्रतिभाओं, निर्देशकों, अभिनेताओं को जन्म दिया है, बल्कि हिंदी के नाटकों के मंचन एवं रंगमंच के विकास में 1960 के बाद ऐतिहासिक दायित्व निभाया है।

इस विश्वविद्यालय में रंग-मंडल की स्थापना 1964 ईस्वी में की गई जो उसका प्रदर्शन विभाग है। रंग-मंडल ने शैलीगत संगीत से लेकर भारतीय नाट्य की समकालीन कृतियों, अनुवादों और विदेशी भाषाओं के नाटकों के नाट्य रूपांतरण की 200 से अधिक प्रस्तुतियां की है। रंग- मंडल के साथ राष्ट्रीय व अंतरराष्ट्रीय ख्याति के प्रमुख रंग निर्देशकों ने काम किया है। रंग-मंडल भारत के मुख्य शहरों में प्रस्तुतियां तो करता ही है इसने विदेशों में भी कई प्रदर्शन किए हैं।

इसके प्रथम निर्देशक 'इब्राहिम अल्काजी' ने हिंदी नाटक और रंगमंच को नगण्य और उपेक्षित स्थिति से ऊपर उठाकर बड़े फलक पर प्रतिष्ठित करने का उल्लेखनीय कार्य किया, लेकिन कुछ नाट्य आलोचकों का मानना है कि राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय पर पाश्चात्य रंग शैलियों का प्रभाव कुछ ज्यादा ही है। भारतीय नाटक की शास्त्रीय परंपरा और हिंदी प्रवेश की लोक परंपराओं की इसके द्वारा कई बार उपेक्षा हुई है। किंतु आधुनिक तकनीकों, प्रकाश एवं ध्वनि के इस्तेमाल में हिंदी रंगमंच के विकास को अंतरराष्ट्रीय स्तर प्रदान किया है। प्रसाद के जिन नाटकों को अनभिनेय माना जाता था उनका सफल प्रदर्शन तकनीकी सामग्रियों के कारण संभव हो सका।

1999 ई. में मैं स्वर्ण जयंती के अवसर पर 'राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय 'ने भारत रंग - महोत्सव का आयोजन प्रारंभ किया। इस महोत्सव में विभिन्न राज्यों की राष्ट्रीय स्तर की प्रस्तुतियों को 'राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय' के सभी मंच पर

प्रस्तुत किया जाता है। इन परिस्थितियों के कारण हिंदी रंगमंच पर अखिल भारतीय स्वरूप के विकास एवं संगठन में मदद मिली है।

कहना न होगा कि सांस्कृतिक औद्योगीकरण एवं कलाओं के तीव्र व्यवसायीकरण के दौर में हिंदी रंगमंच को संभाले एवं संगठित रखने में राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय की भूमिका ऐतिहासिक है।

अन्य संस्थाएं

आजादी के बाद हिंदी रंगमंच का व्यापक विस्तार हुआ प्रशिक्षित रंगकर्मियों के द्वारा प्रशिक्षण शिविरों और नाट्य प्रस्तुतियों ने अनेक नाटक संस्थाओं को जन्म दिया। दिल्ली में 'श्रीराम सेंटर' ने हिंदी रंगमंच के विकास में ऐतिहासिक भूमिका निभाई है। हिंदी रंगमंच के केंद्र दिल्ली के साथ-साथ उत्तर भारत के अन्य शहरों में भी फैलने लगे एवम नई प्रतिबद्धता के आधार पर नई-नई रंगमंच टोलियों का संगठन होने लगा। 'अभियान', 'देशांतर', 'थिएटर यूनिट', 'नया थिएटर', 'अनामिका', 'जननाट्य मंच', 'प्रयोग', 'दर्पण', 'रुपांतर', 'मेघदूत', 'प्रतिध्वनी' आदि अनेक संस्थाओं ने हिंदी रंगमंच की नींव को मजबूत किया।

वस्तुतः 1960 - 70 का समय रंगकर्म में क्रांति लहर की तरह था। सर्वश्रेष्ठ हिंदी नाटक इसी समय में रचे गए एवं मंचित हुए। आगामी रंगकर्म की पीठिका इसी समय तैयार हुई और भारतीय भाषाओं के नाट्य अनुवाद हिंदी रंगमंच पर और हिंदी नाटक भारतीय रंगमंच पर प्रस्तुत होने लगे। 'अभियान' और 'देशांतर' ने एक दशक तक हिंदी रंगमंच को कई सार्थक प्रस्तुतियां प्रदान की।

इसी समय में बहुत से अभिनेता, निर्देशक और विशिष्ट कलात्मक प्रतिभा के कारण प्रतिष्ठित हुए उदाहरण के लिए ओम शिवपुरी, सुधा शिवपुरी, कारंत, मोहन महर्षि, मनोहर सिंह, रामगोपाल बजाज, सुरेखा सीकरी, जोहरा सहगल आदि ने अभिनय निर्देशन व नाट्य लेखन के क्षेत्र में कीर्तिमान स्थापित किए।

हिंदी रंगमंच के विकास में हबीब तनवीर एवं उनकी नाट्य संस्था 'नया थियेटर' की ऐतिहासिक भूमिका है। उन्होंने अपने नाटकों की प्रस्तुति के माध्यम से हिंदी रंगमंच को लोक परंपराओं से संपर्क करते हुए उसे विश्व रंगमंच पर भी प्रतिष्ठा दिलाई।

1967 से 1977 तक का समय हिंदी नाटक और रंगमंच का अत्यंत सक्रियता और गतिविधियों से भरपूर रहा रंगकर्म की तीव्र गति प्रयोगशीलता और उत्साह ने नवीन कृतियों में नवीन संभावनाओं की तलाश की और विभिन्न देशी

– विदेशी कृतियों के अनुवादों और उसके नाट्य रूपांतरण पर ध्यान केंद्रित हुआ। बंगाल, मराठी, गुजराती, कन्नड़, तेलुगू, मलयालम के साथ-साथ फ्रेंच, जर्मनी, अंग्रेजी, रूसी आदि भाषाओं की श्रेष्ठतम नाट्य कृतियों के अनुवाद तीव्र गति के साथ शुरू हुए जिससे दूसरी भाषाओं की नाटक कृतियां और शैलियां हिंदी नाटक और रंगमंच पर आई।

हिंदी रंगमंच के विकास में नुक्कड़ नाटक की भूमिका

छठे दशक में ही हिंदी रंगमंच को भारतीय रंगमंच में छाए पश्चिमी थिएटर के प्रभावों के विरुद्ध अपनी परंपराओं की ओर लौटने की जरूरत महसूस हुई आम जनता तक और अधिक व्यापक पहुंच सुनिश्चित करने हेतू और एक आम बोलचाल की भाषा में जनसमस्याओं को संबोधित करने की जरूरत ने नुक्कड़ नाटकों के प्रयोग को अपरिहार्य बना दिया। ब्रेख्त और ग्रोटोवस्की के विचारों और पश्चिम के 'स्ट्रीट थिएटर' में भी हिंदी में नुक्कड़ नाटकों के मंचन को प्रेरणा प्रदान की।

देशव्यापी परिस्थितियों के बदलने से आम जनता के शोषण में वृद्धि और जन संघर्ष की जो अभिव्यक्ति साहित्य और कलाओं में उभर रही थी। उसको नाटकों के माध्यम से प्रस्तुत करने में नुक्कड़ नाटकों का कोई सानी न था। परंपरागत भारतीय लोक मंचों की सादगी, उन्मुक्तता, लचीलापन, संगीतात्मकता, सामूहिकता, आर्थिक न्याय में कमी आदि ने नुक्कड़ नाटकों को और अधिक लोकप्रिय बनाया।

हिंदी के नुक्कड़ नाटक निश्चित तौर पर इप्टा की प्रगतिशील विचारधारा एवं वामपंथी राजनीतिक साहित्यिक विचारधारा से ग्रहण रूप से संबंध रहे हैं। नुक्कड़ नाटकों में समसामयिक, राजनीतिक, सामाजिक, सांस्कृतिक मुद्दों पर आधारित नाटकों का मंचन के लिए वरीयता दी जाती रही। नाटक एवं जनता के बीच की दूरी को समाप्त करने में नुक्कड़ नाटक टोलियां वर्षों से महत्वपूर्ण भूमिका निभाती रही है।

एक और प्रेमचंद एवं अन्य लेखकों की कहानियां नुक्कड़ मंच का मुख्य केंद्र बन गई, दूसरी और कोई प्रतिबद्ध नाटककार भी नाट्य लेखन करते रहे। गुरुशरण सिंह, सफदर हाशमी, राधा कृष्ण सहाय, विभु कुमार आदि के अतिरिक्त कई नए नाटककार भी इस दिशा में सक्रिय हुए। दरअसल नुक्कड़ मंच सामाजिकता एवं राजनीतिक साझीदारी और दायित्व की बात उठाता है। उसका

दर्शक समूह, सड़क चलते लोग, दफ्तरों-कारखानों से निकले कर्मचारी, मजदूर, विश्वविद्यालयों के विद्यार्थी आदि होते हैं।

यह 30 से 40 मिनट में जानी-पहचानी घटनाएं एवं स्थितियों के कई तनावपूर्ण पहलुओं को उजागर करके दर्शक को उकसाना और प्रेरित करना चाहता है। उसकी भाषा, उसके छोटे-छोटे दृश्य, तीव्रता, प्रखरता, प्रत्यक्ष साझेदारी, गीत -संगीत, एक्शन, व्यंग्य एवं वक्रोक्ति, प्रभावशाली संवाद आदि मौलिकता के आधार है। लोक नाटकों की तरह लचीलापन और परिवर्तनशीलता इसकी खासियत है। दिल्ली में नुक्कड़ नाटक को लोकप्रिय बनाने में 'सफदर हाशमी' की भूमिका अविस्मरणीय मानी जाती है। भारत के लगभग सभी प्रमुख शहरों की अपनी-अपनी नुक्कड़ टोलियां है, और आज भी यह जनता एवं नाटक के बीच एक महत्वपूर्ण कड़ी के रूप में सतत क्रियाशील है।

हिंदी रंगमंच के विकास में लोक नाट्य शैली एवं शास्त्रीय शैलियों के प्रयोग। जब हिंदी रंगमंच पश्चिमी रंग प्रयोगों और शैलियों से उठ चुका था, तो हिंदी की अपनी स्वाभाविक सांस्कृतिक प्रकृति के अनुरूप रंगमंच का अन्वेषण करने के प्रयासों में 1976 से 77 के आसपास एक अलग किस्म की सक्रियता दिखाई पड़ी। इसी समय सर्वेश्वर के 'बकरी' और मणि मधुकर के 'दुलारी बाई' जैसे नाटकों के देश के कोने - कोने में नौटंकी, ख्याल जैसे लोकनाट्य रूपों में और साथ ही पारसी रंगमंच एवं आधुनिक रंगमंच के प्रयोग में सैकड़ों मंचन हुए उनका उपयोग नाटक प्रशिक्षण शिविरों के लिए भी हुआ और बड़े-बड़े समारोह के लिए भी।

राष्ट्रीय फलक पर हबीब तनवीर छत्तीसगढ़ी लोकनाट्य रूपों का आधुनिक संदर्भ में सृजनात्मक उपयोग अपने 'चरणदास चोर' जैसे नाटक कर रहे थे। इसी दौरान में 'ब क. कारंत' ने दक्षिण की यक्षगान शैली के बहुत ही सार्थक प्रयोग 'अंधेर नगरी' एवं 'हयवदन' में किए। बंसी कौर, रतन थिय्याम ने भी नौटंकी एवं मणिपुर, असम की लोक नाट्य शैलियों का प्रयोग किया। दूसरी तरफ संगीत नाटक अकादमी ने भी अपने उत्सवों में लोक नाट्य रूपों में के प्रयोग को प्रोत्साहित करना शुरू किया।

रंगमंच के नए मुहावरों एवं शैलियों की तलाश

किसी भी अच्छे रंगमंच के विकासमान रहने के लिए शिल्प उपकरणों एवं आधुनिकता आवश्यक है, किंतु यह भी सही है कि श्रेष्ठ रंगमंच की पहचान व

स्थायित्व अपनी मौलिकता अपने संस्कारों विरासत एवं जीवन दर्शन से बनती है। आधुनिक रंगमंच भी चाहे वह ब्रेकअप का हो चाहे गॉष्टावस्की का चाहे बादल सरकार का हो चाहे अन्य किसी प्रतिष्ठित निर्देशकों का। वस्तुतः वह अभिनेता की शक्ति में ही विश्वास रखता है। भरतमुनि के नाट्यशास्त्र में भी यही दृष्टि प्रस्तावित है।

1980 के आसपास से हिंदी नाटक एवं रंगमंच सारी जटिलताओं, विसंगतियों के बावजूद अधिक सार्थक प्रासंगिक जीवंत एवम मौलिक और साथ ही भारतीय मुहावरे की तलाश करने लगे। सुरेंद्र वर्मा के प्रयोगशील नाटक भारतीय रंगमंच की अवधारणा के निकट आते प्रतीत हुए 'अनामिका' द्वारा नाट्यशास्त्र पर संवाद रतन थियम द्वारा मणिपुरी शैली में 'अंधा युग' का प्रस्तुतीकरण सिद्ध करता है कि भारतीय रंगमंच अपने को एक और लोक शैलियों से, तो दूसरी ओर शास्त्रीय शैलियों से जोड़कर हिंदी रंगमंच को लगातार नवीनीकृत एवं प्रसांगिक बनाने हेतु संघर्षरत रहा है।

हिंदी रंगमंच को हम डेढ़ सौ वर्ष पुराना ही कह सकते हैं। अतः अभी कोई निश्चित परंपरा बन ही नहीं पाई है। परंपरा के नाम पर कई धाराएँ हैं, जिनसे प्रेरणा ग्रहण कर उन्हें आत्मसात करते हुए अनेक विरोधाभासी प्रवृत्तियों में समन्वय करने का प्रयत्न होता रहा है। इन सबके साथ ही हिंदी रंगमंच की परंपरा बनने की प्रक्रिया में है।

पहली धारा संस्कृत नाटकों की सुदीर्घ और पुष्ट परंपरा है जो नवीं दसवीं शताब्दी तक मिलती है ऐसा प्रतीत होता है कि भरत का नाट्य शास्त्र एक लंबी अलिखित परंपरा का मानकीकरण एवं शास्त्रीकरण हैं। अतिशास्त्रीयता शायद इसे नाटकों से दूर ले गई और भरत नाट्यम हमें आज नृत्य शैली के रूप में रंगमंच का हिस्सा बना मिलता है, जिससे संवाद गायब हो गए गायन बोल भावाभिनय और नृत्य का समावेश हो गया।

दूसरी धारा लोकनाट्य परंपरा की रही। लोकनाट्य परंपरा ने ही वस्तुतः भारतीय रंगमंच को जीवित रखा नौटंकी, नाच विदेशिया, आल्हा, भांड आदि अनेक लोक नाट्य शैलियाँ प्रचलित रहीं जिनमें किसी लिखित आलेख के बिना ही कलाकार मनोरंजन हेतु किस्से गढ़ लेते थे। कालांतर में आधुनिक हिंदी रंगमंच में संगीतबद्ध या संगीत पर आधारित लोकनाट्य जैसे–मंचन हिंदी रंगमंच की कड़ी बन गए।

तीसरी धारा हमें पारसी नाटकों की मिलती है। ये अपने सारे कलेवर में व्यावसायिक थी। प्रत्येक कंपनी अपने नाटककार रखकर इस हिसाब से नाटक लिखवाती और खेलती थी कि वे जनता में लोकप्रिय हों और अधिक से अधिक धनोपार्जन कर सकें जोर अतिनाटकीयता और चमत्कार पर था। चमत्कार भी नाटक के कथानक भाषा अथवा रसभावना में नहीं, रंगमंच की ऊपरी चटकमटक और वेशभूषा की नवीनता में था। आख्यान इतिहास या पुराण से भी तो नाटक नायक नायिका के प्रेम शेरो शायरी और वेशभूषा और नाच-गाने की चाशनी में लपेटकर पेश किये जाते थे। हम कह सकते हैं कि पारसी थियेटर की यह व्यावसायिक परंपरा रंगमंच से ज्यादा फिल्मों के हिस्से आई और आज भी हिंदी फिल्में लगभग उसी नमूने पर चटपटी मसालेदार बन रही हैं, जिनमें दिमाग बंद कर केवल मनोरंजन के लिये देखा जाय तो कुंठा नहीं होगी। भारतेंदु ने इन्हीं परंपराओं का समन्वय कर औपचारिक हिंदी रंगमंच की स्थापना की।

चौथी धारा हिंदी में पाश्चात्य रंगमंच या अन्य भारतीय भाषाओं से अधिग्रहीत हुई भारतेंदु से पूर्व इप्सन या बर्नार्ड शॉ का यथार्थवादी थियेटर सात्र का अस्तित्त्ववाद और कालातंर में एब्सर्ड थियेटर उसमें भी बैकेट ब्रेख्त की धाराएँ सबका समन्वय कर हिंदी रंगमंच ने अपना रास्ता बनाया सभी पाश्चात्य धाराओं में जिनका भारतीय राजनीतिक वातावरण में भारतीय रूपांतरण हुआ एक बात समान रूप से पाई जाती है, वह है परंपरागत जीर्ण शीर्ण मान्यताओं से विद्रोह, राजनीतिक, धार्मिक, शैक्षिक, व्यवसायिक, प्रशासनिक व्यवस्था का विरोध साठवें दशक में साहित्यकारों ने नाटक को एक और लोकनाट्य से जोड़ने की कोशिश की, तो दूसरी ओर पाश्चात्य प्रभाव भी उन पर हावी रहा साठ तक आते आते विकसित देशों में जन समाज बनने लगा था। उपभोक्तावाद जोर मारने लगा था, मनोरंजन और उद्योग निर्णायक होने लगा था, टी वी फिल्में विज्ञापन और बाजार एक-दूसरे से मिलकर नए नए जनक्षेत्र बनाने लगे थे। इस सबका अपरोक्ष रूप से भारतीय रंगमंच और साहित्य पर भी प्रभाव पड़ा।

बढ़ते जनक्षेत्र तक पहुँचने की ललक, राजनीतिक चेतना, राजनीतिक स्थितियों के कारण आवाम का मोह भंग और विपन्नता के मिले जुले प्रभाव से हिंदी रंगमंच में एक नया प्रयोग और कालांतर में पाँचवीं नई धारा के रूप में ब्रेख्त के स्ट्रीट कार्नर थियेटर की परंपरा में नुक्कड़ नाटक का प्रादुर्भाव हुआ। नुक्कड़ नाटक का शाब्दिक अर्थ ही हुआ, वह नाटक जो गाँव या शहर या कस्बे के किसी मोड़ पर किसी चौराहे या नुक्कड़ पर खेला जा सके जहाँ किसी भी

प्रेक्षागृह परिधान, रूपसज्जा या मंचदीपन की आवश्यकता नहीं होती किंतु हिंदी नुक्कड़ नाटक भी प्रयोग के रूप में परंपरा से अलग नहीं था। नुक्कड़ नाटक का मूल तत्त्व लोक साहित्य में ही है। चौपाल में किस्सागोई की परंपरा कठबैठी और मेले वेले में डुग्गी, पीटकर सामंती आदेशों को जनमानस तक पहुँचाने की प्रवृत्ति ही इस विद्या के केन्द्र में रही है।

नुक्कड़ नाटक हों या बंद अँधेरे प्रेक्षागृह में बना मंच नाट्य लेख का मंच रूपांतरण हो या बिना नाट्य लेख के मनोरंजन व संदेश पहुँचाने के लिये आयोजित लोक नाटक, पैट्रोमैक्स या दिन की रोशनी में मंचित नाटक हो या व्यापक और क्लिष्ट प्रकाश ध्वनि की व्यवस्था रंगमंच में हर स्थिति में हर मोड़ पर और हर अंग में प्रयोग की संभावना होती है। सच पूछें तो हर नया मंचन एक नया प्रयोग होता है, क्योंकि वह पूरा पूरा अपने को नहीं दोहराता दोहरा सकता भी नहीं।

प्रयोग रंग प्रशिक्षण के स्तर से प्रारंभ हो सकता है रंग प्रशिक्षण में अभी कई रिक्तताएँ हैं दया प्रकाश सिन्हा के अनुसार हमारे नाट्य प्रशिक्षण में साहित्य से जुड़ने की कोशिश नहीं होती। अत: प्रशिक्षित रंगकर्मी रंगमंच को एक क्राफ्ट के स्तर पर जीने की कोशिश करते हैं। साहित्य से न जुड़े होने के कारण वे नये नाटक पढ़ते नहीं जब वे पढ़ते नहीं तो उन्हें यह ज्ञान ही नहीं होता कि हिंदी में कौन से नाटक लिखे जा रहे हैं। आज भी एन. एस. डी. राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय से निकले लोग मोलियर के "कंजूस" या "बीवियों का मदरसा" कर रहे हैं तो वे एक प्रोडक्शन की कापी कर रहे हैं। प्रशिक्षण के स्तर पर प्रयोग किये जा सकते हैं कि वह प्रशिक्षक आधारित न होकर प्रशिक्षार्थी आधारित हो उठे रंग प्रशिक्षण ऐसा हो कि प्रशिक्षण लेकर निकला हर कलाकार स्वतंत्र रूप से अपना व्यक्तित्त्व अपनी शैली अपना दिमाग लेकर निकले, परंपरा को पहचानने वाला प्रयोग को तत्पर।

प्रयोग नाट्य लेखन के स्तर पर हो सकता है। यह भ्रामक धारणा फैशन के तौर पर दोहराई जाती है कि हिंदी में नाट्य लेखन की स्थिति दयनीय है। वस्तुस्थिति इसके विपरीत है हिंदी नाटकों, उसमें भी स्तरीय नाटकों का एक समृद्ध भंडार है यदि हम सिर्फ बहुचर्चित बहुमंचित मौलिक नाटकों के नाम गिनाने लगें तो वे 25 के आसपास पहुँच जाएँगे शिल्प के स्तर पर ये की धाराओं की निरंतरता में हैं इनमें कहीं पाश्चात्य नाटककार इप्सन की तर्ज पर दो या तीन अंकों वाला यथार्थवादी मुहावरा मौजूद है, कहीं भारत की शास्त्रीय और लोकनाट्य शैलियों से प्रेरणा ली गई है और कहीं या

तो इन सबके मेल से नहीं तो अपने आप से एक नितांत मौलिक बनावट तैयार करने की कोशिश की गई है। अपनी स्रोत सामग्री में ये नाटक तीन चार मुख्य धाराओं का प्रतिनिधित्व करते हैं, जिनकी तरफ आज के विभिन्न नाटककार बार बार लौटते रहे हैं यथा शुद्ध ऐतिहासिकता में से नाटक का जन्म मिथक अथवा लोककथाओं की फंतासी समसामयिक राजनीतिक स्थितियों पर व्यंग्य और अंतत: जीवन की जटिलताओं में मुख्यत: आदमी और औरत के रिश्ते की जाँच-पड़ताल।

नाट्यलेख में प्रयोग कथ्य के स्तर पर हो सकता है, शिल्प के स्तर पर हो सकता है, प्रस्तुतिकरण के स्तर पर हो सकता है नाटक बिंब लेकर भले पुन: काव्य की ओर लौट जाएँ, शब्द चित्र उकेरे या संवादों के बीच नियोजित मौन से वातावरण की रचना करें, हर दिशा में नये प्रयोग संभव हैं। कई परंपराओं का सम्मिश्रण किया जा सकता है। **चीन,** जापान और एशिया के अन्य देशों की समृद्ध परंपराएँ हैं, जिनसे चुनिंदा चीजों का भारतीयकरण कर नये किस्म के आलेख तैयार किये जा सकते हैं, कथ्य विचार या शिल्प के स्तर पर नई जमीन तोड़ने वाले नाटक लिखे जा सकते हैं। परंतु इस काम को निर्देशकों के सहयोग के बिना नहीं किया जा सकता।

नाट्य लेखन के प्रयोग की राह में रोड़ा रंगकर्म की रूढ़ियाँ अटकाती हैं जो वर्तमान संसाधनों और प्रक्रियाओं के चश्मे से ही देखने का कष्ट उठाती हैं और प्रयोगों को नकार देती हैं। इसका एक जीवंत उदाहरण भुवनेश्वर हैं। भुवनेश्वर अपने समय से बहुत आगे थे। इसलिये उनके साहित्य के लिये समाज साहित्यकार समीकरण तैयार नहीं थे। समझ नहीं सके स्वीकार नहीं कर सके।

आदर्श स्थिति वह होगी, जिसमें लेखक और निर्देशक मिलकर प्रयोग करें एक-दूसरे को खुले दिल दिमाग से सहयोग देकर नई दिशाएँ खोलें। प्राय: जो नाट्य लेख अपूर्ण घोषित कर दिये जाते हैं। उनके मंचन के आयाम का अन्वेषण करना निर्देशक का प्रमुख कार्य है। सफल नाटक वही है जो साहित्यिक और रंगमंचीयता दोनों दृष्टियों से सफल हो।

जब हम सफल रंग कर्म का जायजा लेते हैं, चाहे वह हमारे देश का हो या विदेश का तो हम नाटककारों को अमूमन रंगमंडलियों के साथ या उनके सदस्य के रूप में मौजूद पाते हैं चाहे शेक्सपियर हों या जार्ज बर्नार्ड शॉ, भारतेंदु हरिश्चंद्र हों या आगा हश्र काश्मीरी, ब्रेख्त हों या बादल सरकार। अपने जन्म से ही नाट्य कला एक सामूहिक कला है, जिसे अलग-अलग विधान अलग-अलग कलाकार और निर्देशक तैयार करते हैं।

प्रयोग धर्मिता निर्देशक के जिम्मे अधिक पड़ेगी नाटक का कुल प्रभाव अभिनेता की शारीरिक मुद्राएँ संवाद ध्वनि मंच सज्जा सबके सम्मिश्रण का परिणाम होता है। इनमें से हर विभाग में नये प्रयोगों की संभावना होती है प्रकाश व्यवस्था से लेकर रूप सज्जा तक किसी में भी नया कोण पकड़कर नया प्रयोग किया जा सकता है। प्रश्न जोखिम उठाने का है। देखा यह भी गया है कि प्राय: प्रयोग करने वाले निर्देशक एक प्रयोग के सफल हो जाने पर उसी को दोहराते रहते हैं। असफलता का भय उन्हें नए प्रयोग करने से रोकता है और यह दायित्व फिर किसी अन्य निर्देशक पर पड़ता है।

परंपरा और प्रयोगों की बात करते समय हम यह नहीं भूल सकते कि हिंदी रंगमंच इस समय संक्रमण काल से गुजर रहा है। उपभोक्तावाद और बाजार ने "उद्योग" संस्कृति को जन्म दिया है हर चीज एक उत्पाद है रंगमंच पर हुआ प्रयोग या परंपरावादी मंचन की कभी चर्चा इसलिये होती थी कि कोई व्यक्ति या विषय महत्त्वपूर्ण होता था। उपभोक्तावादी संस्कृति के इस दौर में कोई व्यक्ति या विषय तब महत्त्वपूर्ण होता है जब मास मीडिया उसकी चर्चा करता है और चर्चा तभी करता है, जब कुछ हटकर हो रहा हो संस्कृति के क्षेत्र में सभी लोग समझ गए हैं कि मीडिया को घटिया या बढ़िया रचना से कोई मतलब नहीं रह गया है वह चालू और गंभीर दोनों किस्म की विधाओं और व्यक्तियों के बारे में दिलचस्प और केवल दिलचस्प किस्म की बात करना चाहता है। वह लोगों को दिलचस्प बात के लिये दिलचस्प विषय देना चाहता है।

आज इस दशक में जब वैश्वीकरण और अप संस्कृति के दबाव में परंपराएँ टूट तेजी से रही हैं, पर नई बन नहीं पा रही हैं एक शून्य की स्थिति पैदा हो गई है। वास्तविकता इतनी भयावह है कि जब जब हिंदी नाटक और रंगमंच की वास्तविक स्थिति का आकलन करने की चेष्टा होती है हम साम खड़ी चुनौतियाँ नजरंदाज कर आरोप प्रत्यारोप में व्यस्त हो जाते हैं। रंग कर्म के विभिन्न भागीदारों नाटक कारों निर्देशकों अभिनेताओं आदि के बीच छिड़ी घमासान प्राय: निष्कर्ष विहीन होती है, जिसमें अपनी उपलब्धियों को बढ़ाकर और अन्य को नजरंदाज कर स्थिति बिगड़ने के लिये सदैव दूसरे को जिम्मेदार ठहरा दिया जाता है निर्देशक कहता है कि नये नाटक नहीं हैं, नाटककार कहता है कि निर्देशक, मनमानी करता है अभिनेता रंगमंच को छोड़ टीवी और फिल्मों की ओर पलायन कर जाता है।

अत: हिंदी रंगमंच को अपने अस्तित्त्व के लिये पिछली परंपराओं से शक्ति ग्रहण कर नित्य नए प्रयोग करने पड़ेगे इसके लिये मिशनरी उत्साह और दलगत भावना की आवश्यकता है, जिसके बिना की भी प्रयोग गुणवत्ता पूर्ण और सफल नहीं हो सकता बाजारीकरण के इस दौर में यह कोई नहीं देखता कि आपने प्रयत्न कितने किये हर एक की नजर नतीजों पर है। अत: अपने अहम का बलिदान कर सबको हाथ मिलाना होगाी, एक दल के रूप मे सफल प्रयास करने के लिये बटने की, टूटने की लड़खडाने, की परंपरा छोड़ ये प्रयोग हिंदी रंगमंच के लिये आवश्यक ही नहीं, अपितु अनिवार्य हैं।

हिंदी नाटक का प्रारंभ

हमारे यहां भारतीय नाट्यकला की बहुत लम्बी और समृद्ध परंपरा मिलती है, लेकिन हिंदी में आधुनिक युग के पहले नाटक की परंपरा लगभग अनुपस्थित थी। हिन्दी साहित्य में नाटक साहित्य 19 वीं शताब्दी के पूवार्द्ध तक उपलब्ध नहीं होते। नेमिचन्द्र जैन कहते हैं,

"संस्कृत नाटक के स्वर्णयुग के बाद हमारी रंग-परंपरा विच्छिन्न हो गयी। उसके बाद प्राय: एक हजार वर्ष तक आधुनिक भाषाओं में नाटक बहुत ही कम लिखे गए और जो इक्का-दुक्का प्रयत्न हुए भी, वे संस्कृत नाटकों की अनुकृति मात्र थे और उनका किसी रंग-प्रयोग से कोई सम्बन्ध नहीं था।"

नेमिचन्द्र जैन जी का यह भी कहना है,

"अठारहवीं-उन्नीसवीं शताब्दी में, देश की बहुत-सी भाषाओं में कुछ-कुछ नाटक लिखे जाने लगे। पर अपने देश की नाट्य-परंपरा से जीवन्त और गहरे सम्पर्क के अभाव में नाटक को या तो सृजनात्मक साहित्य से अलग मनोरंजन का कार्य समझा गया, या फिर शैक्षिक क्षेत्रों में वह बहुत-कुछ एक निरा साहित्य-रूप गिना जाने लगा।"

हालाकि हिन्दी नाटक का उदय भारतेन्दु युग से पहले हो चुका था और कुछ छिटपुट नाटक लिखे भी गए थे, कुछ ब्रजभाषा में कुछ खड़ी बोली में। कम से कम दर्जनभर ऐसी कृतियां हैं, जिन्हें हिन्दी भाषा का नाटक कहा गया है। जोधपुर नरेश जसवन्त सिंह द्वारा लगभग 1643 में लिखा गया "प्रबोध चन्द्रोदय", "हनुमन्नाटक" और "अभिज्ञान शाकुन्तलम्" आदि संस्कृत नाटकों के अनुवाद हैं। प्राणचन्द चौहान कृत "रामायण महानाटक" (1610), कृष्णजीवन लछीराम कृत "करुणाभरण" (1657), नेवाज कृत "शकुंतला" (1680), महाराज

विश्वनाथ सिंह कृत "आनन्द रघुनन्दन" (1700), रघुराय नागर कृत "सभासार" (1700), उदय कृत "रामकरुणाकर" और "हनुमान नाटक" (1840), अमानत कृत "इंदरसभा" (1853), गणेश कवि कृत "प्रद्युम्न विजय" (1863), आदि का उल्लेख मिलता है, लेकिन वे नाटक हैं ही नहीं। ये पद्यात्मक प्रबंध हैं।

इनके अलावा और भी ग्रन्थ हैं, जैसे केशवदास कृत "विज्ञान गीता", बनारीदास कृत "समय सार", गुरु गोविन्द सिंह कृत "चण्डी चरित्र", आनंद कृत "नाटका नन्द", लाल झा कृत "गोरी परिणय", हरिराम कृत "जानकीराम चरित्र", भानु झा कृत "प्राभावती हरण", हर्षनाथ झा कृत "उषा हरण" जिनमे संवाद योजना देखने को मिलते हैं।

इस काल में पुरानी कहानी के (इतिवृत्तमूलक) संवादात्मक काव्य को ही नाटक कहा जाने लगा। चूंकि इनमें नाटकीय संवाद योजना है, इसलिए इन्हें नाटक मान लिया गया।

गद्य रचना के अंतर्गत भारतेंदु जी ने अपने "नाटक" नाम की पुस्तक में लिखा है कि हिन्दी में मौलिक नाटक उनके पहले दो ही लिखे गए थे - रीवां नरेश महाराज विश्वनाथ सिंह (1661-1740) का लगभग 1700 में लिखा हुआ "आनन्द रघुनन्दन" और भारतेन्दु जी के पिता गोपालचन्द्र गिरिधरदास का 1857 में लिखा हुआ "नहुष नाटक"। ये दोनों ही ब्रजभाषा में थे। इनमें नाटक को मंच पर पेश किये जाने योग्य बनाने, उसके अनुरूप भाषा और शिल्प का निर्माण करने की कोशिश मिलती है।

भारतेन्दु जी ने अपने "नाटक" नामक ग्रन्थ में देवमाया प्रपंच, प्रभावती और आनन्द रघुनन्दन को सर्वप्रथम नाटक-रीति पर विरचित नाटक माना है। बाबू गुलाब राय ने "हिन्दी नाट्य-विमर्श" और बाबू ब्रजरत्नदास ने "हिन्दी नाट्य साहित्य" में चर्चा करते हुए कहा है कि "आनन्द रघुनन्दन" ही हिन्दी का सर्वप्रथम नाटक है। यह ऐसी रचना है, जिसमें शास्त्रीय नियमों के अनुसार नान्दी, विष्कम्भक, भरतवाक्य आदि का प्रयोग किया गया है। यह संस्कृत की नाटक शैली से बहुत प्रभावित है। रंगमंच के संकेत भी इसमें संस्कृत में ही दिए गए हैं। हास्य के लिए विदूषक की योजना की गई है। इसका नायक राम हैं और खलनायक रावण। विश्वनाथ जी ने यह नाटक नये दृष्टिकोण से लिखा। एक और विशेषता इसकी यह है कि विश्वनाथ जी ने सबसे पहले मौलिक नाटकों में ब्रजभाषा की गद्य-शैली का प्रयोग मुख्य पात्रों से कराया है। गीत और छन्द की अधिकता के कारण इसकी गति बहुत धीमी है। हालाकि कला की कसौटी पर

यह सफल नाटक की श्रेणी में नहीं रखा जा सकता हो, फिर भी भारतेन्दु हरिश्चंद्र के अलावा अन्य कई विद्वानों ने इसे हिन्दी नाटकों का पहला नाटक कहलाने का श्रेय दिया है। डॉ. दशरथ ओझा का मानना है,

"विश्वनाथ जी के इस नाटक ने हिन्दी नाटकों में ऐसी क्रांति पैदा कर दी, जिसकी अत्यंत आवश्यकता थी।"

"नहुष नाटक" (1857) लुप्तप्राय हो गया था। "कवि वचन सुधा" पत्रिका के पहले साल के पहले अंक में इस नाटक का पहला अंक छपा था। डॉ. दशरथ ओझा बताते हैं–

"कांकरौली में इसकी एक हस्तलिखित प्रति मिल गई है। इस प्रति में नाटक में प्रस्तावना तथा छः अंक हैं। इसकी कथावस्तु महाभारत के उद्योग तथा अनुशासन पर्वों के आधार पर निर्मित है।"

इस नाटक में यह विलक्षण पद्धति पाई जाती है कि पात्र के प्रवेश के साथ उसके परिचय के रूप में एक कविता दे दी गई है। नाट्क में नान्दी, सूत्रधार, प्रस्तावना का समावेश आनन्द-रघुनन्दन के समान ही मिलता है।

पं. शीतला प्रसाद त्रिपाठी कृत "जानकीमंगल" (1868) नाट्य गुणों से युक्त है। इसकी रचना अभिनय के लिए ही की गई होगी। इसमें परिमार्जित खड़ी बोली का भी उपयोग हुआ है। उन दिनों रामलीला और रास लीला भी काफी लोकप्रिय थे। रामलीला की लोकप्रियता का बहुत अच्छा उदाहरण यह नाटक है। इसके अभिनय में भारतेन्दु ने भी भाग लिया था।

अमानत की "इन्दरसभा" का स्वरूप भी उस समय के इतिहास, नाटक और रंगमंच की देन था। उसके संगीत, नृत्य, भाव, रस, गतियों - प्रकारों और लचीले शिल्प ने एक मौलिक पहचान बनाई।

इन नाटकों में हालाँकि नाटक-रचना की शास्त्रीय विधियों को अपनाया गया है, फिर भी आगे के हिंदी नाट्य-लेखन को इनसे कोई सार्थक दिशा नहीं मिलती है। नाट्य-वस्तु और शैली शिल्प की दृष्टि से हिंदी नाटक के आधुनिक मौलिक स्वरूप का विकास भारतेंदु जी के नाटक अभिनय में ही देखने को मिलता है। आधुनिक हिंदी नाटक और रंगमंच का यह एक सर्वमान्य और ऐतिहासिक सत्य है कि पारसी व्यावसायिक थियेटर की प्रतिक्रियास्वरूप हिंदी में सुरुचिपूर्ण एवं गम्भीर अव्यावसायिक रंगमंच की स्थापना और उसके विकास में भारतेंदु हरिश्चन्द्र के रचनात्मक प्रयासों का बुनियादी महत्व रहा है।

हिंदी के संबंध में एक विचित्र बात यह है कि इसके नवयुग का उत्थान नाटक से ही हुआ है। श्री हरिश्चंद्र ने जिस काल में अपनी प्रतिभा से और परिश्रम से हिंदी की उन्नति की उस काल के साहित्य से नाटकों को अलग कर देने बचता ही क्या है? आ. रामचन्द्र शुक्ल कहते हैं–

"विलक्षण बात यह है कि आधुनिक गद्य साहित्य की परंपरा का प्रवर्तन नाटकों से हुआ।"

भारतेन्दु जी से ही हिन्दी के आधुनिक युग की शुरुआत होती है। आधुनिक हिन्दी गद्य के जन्मदाता वही हैं। हिन्दी नाटकों का जन्मदाता भी भारतेन्दु हरिश्चन्द्र को ही माना जाता है। भारतेन्दु जी ने जब नाटक लिखना शुरु किया था, तब हिन्दी में न तो नाटक लिखे जाते थे और न ही रंगमंच उपलब्ध था। लेकिन भारतीय, पाश्चात्य, लोक आदि परंपराओं का उन्हें ज्ञान था। वह हिन्दी के प्रथम समर्थ नाटककार हैं। हिंदी में नाटकों का प्रारंभ भारतेन्दु हरिश्चंद्र से माना जाता है। उस काल के भारतेन्दु तथा उनके समकालीन नाटककारों ने लोक चेतना के विकास के लिए नाटकों की रचना की इसलिए उस समय की सामाजिक समस्याओं को नाटकों में अभिव्यक्त होने का अच्छा अवसर मिला।

जैसाकि कहा जा चुका है, हिन्दी में अव्यावसायिक साहित्यिक रंगमंच के निर्माण का श्रीगणेश आगाहसन 'अमानत' लखनवी के 'इंदर सभा' नामक गीति-रूपक से माना जा सकता है। पर सच तो यह है कि 'इंदर सभा' की वास्तव में रंगमंचीय कृति नहीं थी। इसमें शामियाने के नीचे खुला स्टेज रहता था। नौटंकी की तरह तीन ओर दर्शक बैठते थे, एक ओर तख्त पर राजा इंदर का आसन लगा दिया जाता था, साथ में परियों के लिए कुर्सियाँ रखी जाती थी। साबिंजदों के पीछे एक लाल रंग का पर्दा लटका दिया जाता था। इसी के पीछे से पात्रों का प्रवेश कराया जाता था। राजा इंदर, परियाँ आदि पात्र एक बार आकर वहीं उपस्थित रहते थे। वे अपने संवाद बोलकर वापस नहीं जाते थे।

उस समय नाट्यारंगन इतना लोकप्रिय हुआ कि अमानत की 'इंदर सभा' के अनुकरण पर कई सभाएँ रची गई, जैसे 'मदारीलाल की इंदर सभा', 'दर्याई इंदर सभा', 'हवाई इंदर सभा' आदि। पारसी नाटक मंडलियों ने भी इन सभाओं और मजलिसेपरिस्तान को अपनाया। ये रचनाएँ नाटक नहीं थी और न ही इनसे हिन्दी का रंगमंच निर्भित हुआ। इसी से भारतेन्दु हरिश्चन्द्र इनको 'नाटकाभास' कहते थे। उन्होंने इनकी पैरोडी के रूप में 'बंदर सभा' लिखी थी।

"काव्येषु नाटक रम्यम्"

हमारे देश में नाट्य-लेखन और अभिनय की बहुत लम्बी और समृद्ध परंपरा रही है। संस्कृत नाटकों की परम्परा तो हमारे देश में प्राचीन काल से ही रही है। नाट्यशास्त्र के प्रणेता भरतमुनि ने नाटक को सबसे अधिक रमणीय और "पंचमवेद" कहा है। उन्होंने प्रचलित नाट्य लोकपरम्पराओं को नियमबद्ध किया और "नाट्यशास्त्र" की रचना की। उन्होंने नाटक की सम्पूर्ण रचना-प्रक्रिया, सहयोगी कला रूप और रंगमंच पर प्रस्तुति, प्रेक्षागृह के स्वरूप, भेद, आकार आदि पर प्रमाणित सामग्री भी प्रस्तुत की। इसी प्रकार लोकनाटक भी हमारे देश में सदियों से अपनी स्थानीय विशेषताओं के साथ काफ़ी प्रसिद्ध रहा है।

मध्य-युग में आकर प्रेक्षागृहों और नाट्य-प्रदर्शनों का क्रमशः ह्रास होता गया। मनु और याज्ञवल्क्य स्मृति में नटों के प्रति हेय भावना व्यक्त किया गया। इस कारण से रंगकर्मियों और अभिनेताओं की प्रतिष्ठा घटी। विदेशी आक्रमणकारियों ने भी राजप्रासादों से जुड़ी हुई रंगशालाओं को तहस-नहस कर जयशंकर प्रसादिया। जयशंकर प्रसाद ने काव्य-कला तथा अन्य निबंध में कहा है,

"मध्यकालीन भारत में जिस आतंक और अस्थिरता का साम्राज्य था, उसने यहां की प्राचीन रंगशालाओं को तोड़-फोड़ दिया।"

दुःख की बात है कि शास्त्र और लोक की यह सुदृढ़ परम्परा रहते हुए भी नाटक और रंगमंच हमारे जीवन से एकम कटता गया। नाटकों के इस अभाव के बारे में आ. रामचन्द्र शुक्ल का कहना है कि उन दिनों नाटकशालाओं का अभाव था, जबकि ब्रजरत्नदास शान्तिमय वातावरण का अभाव इसका कारण मानते हैं। मध्ययुगीन सामंती पतनशीलता ने रंगमंच के प्रति उदासीनता का भाव पैदा किया। इस काल में जातीय उत्साह के अभाव के अलावा मुसलमान शासकों में इस कला के प्रति प्रोत्साहन का अभाव भी रहा।

डॉ. गुलाब राय के अनुसार गद्य का अभाव भी एक कारण था। कुल मिलाकर उस युग का अनुपयुक्त वातावरण हिन्दी साहित्य के आदिकाल एवं मध्यकाल रामचन्द्र शुक्ल के शब्दों में नाटक के नही रचे जाने का कारण बना। आ. शुक्ल कहते हैं,

"उस समय नाटक खेलने वाली जो व्यवसायी पारसी कंपनियां थीं, वे उर्दू को छोड़ हिन्दी नाटक खेलने को तैयार न थीं। ऐसी दशा में नाटकों की ओर हिन्दी प्रेमियों का उत्साह कैसे रह सकता था?"

हालांकि इस पूरे दौर में लोक नाट्य की परंपराएं पहले की तरह गतिमान रहीं। अंग्रेज़ी शासन की स्थापना ने पश्चिम के नाटकों और रंगमंच से हमारा परिचय कराया। इस परिचय से हम प्रेरित हुए और अपनी नाट्य परंपरा की फिर से खोज करने लगे। वर्षों तक पारसी नाटक कम्पनियों के व्यावसायी और सतही मनोरंजक नाट्य प्रदर्शनों का बोलबाला रहा। इसके परिणाम स्वरूप रचनात्मक और साहित्यिक स्तर के नाटक लिखने की कोशिशें रंगमंच से दूर हटती गईं। नाट्य साहित्य के समीक्षक नाटकों को दो खाने में बांटकर देखने लगे – साहित्यिक नाटक और रंगमंचीय नाटक। व्यावसायिक और रंगमंचीय नाटकों की प्रतिक्रिया में रचनाकार कुछ ऐसा सृजन करने लगे जिसे शुद्ध साहित्यिक नाटक की संज्ञा दी जाए। ऐसे रचनाकार रंगमंच से कटे हुए रहते और नाटक की विधागत मौलिकता और जटिलता का उन्हें ज्ञान ही न होता। ऐसे में सिर्फ़ कल्पना से की गई नाट्य रचना अपना मूल्य स्थापित नहीं कर पाई और नाट्य-लेखन रंगभूमि के जीवित संदर्भ से कट गई।

इन्हीं परिस्थितियों के बीच भारतेंदु हरिश्चन्द्र का युगांतकारी व्यक्तित्त्व उभरता है, जिन्होंने नाटक प्रस्तुति के माध्यम और कला संबंधी विशेषताओं को अच्छी तरह से समझा और नाट्य साहित्य पर योजनाबद्ध तरीक़े से काम किया।

हमारे यहां भारतीय नाट्यकला की बहुत लम्बी और समृद्ध परंपरा मिलती है, लेकिन हिन्दी में आधुनिक युग के पहले नाटक की परंपरा लगभग अनुपस्थित थी। हिन्दी साहित्य में नाटक साहित्य 19 वह शताब्दी के पूर्वार्द्ध तक उपलब्ध नहीं होते। नेमिचन्द्र जैन कहते हैं–

"संस्कृत नाटक के स्वर्णयुग के बाद हमारी रंग-परंपरा विच्छिन्न हो गयी। उसके बाद प्राय: एक हज़ार वर्ष तक आधुनिक भाषाओं में नाटक बहुत ही कम लिखे गए और जो इक्का-दुक्का प्रयत्न हुए भी, वे संस्कृत नाटकों की अनुकृति मात्र थे और उनका किसी रंग-प्रयोग से कोई सम्बन्ध नही था।"

नेमिचन्द्र जैन जी का यह भी कहना है,

"अठारहवीं"-उन्नीसवीं" शताब्दी में, देश की बहुत-सी भाषाओं में कुछ-कुछ नाटक लिखे जाने लगे। पर अपने देश की नाट्य-परंपरा से जीवन्त और गहरे सम्पर्क के अभाव में नाटक को या तो सृजनात्मक साहित्य से अलग मनोरंजन का कार्य समझा गया, या फिर शैक्षिक क्षेत्रों में वह बहुत-कुछ एक निरा साहित्य-रूप गिना जाने लगा।"

हालाकि हिन्दी नाटक का उदय भारतेन्दु युग से पहले हो चुका था और कुछ छिटपुट नाटक लिखे भी गए थे, कुछ ब्रजभाषा में कुछ खड़ी बोली में। कम से कम दर्जनभर ऐसी कृतियां हैं, जिन्हें हिन्दी भाषा का नाटक कहा गया है। जोधपुर नरेश जसवन्त सिंह द्वारा लगभग 1643 में लिखा गया "प्रबोध चन्द्रोदय", "हनुमन्नाटक" और 'अभिज्ञान शाकुन्तलम्" आदि संस्कृत नाटकों के अनुवाद हैं। प्राणचन्द चौहान कृत "रामायण महानाटक" (1610), कृष्णजीवन लछीराम कृत "करुणाभरण" (1657), नेवाज कृत "शकुंतला" (1680), महाराज विश्वनाथ सिंह कृत "आनन्द रघुनन्दन" (1700), रघुराय नागर कृत "सभासार" (1700), उदय कृत "रामकरुणाकर" और "हनुमान नाटक" (1840), अमानत कृत "इंदरसभा" (1853), गणेश कवि कृत "प्रद्युम्न विजय" (1863), आदि का उल्लेख मिलता है, लेकिन वे नाटक हैं ही नहीं। ये पद्यात्मक प्रबंध हैं।

इनके अलावा और भी ग्रन्थ हैं, जैसे केशवदास कृत "विज्ञान गीता", बनारीदास कृत "समय सार", गुरु गोविन्द सिंह कृत "चण्डी चरित्र", आनंद कृत "नाटका नन्द", लाल झा कृत "गोरी परिणय", हरिराम कृत "जानकीराम चरित्र", भानु झा कृत "प्रभावती हरण", हर्षनाथ झा कृत "उषा हरण" जिनमे संवाद योजना देखने को मिलती हैं।

इस काल में पुरानी कहानी के (इतिवृत्तमूलक) संवादात्मक काव्य को ही नाटक कहा जाने लगा। चूंकि इनमें नाटकीय संवाद योजना है इसलिए इन्हें नाटक मान लिया गया।

गद्य रचना के अंतर्गत भारतेंदु जी ने अपने "नाटक" नाम की पुस्तक में लिखा है कि हिन्दी में मौलिक नाटक उनके पहले दो ही लिखे गए थे -रीवां नरेश महाराज विश्वनाथ सिंह (1661-1740) का लगभग 1700 में लिखा हुआ "आनन्द रघुनन्दन" और भारतेन्दु जी के पिता गोपालचन्द्र गिरिधरदास का 1857 में लिखा हुआ "नहुष नाटक"। ये दोनों ही ब्रजभाषा में थे। इनमें नाटक को मंच पर पेश किये जाने योग्य बनाने, उसके अनुरूप भाषा और शिल्प का निर्माण करने की कोशिश मिलती है।

भारतेन्दु जी ने अपने "नाटक" नामक ग्रन्थ में देवमाया प्रपंच, प्रभावती और आनन्द रघुनन्दन को सर्वप्रथम नाटक-रीति पर विरचित नाटक माना है। बाबू गुलाब राय ने "हिन्दी नाट्य-विमर्श" और बाबू ब्रजरत्नदास ने "हिन्दी नाट्य साहित्य" में चर्चा करते हुए कहा है कि "आनन्द रघुनन्दन" ही हिन्दी का सर्वप्रथम नाटक है। यह ऐसी रचना है, जिसमें शास्त्रीय नियमों के अनुसार नान्दी,

विष्कम्भक, भरतवाक्य आदि का प्रयोग किया गया है। यह संस्कृत की नाटक शैली से बहुत प्रभावित है। रंगमंच के संकेत भी इसमें संस्कृत में ही दिए गए हैं। हास्य के लिए विदूषक की योजना की गई है। इसका नायक राम हैं और खलनायक रावण। विश्वनाथ जी ने यह नाटक नये दृष्टिकोण से लिखा। एक और विशेषता इसकी यह है कि विश्वनाथ जी ने सबसे पहले मौलिक नाटकों में ब्रजभाषा की गद्य-शैली का प्रयोग मुख्य पात्रों से कराया है। गीत और छन्द की अधिकता के कारण इसकी गति बहुत धीमी है। हालाकि कला की कसौटी पर यह सफल नाटक की श्रेणी में नही रखा जा सकता हो, फिर भी भारतेन्दु हरिश्चंद्र के अलावा अन्य कई विद्वानों ने इसे हिन्दी नाटकों का पहला नाटक कहलाने का श्रेय दिया है। डॉ. दशरथ ओझा का मानना है,

"विश्वनाथ जी के इस नाटक ने हिन्दी नाटकों में ऐसी क्रांति पैदा कर दी, जिसकी अत्यंत आवश्यकता थी।"

"नहुष नाटक" (1857) लुप्तप्रायः हो गया था। "कवि वचन सुधा" पत्रिका के पहले साल के पहले अंक में इस नाटक का पहला अंक छपा था। डॉ. दशरथ ओझा बताते हैं,

"कांकरौली में इसकी एक हस्तलिखित प्रति मिल गई है। इस प्रति में नाटक में प्रस्तावना तथा छः अंक हैं। इसकी कथावस्तु महाभारत के उद्योग तथा अनुशासन पर्वों के आधार पर निर्भित है।"

इस नाटक में यह विलक्षण पद्धति पाई जाती है कि पात्र के प्रवेश के साथ उसके परिचय के रूप में एक कविता दे दी गई है। नाट्क में नान्दी, सूत्रधार, प्रस्तावना का समावेश आनन्द-रघुनन्दन के समान ही मिलता है।

पं. शीतला प्रसाद त्रिपाठी कृत "जानकीमंगल" (1868) नाट्य गुणों से युक्त है। इसकी रचना अभिनय के लिए ही की गई होगी। इसमें परिमार्जित खड़ी बोली का भी उपयोग हुआ है। उन दिनों रामलीला और रास लीला भी काफ़ी लोकप्रिय थे। रामलीला की लोकप्रियता का बहुत अच्छा उदाहरण यह नाटक है। इसके अभिनय में भारतेन्दु ने भी भाग लिया था।

अमानत की "इन्दरसभा" का स्वरूप भी उस समय के इतिहास, नाटक और रंगमंच की देन था। उसके संगीत, नृत्य, भाव, रस, गतियों - प्रकारों और लचीले शिल्प ने एक मौलिक पहचान बनाई।

इन नाटकों में हालाकि नाटक-रचना की शास्त्रीय विधियों को अपनाया गया है, फिर भी आगे के हिन्दी नाट्य-लेखन को इनसे कोई सार्थक दिशा नहीं

मिलती है। नाट्य-वस्तु और शैली शिल्प की दृष्टि से हिन्दी नाटक के आधुनिक मौलिक स्वरूप का विकास भारतेंदु जी के नाटक अभिनय में ही देखने को मिलता है। आधुनिक हिन्दी नाटक और रंगमंच का यह एक सर्वमान्य और ऐतिहासिक सत्य है कि पारसी व्यावसायिक थियेटर की प्रतिक्रियास्वरूप हिन्दी में सुरुचिपूर्ण एवं गम्भीर अव्यावसायिक रंगमंच की स्थापना और उसके विकास में भारतेंदु हरिश्चन्द्र के रचनात्मक प्रयासों का बुनियादी महत्व रहा है।

हिन्दी के संबंध में एक विचित्र बात यह है कि इसके नवयुग का उत्थान नाटक से ही हुआ है। श्री हरिश्चंद्र ने जिस काल में अपनी प्रतिभा से और परिश्रम से हिन्दी की उन्नति की उस काल के साहित्य से नाटकों को अलग कर देने बचता ही क्या है? आ. रामचन्द्र शुक्ल कहते हैं–

"विलक्षण बात यह है कि आधुनिक गद्य साहित्य की परंपरा का प्रवर्तन नाटकों से हुआ।"

भारतेन्दु जी से ही हिन्दी के आधुनिक युग की शुरुआत होती है। आधुनिक हिन्दी गद्य के जन्मदाता वही हैं। हिन्दी नाटकों का जन्मदाता भी भारतेन्दु हरिश्चन्द्र को ही माना जाता है। भारतेन्दु जी ने जब नाटक लिखना शुरु किया था, तब हिन्दी में न तो नाटक लिखे जाते थे और न ही रंगमंच उपलब्ध था। लेकिन भारतीय, पाश्चात्य, लोक आदि परंपराओं का उन्हें ज्ञान था। वह हिन्दी के प्रथम समर्थ नाटककार हैं।

हिन्दी में नाटक के उद्‌भव के बारे में विद्वानों में मतभेद है । कुछ विद्वान मानते है कि संवत् 1279 में रचित 'गय सुकुमार रास' हिन्दी का पहला नाटक है । नाटकीयता, संवाद, शैली, अभिनेता आदि की अभाव होने से इसे नाटक कहने से अच्छा 'रासक' कहना उचित है । महाकवि विद्यापति मैथिली भाषा में कृत 'गोरक्षा विजय' नामक नाटक, नाटक की श्रेणी में आने वाली उल्लेखनीय रचना है । इसका गद्य संस्कृत और पद्य भाग मैथिली में मिलता है । 'विद्या विलाप' (सन्1533), 'मुद्रित कुवलयाशव' (सन् 1627), 'हर गौरी विवाह' (सन् 1629), सन् 1639 में रचित 'नल चरित नाटक', 17वीं शती में रामदास झा रचित 'आनंद विजय नाटक', 'उषा हरण' (देवानंद), 'रुक्मिणी हरण' (रमापति उपाध्याय), 'पारिजात हरण' (उमापति उपाध्याय) आदि कृतियाँ हिन्दी नाटक परंपरा की आरंभ काल की रचनाएँ है ।

नन्ददास का 'गोवर्द्धन लीला' उल्लेखनीय नाटक है । वृन्दावनदास ने करीब चालीस नाटकों की रचना की । इस काल में 'नरसिंह लीला', 'प्रह्लाद

लीला', 'भागीरथी लीला' आदि अनेक 'लीला नाटकों' की रचनायें हुई । इसे 'रास लीला' के श्रेणी में स्थान देना उचित है । अठारहवीं शती में पद्य नाटकों की प्रमुखता हुई । ऐसे नाटक रंगमंचीय दृष्टि में असफल है । गुरु गोविन्दसिंह कृत 'चंडी चरित्र', हृदयराम का 'हनुमन्नाटक', नेवाज का 'शकुन्तला नाटक', बनारसीदास का 'समय सार नाटक' ऐसे नाटकों में कुछ है । उन्नीसवीं शती में भी यह रीति हुई । 'जानकी रामचरित', 'रामायण नाटक, 'माधव विनोद नाटक', 'नहुष नाटक' आदि पद्य बद्ध नाटकों में कुछ है ।

उन्नीसवीं - बीसवीं शती हिन्दी नाटकों की परिष्करण और विकास का युग है । इस शती में अनेक श्रेष्ठ मौलिक नाटकों की रचना हुई । इस शती के नाटकीय इतिहास को भारतेन्दु युग, प्रसाद युग और प्रसादोत्तर युग के नाम में विभाजित किया जाता है । भारतेन्दु हरिश्चन्द्र हिन्दी नाटक के पितामह के नाम में जाने जाते है । बाबु हरिश्चन्द्र को अंग्रेज़ी, बँगला, संस्कृत, प्राकृत आदि के नाटकों से अच्छा ज्ञान था । वह नाटक रचना करने के साथ अभिनय भी करता था । नाटक के सभी विषयों में उन्हें परिचय था । सरलता, रोचक शैली, स्वाभाविकता आदि भारतेन्दु नाटकों के गुण है । उन्होंने कई मौलिक नाटकों की रचना की । साथ ही साथ अन्य भाषाओं से नाटकों का हिन्दी अनुवाद करने का नायकत्व दिया । लेखकों में नाटक रचना का प्रेरणा दिया । भारतेन्दु ने पौराणिक विषयों के समान राजनैतिक एवं सामाजिक विषयों को नाटकों की कथानक बनाया है । 'वैदिकी हिंसा-हिंसा न भवति', 'धनंजय विजय', 'कर्पूर हरिश्चन्द्र', 'मुद्रा राक्षस', 'विषस्य विषमोषौधम्', 'प्रेम योगिनी', 'सती प्रताप', 'नील देवी', 'भारत दुर्दशा', 'अंधेरी नगरी' आदि भारतेन्दु के नाटक हैं। उन्होंने 'पाखण्ड विडम्बन' सशक्त सामाजिक नाटक है ।

भारतेन्दु युग में उनके मार्ग दर्शन में अनेक नाटककार आगे आये, जिनमें राधाकृष्ण दास, श्रीनिवास दास, सीताराम वर्मा, बदरी नारायण चौधरी, राधाचरण गोस्वामी, प्रताप नारायण मिश्र आदि के नाम विशेष उल्लेखनीय है । 'रणधीर', 'प्रेम मोहिनी', 'महाराण प्रताप', 'दु:खिनी वाला', 'भारत ललना', 'भारत सौभाग्य', 'प्रेमधन', 'भारत दुर्दशा रूपक', 'तन मन धन श्रीगोसाईजी के अर्पण', 'विवाह विडंबना' आदि उल्लेखनीय नाटक है ।

हिन्दी नाटक के विकास में जयशंकर प्रसाद का स्थान सर्वोपरी है । प्रसाद महाकवि होने समान ऐतिहासिक, पौराणिक, सामाजिक और राजनैतिक नाटककार के रूप में स्मरणीय है । मेधावी नाटककार प्रसाद ने भाषा, शैली, विषय, संवाद,

नाटकीय मुहूर्त आदि सभी में नवीनता लायी । उनके अधिकांश नाटक रंगमंच में सफलता के साथ अभिनय कर सकते है । प्रसाद ने 'सज्जन', 'कल्याणी', 'प्रायश्चित्त', 'करुणामय', 'अजातशत्रु', 'राज्य श्री', 'विशाल', 'कामना', 'जनमेजय का नाग यज्ञ', 'एक घूँट', 'स्कंध गुप्त', 'चन्द्र गुप्त', 'ध्रुवस्वामिनी' आदि अनेक प्रौढ़ नाटकों की रचना की । प्रसाद युग के नाटककारों में 'कृष्णार्जुन युद्ध' के रचयिता माखनलाल चतुर्वेदी, 'महात्मा ईसा' के रचयिता पांड़ेय बेचन शर्मा 'उग्र,' 'कर्बला' के रचयिता प्रेमचन्द, 'वरमाला' के रचयिता गोविन्दवल्लभ पंत आदि के नाम विशेष उल्लेखनीय है ।

प्राचीन हिन्दी नाटक

हिंदी में नाटकों का प्रारंभ भारतेन्दु हरिश्चंद्र से माना जाता है। उस काल के भारतेन्दु तथा उनके समकालीन नाटककारों ने लोक चेतना के विकास के लिए नाटकों की रचना की। इसलिए उस समय की सामाजिक समस्याओं को नाटकों में अभिव्यक्त होने का अच्छा अवसर मिला।

जैसाकि कहा जा चुका है, हिन्दी में अव्यावसायिक साहित्यिक रंगमंच के निर्माण का श्रीगणेश आगाहसन 'अमानत' लखनवी के 'इंदर सभा' नामक गीति-रूपक से माना जा सकता है। पर सच तो यह है कि 'इंदर सभा' की वास्तव में रंगमंचीय कृति नहीं थी। इसमें शामियाने के नीचे खुला स्टेज रहता था। नौटंकी की तरह तीन ओर दर्शक बैठते थे, एक ओर तख्त पर राजा इंदर का आसन लगा दिया जाता था, साथ में परियों के लिए कुर्सियाँ रखी जाती थीं। साजिंदों के पीछे एक लाल रंग का पर्दा लटका दिया जाता था। इसी के पीछे से पात्रों का प्रवेश कराया जाता था। राजा इंदर, परियाँ आदि पात्र एक बार आकर वहीं उपस्थित रहते थे। वे अपने संवाद बोलकर वापस नहीं जाते थे।हिन्दी साहित्य में नाटक का विकास आधुनिक युग में ही हुआ है। इससे पूर्व हिन्दी के जो नाटक मिलते हैं, वे या तो नाटकीय काव्य हैं अथवा संस्कृत के अनुवाद मात्र या नाम के ही नाटक हैं, क्योंकि उनमें नाट्यकला के तत्त्वों का सर्वथा अभाव है, जैसे नेवाज का 'शकुन्तला', कवि देव का 'देवमायाप्रपंच', हृदयराम का 'हनुमन्नाटक' राजा जसवन्तसिंह का 'प्रबोधचन्द्र चन्द्रोदय' नाटक आदि। रीवां नरेश विश्वनाथ सिंह का 'आनन्द रघुनन्दन' नाटक हिन्दी का प्रथम मौलिक नाटक माना जाता है। जो लगभग 1700 ई. में लिखा गया था, किन्तु एक तो उसमें ब्रजभाषा का प्रयोग हुआ है, दूसरे वह रामलीला की पद्धति पर है। अतः वह भी आधुनिक

नाट्यकला से सर्वथा दूर है। हिन्दी साहित्य के आदि और मध्य युग में गद्य अत्यन्त अविकसित स्थिति में था और अभिनयशालाओं का सर्वथा अभाव था। अस्तु, हिन्दी साहित्य के आदि और मध्य युग में नाट्यकला का विकास न हो सका, जबकि हिन्दी लेखकों के सम्मुख संस्कृत की नाट्यकला अत्यन्त विकसित और उन्नत अवस्था में विद्यमान थी। आधुनिक युग में हिन्दी नाटक का सम्पर्क अंग्रेजी से स्थापित हुआ। अंग्रेज लोग नाट्यकला और मनोरंजन में अत्यधिक रुचि रखते थे और साहित्य में नाटकों की रचना भी प्रभूत मात्रा में हो चुकी थी। इसके साथ ही इस युग में हिन्दी-गद्य भी स्थिर हो गया और उसमें अभिव्यंजना शक्ति का भी विकास हो गया। इसलिए हिन्दी-नाट्यकला को पनपने का समुचित अवसर इसी युग में आकर प्राप्त हुआ।

आधुनिक हिन्दी नाटक

आधुनिक हिंदी रंगमंच की शुरुआत सन 1857 से मानी जाती हैं। यह समय हिंदी साहित्य के इतिहास में भारतेंदु युग नाम परिचित हैं। साहित्य और रंगमंच का बहुत ही करीब रिश्ता हैं। यदि साहित्य की पहली अभिव्यक्ति विधा कविता है तो नाटक एक उसी अभिव्यक्त विधा को जीवंत रूप देने में सशक्त विधा है। भारतीय नाटक की उत्पत्ति देखी जाए तो यह उत्पत्ति कब-कैसे एवं किन उपादानों के संयोग से हुई इस विषय पर विद्वानों में मंतव्य नहीं है। परन्तु किसी विद्वान् का मत भी अप्रमाणिक सिद्ध करना अत्यंत कठिन हैं। क्योंकि नाटक समाज आईना (दर्पण) होता हैं। समाज निरंतर परिवर्तनशील रहता हैं। आज का सामाजिक परिवेश अतीत के सामाजिक परिवेश काफी अधिक बदला हैं। प्रेमचंद ने भी साहित्य की बहुत सी परिभाषाए दी है पर मेरे विचार से उनकी सर्वोत्तम परिभाषा जीवन की आलोचना है। डॉ. नगेन्द्र के शब्दों में "साहित्य का जीवन से गहरा संबंध है– एक क्रिया के रूप में दूसरा प्रक्रिया के रूप में। क्रिया रूप में वह जीवन की अभिव्यक्ति है प्रतिक्रया रूप में उसका निर्माता और पोषक" इसलिए साहित्य मानव सभ्यता की विकास का द्योतक माना जाता है। आधुनिक साहित्य के आरम्भ में ही नाटक इस विधा का प्रारंभ हुआ। नाटक विधा का उदभव और विकास का विवेचन करते हुए रामचंद्र शुक्ल इतिहास में "आधुनिक गद्य –साहित्य परम्परा का प्रवर्तन शीर्षक परिच्छेद के अंतर्गत लिखते हैं कि -विलक्षण बात यह है कि आधुनिक गद्य–साहित्य की परंपरा का प्रवर्तन नाटकों से हुआ " इस बात पर हेनरी डब्ल्यू. वेल्थ भारत का प्राचीन नाटक में

लिखते है कि घटनाओं का वृत्त भी कितना विलक्षण हैं। करुण रस अपनें में तो एक ही है, लेकिन विभिन्न परिस्थितियों में उनका अलग–अलग रूप हो जाता है जैसे पानी के अलग–अलग रूप भंवर, बुलबुले, तरंगे तो है, लेकिन वास्तव में वे सब पानी ही है। इसलिए नाटक एक कला है जहां शब्दों को इस प्रकार से संगठित किया जाता है कि उसे प्रतुत करके आनंद की प्राप्ति तो होनी ही हैं उसके साथ-साथ अनुभवों के माध्यम से ज्ञान का विस्तार होना हैं। जिस प्रकार शब्दों के बिना साहित्य नहीं रचा जा सकता उसी प्रकार रंगों रेखाओं के बिना चित्रकला की कल्पना नहीं की जा सकती, उसी प्रकार इस जीवंत तत्त्वों के बिना इन प्रदर्शनकारी कलाओं के अस्तित्त्व की कोई पहचान नहीं की जा सकती। लेकिन साहित्य और प्रदर्शनकारी कलाओं को अनुभूत करने की प्रक्रिया ठीक एक-दूसरे के विपरीत मानी जाती है। नाटक यह विधा प्रकृति से संश्लिष्ट विधा मानी जाती हैं। इसी बात पर भरत मुनि जो कहा था वह इस प्रकार है "न ऐसा कोई ज्ञान है, न शिल्प है, न विधा है, न ऐसी कोई कला है,न कोई योग है न कोई कार्य ही है जो इस नाट्य में प्रदर्शित न किया जाता हो" नाटक यह विधा इस तरह मानी जाती है इसमें ऐसा कोई ज्ञान न हो जो की प्रस्तुत नहीं हुआ हो। सिंध, कला, योग इन सभी बातों का प्रयोग नाटक में होता है। इसके प्रस्तुतिकरण में अनेक कलाकारों सामूहिक योगदान होता है। जैसे– नाटक, लेखक, निर्देशक, अभिनेता, सज्जा-सहायक, मंच व्यवस्थापक, प्रकाश चालक तथा इनके पीछे काम करने वाले अनेक शिल्पी तथा कारीगर। इन सभी कलाकारों के बिना नाटक अधूरा हैं। उनके रचना में इन सबको सहयोग गुणात्मक होता है। दूसरी ओर नाटक अपने प्रकृति में सामूहिक है। इसे एक साथ अनेक लोग देख सकते। इसलिए इस विधा को आज जीवंत विधा माना जाता है। आधुनिक हिंदी नाटकों का चिंतन का स्वरुप पर चिंतन करते समय इस काल के नाटकों को भागें में बांटा गया है–आधुनिक काल की अन्य गद्य-विधाओं के ही समान हिन्दी नाटक का भी आरम्भ पश्चिम के संपर्क का फल माना जाता है। भारत के कई भागों में अंग्रेजों ने अपने मनोरंजन के लिए नाट्यशालाओं का निर्माण किया जिनमें शेक्सपीयर तथा अन्य अंग्रेजी नाटककारों के नाटकों का अभिनय होता था। उधर सर विलियम जोन्स ने फोर्ट विलियम कॉलेज में संस्कृत के 'अभिज्ञान शाकुन्तलं' के हिन्दी अनुवाद के अभिनय की भी प्रेरणा दी। इस बीच 'अभिज्ञान शाकुन्तलं' के कई हिन्दी अनुवाद हुए जिनमें राजा लक्ष्मण सिंह का अनुवाद आज भी महत्वपूर्ण माना जाता है। सन् 1859 में भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के पिता बाबू गोपालचन्द्र ने 'नहुष'

नाटक लिखा और उसको रंगमंच पर प्रस्तुत किया। इधर पारसी नाटक कम्पनियां नृत्य–संगीत प्रधान, नाटकों को बड़े धूम-धड़ाके से प्रस्तुत कर रही थी जिससे सुरुचि सम्पन्न तथा साहित्यिक गुणों के खोजी हिन्दी-साहित्यकार क्षुब्ध थे। इस सबसे प्रेरित होकर भारतेन्दु बाबू ने जनता की रुचि का परिष्कार करने के लिए स्वयं अनेक नाटक लिखे और अन्य लेखकों को नाट्य साहित्य की रचना के लिए प्रोत्साहित किया।

अध्ययन की सुविधा की दृष्टि से हिन्दी-नाट्यकला के विकास को चार कालों में बाँटा जा सकता है–

(1) भारतेन्दुयुगीन नाटक–1850 से 1900 ई.
(2) द्विवेदी युगीन नाटक–1901 से 1920 ई.
(3) प्रसाद युगीन नाटक–1921 से 1936 ई.
(4) प्रसादोत्तर युगीन नाटक–1937 से अब तक

लोकनाट्य का प्रचलित स्वरूप

रासलीला

रासलीला या कृष्णलीला में युवा और बालक कृष्ण की गतिविधियों का मंचन होता है। कृष्ण की मनमोहक अदाओं पर गोपियां यानी बृजबालाएं लट्टू थीं। कान्हा की मुरली का जादू ऐसा था कि गोपियां अपनी सुधबुध गंवा बैठती थीं। गोपियों के मदहोश होते ही शुरू होती थी, कान्हा के मित्रों की शरारतें। माखन चुराना, मटकी फोड़ना, गोपियों के वस्त्र चुराना, जानवरों को चरने के लिए गांव से दूर-दूर छोड़ कर आना ही प्रमुख शरारतें थी, जिन पर पूरा वृन्दावन मोहित था। जन्माष्टमी के मौके पर कान्हा की इन सारी अठखेलियों को एक धागे में पिरोकर यानी उनको नाटकीय रूप देकर रासलीला या कृष्ण लीला खेली जाती है। इसीलिए जन्माष्टमी की तैयारियों में श्रीकृष्ण की रासलीला का आनन्द मथुरा, वृंदावन तक सीमित न रह कर पूरे देश में छा जाता है। जगह-जगह रासलीलाओं का मंचन होता है, जिनमें सजे-धजे श्री कृष्ण को अलग-अलग रूप रखकर राधा के प्रति अपने प्रेम को व्यक्त करते दिखाया जाता है। इन रास-लीलाओं को देख दर्शकों को ऐसा लगता है मानो वे असलियत में श्रीकृष्ण के युग में पहुंच गए हों।

मूलाधार

रासलीला लोकनाटय का प्रमुख अंग है। भक्तिकाल में इसमें राधा-कृष्ण की प्रेम-क्रीड़ाओं का प्रदर्शन होता था, जिनमें आध्यात्मिकता की प्रधानता रहती थी। इनका मूलाधार सूरदास तथा अष्टछाप के कवियों के पद और भजन होते थे। उनमें संगीत और काव्य का रस तथा आनन्द, दोनों रहता था। लीलाओं में जनता धर्मोपदेश तथा मनोरंजन साथ-साथ पाती थी। इनके पात्रों-कृष्ण, राधा, गोपियों के संवादों में गम्भीरता का अभाव और प्रेमालाप का आधिक्य रहता था। कार्य की न्यूनता और संवादों का बाहुल्य होता था। इन लीलाओं में रंगमंच भी होता था, किन्तु वह स्थिर और साधारण कोटि का होता था। प्राय: रासलीला करने वाले किसी मन्दिर में अथवा किसी पवित्र स्थान या ऊँचे चबूतरे पर इसका निर्माण कर लेते थे। देखने वालों की संख्या अधिक होती थी। रास करने वालों की मण्डलियाँ भी होती थीं, जो पूना, पंजाब और पूर्वी बंगाल तक घूमा करती थीं।

रीति कविता का प्रभाव

उन्नीसवीं शती में रीति-कविता के प्रभाव से रास लीलाओं की धार्मिकता, रस और संगीत को धक्का लगा। अत: उनमें न तो रस का प्रवाह रहा और न संगीत की शास्त्रीयता। उनमें केवल नृत्य, वाग्विलास, उक्ति वैचित्र्यता की प्रधानता हो गयी। उनका उद्देश्य केवल मनोरंजन रह गया। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र की 'श्रीचन्द्रावली नाटिका' पर रासलीला का प्रभाव है और आधुनिक काल में वियोगी हरि की 'छद्म-योगिनी नाटिका' भी रासलीला से प्रभावित है। आज भी उत्तर प्रदेश के पश्चिमी जिलों-फर्रुखाबाद, मैनपुरी, इटावा, विशेषतया मथुरा-वृन्दावन, आगरा की रासलीलाएँ प्रसिद्ध है। ये प्राय: कार्तिक-अगहन, वैशाख और सावन में हुआ करती हैं।

आयोजन स्थल

आज भी रासलीला रंगमंच साधारण होता है। वह प्राय: मन्दिरों की मणि पर, ऊँचे चबूतरों या ऊँचे उठाये हुए तख्तों पर बाँसों और कपड़ों से बनाया जाता है। उसमें एक परदा रहता है। पात्र परदे के पीछे से आते रहते हैं। दृश्यान्तर की सूचना पात्रों के चले जाने पर कोई निर्देशक देता है। रंगभूमि में गायक और वादक बैठे होते हैं और सामने प्रेक्षकों के लिए खुले आकाश का प्रेक्षागृह रहता

है, कभी-कभी चाँदनी या चँदोबा भी तान दिया जाता है। वास्तविक रासलीला प्रारम्भ होने से पूर्व आयी हुई जनता के मनोरंजन और आने वाली जनता के प्रतीक्षार्थ रंगभूमि में भजन-गान ढोलक, मंजीरा, हारमोनियम तथा सितार के साथ होता रहता है। लीलारम्भ से कुछ पहले सूत्रधार की भाँति एक ब्राह्मण या पुरोहित व्यवस्थापक के रूप में आता है, जो राधा-कृष्ण की दिखलायी जाने वाली लीला का निर्देश करता है और उसके पात्रों और लीला (कथा) की प्रशंसा कर प्रेक्षकों उनकी ओर आकृष्ट करता है। यह प्ररोचना और प्रस्तावना जैसा कार्य है। पश्चात परदा उठता है और राधा-कृष्ण की युगल छवि की आरती की जाती है। आरती के समय रंगभूमि के गायकादि तथा प्रेक्षक उठ खड़े होते हैं। परदा फिर गिरता है और उसके अनन्तर निश्चित लीला का कार्यक्रम प्रारम्भ हो जाता है।

प्रस्तुतीकरण

रासलीला के पात्रों में राधा-कृष्ण तथा गोपिकाएँ रहती है। बीच-बीच में हास्य का प्रसंग भी रहता है। विदूषक के रूप में 'मनसुखा' रहता है, जो विभिन्न गोपिकाओं के साथ प्रेम एंव हँसी की बातें करके कृष्ण के प्रति उनके अनुराग को व्यंजित करता है, साथ-ही-साथ दर्शकों का भी मनोरंजन करता है। जब कभी परदें के पीछे नेपथ्य में अभिनेताओं को वेशविन्यास या रूपसज्जा करने में विलम्ब होता है तो उस अवकाश के क्षणों के लिए कोई हास्य या व्यंग्यपूर्ण दो पात्रों के प्रहसन की योजना कर ली जाती है, किन्तु यह कार्य लीला से सम्बन्धित नहीं होता। रास-कार्य सम्पन्न करने वाले रासधारी कहलाते हैं।

रासलीला

वे प्रायः बालक और युवा पुरुष होते हैं। लीला में हास्य का पुट और शृंगार का प्राधान्य रहता है। उसमें कृष्ण का गोपियों, सखियों के साथ अनुरागपूर्ण वृताकार नृत्य होता है। कभी कृष्ण गोपियों के कार्यों एवं चेष्टाओं का अनुकरण करते है और कभी गोपियाँ कृष्ण की रूप चेष्टादि का अनुकरण करती है और कभी राधा सखियों के, कृष्ण की रूपचेष्टाओं का अनुकरण करती है। यही लीला है।

कभी कृष्ण गोपियों के हाथ में हाथ बाँधकर नाचते है इन लीलाओं की कथावस्तु प्रायः राधा-कृष्ण की प्रेम क्रीड़ाएँ होती है, जिनमें सूरदास आदि कृष्ण

भक्त कवियों के भजन गाये जाते हैं। कार्य की अधिकता नहीं, वरन पद प्रधान संवाद, सौन्दर्य, नृत्य, गीत, वेणुध्वनि, ताल, लय, रस की अबाध धारा बहती है। रंग संकेतों के लिए पर्दे के पीछे निर्देशक रहता है, जो अभिनेताओं के भूल जाने पर संवादों के वाक्य या भजन एंव पद की पंक्ति, स्मरण करा देता है। लीला में अभिनय कम, संलाप अधिक रहता है। कृष्ण धीर ललित नायक होते हैं, जो समस्त कलाओं के अवतार माने जाते हैं। राधा उनकी अनुरंजक शक्ति के रूप में दिखायी जाती है। वहीं समस्त गुणों एवं कलाओं की खान नायिका बनती है। गोपियाँ, सखियाँ-सभी यौवना और भावप्रगल्भा होती है। उनमें शोभा, विलास, माधुर्य, कान्ति, दीप्ति, विलास, विच्छित, प्रागल्भ्य, औदार्य, लीला, हाव, हेला, भाव आदि सभी अलंकार होते हैं।

समापन

रासलीला के अन्त में युगल छवि की पुनः आरती होती है। इस बार प्रेक्षक जनता भी आरती लेती है और आरती के थाल में पैसे-रुपये के रूप में भेंट चढ़ाती है। इस बार आरती के बाद लीला के विषय में मंगल कामना की जाती है। यह एक प्रकार का भरत वाक्य है। पश्चात लीला का कार्यक्रम समाप्त हो जाता है और पटाक्षेप हो जाता है। रासलीला हल्लीश, श्रीगदित, काव्य, गोष्टी, नाटयरासक का ही लोकाश्रय द्वारा परिवर्तित नाटयरूप है। आस्थावान व्यक्ति रासलीला का अपनी मान्यता के अनुसार भाष्य करते हैं। श्रीकृष्ण परब्रह्म हैं, राधा और गोपियाँ जीव आत्माएँ, रासलीला परमात्मा और जीवात्मा का सम्मिलन है। जो लोक में भी राधा तथा अन्य सखियों के साथ कृष्ण नित्य रासलीला में लगे रहते हैं।

नौटंकी

नौटंकी उत्तर भारत, पाकिस्तान और नेपाल के एक लोक नृत्य और नाटक शैली का नाम है। यह भारतीय उपमहाद्वीप में प्राचीनकाल से चली आ रही स्वांग परम्परा की वंशज है और इसका नाम मुल्तान (पाकिस्तानी पंजाब) की एक ऐतिहासिक 'नौटंकी' नामक राजकुमारी पर आधारित एक 'शहजादी नौटंकी' नाम के प्रसिद्ध नृत्य-नाटक पर पड़ा। नौटंकी और स्वांग में सबसे बड़ा अंतर यह माना जाता है कि जहाँ स्वांग ज्यादातर धार्मिक विषयों से ताल्लुक रखता है और उसे थोड़ी गंभीरता से प्रदर्शित किया जाता है वहाँ नौटंकी के मौजू प्रेम और वीर-रस

पर आधारित होते हैं और उनमें व्यंग्य और तंज मिश्रित किये जाते हैं। पंजाब से शुरू होकर नौटंकी की शैली तेजी से लोकप्रिय होकर पूरे उत्तर भारत में फैल गई। समाज के उच्च-दर्जे के लोग इसे 'सस्ता' और 'अश्लील' समझते थे लेकिन यह लोक-कला पनपती गई। स्वाँग और लीला के समान ही नौटंकी भी लोक-नाटय का प्रमुख रूप है। इसका प्रारम्भ मुगल काल से पहले का है। रासलीला के समान इसका रंगमंच भी अस्थिर, कामचलाऊ और निजी होता है। नौटंकी अत्यंत ही लोकप्रिय और प्रभावशाली लोककला है। यह लोककला जनमानस के मन से भीतर तक जुड़ी हुई है। नौटंकी को गाँवों वालों के लिए जानकारी प्रदान करने, सामाजिक कुरीतियों से परिचित कराने और सस्ता, किंतु स्वस्थ मनोरंजन का ज्ञानवर्धक और मनोरंजक साधन माना जाता है। उत्तर प्रदेश के लगभग सभी बड़े शहरों-लखनऊ, आगरा, मेरठ, वाराणसी, गाजीपुर, जौनपुर, आजमगढ़, मिर्जापुर, गोरखपुर, बलिया, मथुरा आदि में दर्जनों नौटंकी और थियेटर कम्पनियाँ थीं।

नौटंकी का अर्थ

नौटंकी, स्वाँग, भगत प्रायः पर्यायवाची हैं।

भगत

वस्तुतः भगत शब्द बताता है कि यह कभी भक्ति की अभिव्यक्ति का माध्यम होगी, किन्तु आज गत में भक्ति का अथवा धार्मिक तत्त्व का स्थान उसके आरम्भिक अनुष्ठानों में अथवा आरम्भिक मंगलाचरण में रह गया है। आरम्भिक अनुष्ठान में साधारणतः शक्तिपूजा के अवशेष दिखाई पड़ते हैं।

स्वाँग

स्वाँग के साथ वह अनुष्ठान भी नहीं, केवल आरम्भिक सरस्वती वन्दना मिलती है। शेष स्वाँग का धार्मिकता से सामान्यतः कोई सम्बन्ध नहीं रहता। स्वाँग या भगत मूलतः संगीतरूपक है। इसमें यों तो कोई भी प्रसिद्ध लोककथा खेली जा सकती है, पर शृंगार रस प्रधान अथवा प्रेमगाथा की कोटि की रचनाएँ ही प्रधानता पाती रही हैं। प्रेमलीला अथवा रोमांच का संस्पर्श किसी न किसी रूप में होना ही चाहिए।

नौटंकी

नौटंकी में यों तो कोई भी प्रसिद्ध लोककथा खेली जा सकती है, किंतु श्रृंगार रस प्रधान अथवा प्रेमगाथा की कोटि की रचनाएँ ही प्रधानता पाती रही हैं। प्रेमलीला अथवा रोमांच का संस्पर्श किसी न किसी रूप में होना ही चाहिए। इसी को नौटंकी भी कहा जाता है। नौटंकी मूलत: किसी प्रेम कहानी केवल नौ टंक तौलवाली कोमलांगी नायिका होगी। वही संगीत-रूपक में प्रस्तुत की गयी और वह रूप ऐसा प्रचलित हुआ कि अब प्रत्येक संगीत-रूपक या स्वाँग ही नौटंकी कहा जाने लगा है। भरत मुनि ने नाटय शास्त्र में जिस सट्टक को नाटक का एक भेद माना है, इसके विषय में जयशंकर प्रसाद और हजारी प्रसाद द्विवेदी का कहना है कि सट्टक नौटंकी के ढंग के ही एक तमाशे का नाम है।

स्वरूप

नौटंकी में छोटे-छोटे बालक स्त्रियों का वेश धारण करते हैं और उनका अभिनय किया करते हैं। दृश्यों के अभाव में सूत्रधार मंच पर आकर दृश्यों के घटित होने के स्थान एवं समय और पात्रों के विषय में दर्शकों को सूचना दिया करता है। इनकी कथाओं का सम्बन्ध पौराणिक आख्यानों से न होकर लौकिक वीर, प्रणयी, साहसिक, भक्त पुरुषों के कार्यों से होता है। उन्हीं का प्रदर्शन इनमें किया जाता है। पंजाब में गोपीचन्द', पूरन भक्त और हकीकतराय का संगीत अत्यधिक लोकप्रिय है। एक ओर सीमित मात्रा में नृत्य, गायन, काव्य पाठ, कथा-पाठ, मूक अभिनय एवं हास्य के धागों से बुनी ऐतिहासिक, पौराणिक अथवा समसामयिक विषय पर केन्द्रित कथा-वस्तु की लोकशैली में प्रस्तुति, नौटंकी की विशेषता रही, तो दूसरी ओर भाषा, संगीत, कास्टयूम एवं चरित्र की दृष्टि से हिन्दू एवं मुस्लिम संस्कृति का समन्वय इसका स्वरूप। नौटंकी एवं नकल का स्वरूप धर्मनिरपेक्ष रहा तो रामलीला, रासलीला का धार्मिक।

आधुनिक स्वरूप

आज नौटंकी का रूप बदला हुआ है। इसका रंगमंच प्राय: उठाऊ और साधारण होता है, जिसका निर्माण खुले मैदान में लट्ठों, बाँसों और कपड़ों की चादरों से किया जाता है। दर्शकों के लिए दूर तक चाँदनी तान दी जाती है और रंगभूमि बड़े-बड़े तख्तों से बनायी जाती है। प्राय: एक परदे का व्यवहार किया

जाता है, जो अभिनेताओं के रंग-भूमि में आने पर उठता है और उनके चले जाने पर गिरता है। कभी-कभी कार्य व्यापार चलते समय पात्रों का प्रवेश नेपथ्य अथवा मैदान से दर्शकों के बीच से होकर हो जाता है। इसका प्रेक्षागृह इतना बड़ा बनाया जाता है कि चाँदनी के नीचे सैकड़ों दर्शक बैठ जाएँ और न बैठ सकने पर पास के खुले मैदान को उपयोग में लाया जाता है। अब इसमें अनेक दृश्य होने लगे हैं, किन्तु प्रत्येक दृश्य की कार्य की सूचना सूत्रधार ही देता है। वही प्रारम्भ में लीला या कहानी के लेखक, पात्र तथा कथा आदि के विषय में दर्शकों को सूचना देता है और उनमें उनके प्रति उत्सुकता तथा जिज्ञासा उत्पन्न कर देता है।

इतिहास

16वीं शताब्दी के प्रसिद्ध इतिहासकार अबुल फजल की आइने अकबरी में नौटंकी का उल्लेख मिलता है। यह ऐतिहासिक तथ्य है कि नौटंकी नामक शहजादी के नाम पर, एक गीत नाटय शहजादी नौटंकी की अपार लोकप्रियता ने इस विधा को नौटंकी नाम दिया। कुछ विद्वान यह मानते हैं कि नाटक से नाटकी एवं नाटकी से नौटंकी नाम पड़ा। एक दृष्टिकोण यह भी है कि इसका टिकट नौटंकी होने के कारण इसका नाम नौटंकी नाम पड़ गया। कुछ विद्वान यह मानते है कि मथुरा-वृन्दावन के भगत एवं रास एवं राजस्थान की ख्याल लोक विधा से ही नौटंकी का जन्म हुआ। स्वांग या संगीत एवं उत्तर भारत की रामलीला जैसी अन्य लोक विधाओं की लोकप्रियता कम नहीं रही, लेकिन अपने विविध आयामी स्वरूप के कारण नौटंकी ने जो लोकप्रियता प्राप्त की, वह अकल्पनीय है। ऐतिहासिक दृष्टि से नौटंकी विधा के 5 अखाड़े हैं। मुजफ्फरनगर, सहारनपुर, कासगंज, कानपुर एवं हाथरस, किंतु नौटंकी के दो विशेष अखाड़े ही महत्त्वपूर्ण माने जाते हैं। हाथरस, मथुरा, पश्चिमी उत्तर प्रदेश में एवं कानपुर, लखनऊ मध्य उत्तर प्रदेश में।

प्रसिद्ध नाटककार और कवि जयशंकर प्रसाद और हजारी प्रसाद द्विवेदी का मानना है कि सट्‌टक नौटंकी के भाँति एक तमाशे का नाम है। प्रसाद ने अपने निबंध रंगमंच में नौटंकी को नाटक का अपभ्रंश माना है। प्रसाद का कहना है कि नौटंकी प्राचीन रागकाव्य या गीतिकाव्य की ही स्मृति है।

हजारी प्रसाद द्विवेदी के मतानुसार, नौटंकी का वर्तमान रूप चाहे जितना आधुनिक हो, उसकी जड़ें बड़ी गहरी हैं।

रामबाबू सक्सेना ने अपनी पुस्तक तारीख-ए-अदब-ए-उर्दू में लिखा है कि नौटंकी लोकगीतों और उर्दू कविता के मिश्रण से पनपी है।

कालिका प्रसाद दीक्षित कुसुमाकर का मानना है कि नौटंकी का जन्म संभवत: ग्यारहवीं-बारहवीं शताब्दी में हुआ था। 13वीं शताब्दी में अमीर खुसरो के प्रयत्न से नौटंकी को आगे बढ़ने का अवसर मिला। खुसरो ने अपनी रचनाओं में जिस भाषा का प्रयोग किया है, वैसी ही भाषा और उन्हीं के छंदों से मिलते-जुलते छंदों का प्रयोग नौटंकी में बढ़ने लगा।

कथानक

नौटंकी का कथानक प्रणय, वीरता, साहसपूर्ण घटनाओं से भरा रहता है। वह किसी लोकप्रसिद्ध वीर या साहसी या भागवत पुरुष की जीवन कथा पर अवलम्बित रहता है।

संबंधित लोककथा

संगीत प्रधान लोकनाट्य के नौटंकी नाम के विषय में एक लोक प्रेमकथा प्रचलित है। ऐसा कहा जाता है कि पंजाब के स्यालकोट के राजा राजोसिंह के छोटे बेटे फूलसिंह ने शिकार खेलकर लौटने पर भाभी से पीने के लिए पानी माँगा। भाभी ने पानी देने के स्थान पर व्यंग्य किया—जाओ, मुल्तान की राजकुमारी नौटंकी से शादी कर लो। फूलसिंह मुल्तान पहुँच गया और शाही मालिन के द्वारा नौटंकी के पास एक हार भेज दिया। नौटंकी के पूछने पर मालिन ने कह दिया-मेरे भाँजे की वधू ने यह हार बनाया है। नौटंकी ने जब उसे भाँजे की वधू को भेजने के लिए कहा, तो फूलसिंह स्त्री के वेश में नौटंकी के शयनकक्ष में पहुँच गया। रात में साथ सोने के क्रम में फूलसिंह का यह भेद खुल गया और अंतत: दोनों की शादी हो गई।

पात्र चित्रण

नौटंकी में अनेक स्त्री-पुरुष पात्र होते हैं। स्त्री-पात्रों का अभिनय या तो विवाहिता या कुमारी स्त्रियाँ करती हैं अथवा वेश्याएँ करती हैं। वेश्याएँ दृश्यान्त में मंच पर आकर अपने नृत्य-गान, हाव-भाव, मुद्राओं से जनता का मनोरंजन करती हैं और नेपथ्य में अभिनेताओं को रूपसज्जा आदि करने का अवकाश देती हैं।

संगीत

रंगभूमि में एक ओर गायकों, वाद्य वादकों का समूह भी रहता है, जो अभिनय, संवाद, नृत्य की तीव्रता, उत्कटता बढ़ाता रहता है। तबला और नगाड़े का विशेष प्रयोग होता है। तबले के तालों और नगाड़े की चोबों की गूँज रात में मीलों सुनाई पड़ती है, जिसके आकर्षण से सोते हुए ग्रामीण भी नौटंकी देखने पहुँच जाते हैं।

हास्य और संवाद संयोजन

रूचि-वैचित्र्य के समाधान, स्वाद के परिवर्तन और शान्ति व्यवस्था बनाये रखने के लिए हास्यपूर्ण प्रसंगों की योजना रहती है, जिसमें नारी-पुरुष के रूप में पात्र प्रहसन प्रस्तुत करते हैं। प्रायः संवाद पद्यप्रधान होते हैं। अभिनेता मंच पर दर्शकों की ओर जा-जाकर उत्तर-प्रत्युत्तर देते हैं और प्रश्न करते हैं। इस प्रकार संवाद प्रायः प्रश्नोत्तरात्मक होते हैं। उनमें उत्तेजना, साहस और दर्पपूर्ण उक्ति का बाहुल्य और प्रेम-प्रसंगों का आधिक्य रहता है। अधिकतर किसी वीर नायक को प्यार के फाँस में फँसा दिखाया जाता है, जिसके कारण उसका पतन हो जाता है।

उपदेशपूर्ण अंत

अन्त में परिणाम उपदेशपूर्ण दिखाया जाता है। सुल्तान डाकू की नौटंकी उदाहरण के रूप में ली जा सकती है। जहाँ भक्तचरित को दिखाया जाता है, वहाँ भक्त के मार्ग में अनेक कठिनाइयाँ दिखाई जाती हैं। अन्त में उसकी विजय प्रदर्शित की जाती है। यद्यपि नौटंकी के समाप्त होने तक उद्देश्य प्रकट कर दिया जाता है, तथापि सूत्रधार अन्त में फिर मंच पर आकर भलाई करने और बुराई से बचने, सत्य-धर्म के निबाहने की शिक्षा देता है। प्रकाश की योजना आद्यन्त एक समान रहती है। नौटंकी के प्रारम्भ होने का समय रात के 8 बजे से और समाप्त होने का समय प्रातः पाँच बजे तक है। कभी-कभी कथा के विस्तार या जमी हुई भीड़ के कारण कार्यक्रम सूर्योदय तक चलता रहता है।

नौटंकी के लिए उचित समय

प्रायः नौटंकी कार्तिक, मार्गशीर्ष अथवा चैत्र, वैशाख के महीनों में हुआ करती है। मेलों के अवसरों पर इनका विशेष आयोजन होता है। उत्तर प्रदेश के

मेलों का नौटंकी अभिन्न अंग होती है। इसके अतिरिक्त साप्ताहिक बाजारों में भी नौटंकी होती हैं।

प्रसिद्ध नौटंकी

नौटंकी की जन्मस्थली उत्तर प्रदेश है। हाथरस और कानपुर इसके प्रधान केंद्र है। उत्तर प्रदेश के पश्चिमी जिलों-फर्रुखाबाद, शाहजहाँपुर, कानपुर, एटा, इटावा, मैनपुरी, मेरठ, सहारनपुर आदि में इसका विशेष प्रचार है। उधर चिभुवन-मण्डली की नौटंकी विशेष प्रसिद्ध है। ग्वालियर की नौटंकी भी प्रख्यात है। रासमण्डलियों के सदृश नौटंकी की भी मण्डलियाँ होती हैं, जो एक स्थान से दूसरे स्थानों पर घूम-घूमकर नौटंकी के प्रदर्शन किया करती हैं। नौटंकी ग्रामीण जनता की नाटयवृत्तियों का समाधान करने वाले मुख्य साधनों में अत्यधिक महत्त्वशाली है। इस पर पारसी थियेटरों तथा नाटकीय रंगमंच का विशेष प्रभाव है। परन्तु आज चलचित्र के व्यापक प्रसार से इसकी वृद्धि और इसके प्रभाव में अन्तर आ गया है।

छंद

नौटंकी, भगत अथवा स्वाँग का मुख्य छन्द चौबोला है। इस चौबोले के दो रूप मिलते हैं, एक छोटी तान का, दूसरी लम्बी तान का। प्रत्येक चौबोले का आरम्भ दोहे से होता है, जिसका अन्तिम चरण कुण्डलिया की भाँति आगे के चौबोले से कुण्डलित रहता है।

रंगमंच

रंगमंच (थिएटर) वह स्थान है जहाँ नृत्य, नाटक, खेल आदि हों। रंगमंच शब्द रंग और मंच दो शब्दों के मिलने से बना है। रंग इसलिए प्रयुक्त हुआ है कि दृश्य को आकर्षक बनाने के लिए दीवारों, छतों और पर्दों पर विविध प्रकार की चित्रकारी की जाती है और अभिनेताओं की वेशभूषा तथा सज्जा में भी विविध रंगों का प्रयोग होता है और मंच इसलिए प्रयुक्त हुआ है कि दर्शकों की सुविधा के लिए रंगमंच का तल फर्श से कुछ ऊँचा रहता है। दर्शकों के बैठने के स्थान को प्रेक्षागार और रंगमंच सहित समूचे भवन को प्रेक्षागृह, रंगशाला, या नाट्यशाला (या नृत्यशाला) कहते हैं। पश्चिमी देशों में इसे थिएटर या ऑपेरा नाम दिया जाता है।इसके सहकारी वाद्यवृन्दों में नगाड़ा अनिवार्य है। भगत का रंगमंच

बल्लियों के स्तम्भ बनाकर आदमी से ऊँची बाड़ बाँधकर बनता है। बाड़ों की एक ऐसी वीथिका बनायी जाती है, जिसके बीच में स्थान खाली रहता है। इन बाड़ों पर अभिनेता एक स्थान से चलकर चारों और घूम आता है। हर ओर उसे चौबोला दुहराना पड़ता है। स्वाँग का रंगमंच सादा होता है। भूमि से कुछ ऊँचा एक लम्बे-चौड़े तख्त जैसा चारों ओर खुला होता है। प्रसिद्ध स्वाँगों में स्याहपोश, अमरसिंह राठौर, पूरनमल, हरिश्चन्द्र आदि गिने जाते हैं।

भाषा

नौटंकी की भाषा में हिंदी, उर्दू, लोकभाषा एवं क्षेत्रीय बोलियों के शब्दों का अधिक प्रयोग होता है। नौटंकी के संवाद गद्य और पद्य दोनों में बोले जाते हैं। पात्रों के अनुसार भाषा का रूप भिन्न नहीं होता। नौटंकी की भाषा लाक्षणिक ना होकर सरल और सुबोध होती है। नौटंकी में बहरेतबील, चौबोला, दोहा, लावणी, सोरठा, दौड़ आदि छंदों का विशेष रूप से प्रयोग किया जाता है। नौटंकी के संगीत में नगाड़े का विशेष स्थान होता है। इसके अतिरिक्त ढोलक, डफ और हारमोनियम का भी प्रयोग किया जाता है।

2

भारतेन्दु-युगीन नाटक

हिन्दी साहित्य के इतिहास में आधुनिक काल के प्रथम चरण को 'भारतेन्दु युग' की संज्ञा प्रदान की गई है और भारतेन्दु हरिश्चन्द्र को हिन्दी साहित्य के आधुनिक युग का प्रतिनिधि माना जाता है। भारतेन्दु का व्यकितत्त्व प्रभावशाली था, वे सम्पादक और संगठनकर्ता थे, वे साहित्यकारों के नेता और समाज को दिशा देने वाले सुधारवादी विचारक थे, उनके आसपास तरुण और उत्साही साहित्यकारों की पूरी जमात तैयार हुई, अतः इस युग को भारतेन्दु-युग की संज्ञा देना उचित है। डा. लक्ष्मीसागर वाष्णेर्य ने लिखा है कि 'प्राचीन से नवीन के संक्रमण काल में भारतेन्दु हरिश्चन्द्र भारतवासियों की नवोदित आकांक्षाओं और राष्ट्रीयता के प्रतीक थे, वे भारतीय नवोत्थान के अग्रदूत थे।

जिस समय खड़ी बोली गद्य अपने प्रारम्भिक रूप में थी, उस समय हिन्दी के सौभाग्य से भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने साहित्य के क्षेत्र में प्रवेश किया। उन्होंने राजा शिवप्रसाद तथा राजा लक्ष्मण सिंह की आपस में विरोधी शैलियों में समन्वय स्थापित किया और मध्यम मार्ग अपनाया।

इस काल में हिन्दी के प्रचार में जिन पत्र-पत्रिकाओं ने विशेष योग दिया, उनमें उदन्त मार्तण्ड, कवि वचन सुधा, हरिश्चन्द्र मैगजीन अग्रणी हैं। इस समय हिन्दी गद्य की सर्वांगीण प्रगति हुई और उसमें उपन्यास, कहानी, नाटक, निबन्ध, आलोचना, जीवनी आदि विधाओं में अनूदित तथा मौलिक रचनाएं लिखी गयीं।

भारतेन्दु मण्डल

बहुमुखी प्रतिभा के धनी भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने प्रभूत साहित्य रचा एवं अनेक साहित्यकारों को अपनी प्रतिभा से प्रभावित एवं प्रेरित किया। इन लेखकों में बालकृष्ण भट्ट, प्रतापनारायण मिश्र, बद्रीनारायण चौधरी 'प्रेमघनश, राधाचरण गोस्वामी एवं रायकृष्णदास प्रमुख हैं। इन्होंने हिन्दी-साहित्य को समृद्ध बनाया। यही भारतेन्दु का समकालीन एवं सहयोगी साहित्यकार मण्डल 'भारतेन्दु मण्डल' के नाम से प्रसिद्ध हुआ। हिन्दी साहित्य में यह समय भारतेन्दु युग के नाम से अभिहित किया जाता है।

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र (1850-1885), बाबा सुमेर सिंह, बदरी नारायण प्रेमघन (1855-1923), प्रताप नारायण मिश्र (1856-1894), राधाकृष्ण दास (1865-1907), अम्बिका दत्त व्यास (1858-1900) और ठाकुर जगमोहन सिंह (1857-1899) इस युग के प्रमुख कवि हैं। अन्य कवियों में रामकृष्ण वर्मा, श्री निवासदास, लाला सीताराम, राय देवी प्रसाद, बालमुकुन्द गुप्त, नवनीत चौबे आदि हैं।

भारतेन्दुयुगीन कविता की मुख्य विशेषताएँ

इस युग की अधिकांश कविता वस्तुनिष्ठ एवम् वर्णनात्मक है। छंद, भाषा एवम् अभिव्यंजना पद्धति में प्राचीनता अधिक है, नवीनता कम। खड़ी बोली का आन्दोलन प्रारम्भ हो चुका था, किन्तु कविता के क्षेत्र में ब्रज ही सर्वमान्य भाषा रही।

भारतेन्दुयुगीन कविता की प्रमुख विशेषताएँ निम्नलिखित हैं-

देश-भक्ति और राष्ट्रीय-भावना –इस काल की कविता की मुख्य प्रवृति देशभक्ति की है। 1857 के स्वतंत्रता संग्राम के बाद भारत का शासन कंपनी के हाथ ब्रिटिश सरकार ने ले लिया था। जिससे जनता को शांति और सुरक्षा की आशा बँधी। इसलिए कविता में राज-भक्ति का स्वर सुनाई पड़ता है। इसमें ब्रिटिश शासकों की गुलामी के साथ-साथ देश की दशा सुधारने की प्राथना भी है। जैसे,

करहु आज सों राज आप केवल भारत हित,
केवल भारत के हित साधन में दीजे चित। (प्रेमघन)

इस युग के कवि देश की दयनीय दशा से उत्पन्न क्षोभ के कारण ईश्वर से प्रार्थना करते हैं-

कहाँ करुणानिधि केशव सोए?
जानत नाहिं अनेक जतन करि भारतवासी रोए। (भारतेन्दु)

तो कहीं-कहीं उन्होंने ब्रिटिश साम्राज्यवादी नीति के प्रति असंतोष व्यक्त करते हुए स्वतंत्रता का महत्व बताया है-

सब तजि गहौ स्वतंत्रता, नहिं चुप लातै खाव।
राजा करै सो न्याव है, पाँसा परे सो दाँव॥

जनवादी विचारधारा – भारतेन्दुयुगीन कविता की दूसरी प्रमुख विशेषता है- जनवादी विचारधारा। डॉ. रामविलास शर्मा के मतानुसार भारतेन्दु युग की जनवादी भावना उसके समाज-सुधार में समायी हुई है। इस युग का साहित्य भारतीय समाज के पुराने ढाँचे से संतुष्ट न होकर उसमें सुधार चाहता था। इस युग के कवियों ने समाज के दोष युक्त अंग की आलोचना की है-

निज भाषा उन्नति अहै, सब उन्नति को मूल।
भारतेन्दु मेम-मेहरानी के बारे में कहते हैं-
का भवा, आवा है ए राम जमाना कैसा।
कैसी महरारू है ई, हाय जमाना कैसा।

भारतेन्दु युगीन कविता में साम्प्रत समाज की दशा का, विदेशी सभ्यता के संकट का, पुराने रोजगार के बहिष्कार का स्वर दिखाई देता है। इस युग में दो विचार-धाराएँ दिखाई देती हैं- 1.पुराणवादी परंपरा के समर्थकों की और 2. आधुनिक व्यापक दृष्टि वालों की। किन्तु भारतेन्दु ने मध्यम मार्ग अपनाया था। भारतेन्दु ने सामाजिक दोषों, रूढ़ियों, कुरीतियों का घोर विरोध किया है। उन्होंने धर्म के नाम पर होने वाले ढोंग की पोल खोल दी है। छुआछूत के प्रचार के प्रति क्षोभ के स्वर कवि में हैं। प्रतापनारायण मिश्र स्त्रियों की शिक्षा के पक्षपाती हैं, बाल-विवाह के विरोधी तथा विधवाओं के दुख से दुखी है।

प्राचीन परिपाटी की कविता – भक्ति और शृंगार - इस युग में प्राचीन परिपाटी का कविता का सृजन हुआ था। भक्ति और शृंगार की परंपराएं इस युग तक चलती रही, परिणाम भारतेन्दु तथा अन्य कवियों ने इसका अनुसरण किया। कुछ कवियों ने नख-शिख वर्णन किया तो कुछ ने दान-लीला, मृगया की रीतिकालीन पद्धति अपनायी। इस प्रकार इस युग की कविता में भक्ति,शृंगार एवम् प्रेम-वर्णन के सुंदर नमूने मिलते हैं। जैसे,

ब्रज के लता पता मोहि कीजै।
गोपी पद पंकज पावन की रव जायैं सिर घीजै॥ (भारतेन्दु)

साजि सेज रंग के महल में उमंग भरी।
पिय गर लागी काम-कसक मिटायें लेत।

उन्होंने रीति कालीन आचार्यों की तरह स्वरति, समरति, चित्ररति, वस्त्ररति, पपड़ीपन आदि यौन-विकृतियों के चित्र वर्णित किये हैं।

प्रेम-वर्णन- सखी ये नैना बहुत बुरे।
तब सों भये पराये, हरि सों जब सों जाइ जुरे।
मोहन के रस बस ह्वै डोलत तलफत तनिक बुरे।

कलात्मकता का अभाव रू भारतेन्दुयुगीन कविता की चौथी मुख्य प्रवृत्ति है- कलात्मकता का अभाव। नवयुग की अभिव्यक्ति करने वाली यह कविता कलात्मक न हो सकी। जिसके कारण ये हैं-

(1) इस काल में विचारों का संक्रांति काल था जिसके कारण में इसमें कलात्मकता का अभाव रहा।
(2) इस युग में कवि समाचार-पत्रों द्वारा अपनी कविता का प्रचार करते थे, इसलिए उन्हें इसे काव्यपूर्ण बनाने की चिंता नहीं थी।
(3) भाषा का अस्तित्त्व और नागरी आंदोलन के कारण भी कविता कलात्मकता धारण न कर सकी। क्योंकि इस आंदोलन के लिए कवियों को जनमत जागरित करना था जो कि जनवाणी से ही संभव था।

कहने का मतलब यह है कि इस युग के कवि तत्कालीन राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक, सांस्कृतिक, धार्मिक एवम् भाषा संबंधी समस्याओं में इतने व्यस्त थे कि वे नवयुग की चेतना को कलात्मक एवम् प्रभावशाली ढंग से अभिव्यक्त न कर सके और उसमें सर्वत्र यथार्थ की अनुभूति की सच्चाई सरल भाषा-शैली में अभिव्यक्त हुई। जैसे,

खंडन-मंडन की बातें सब करते सुनी सुनाई।
गाली देकर हाय बनाते बैरी अपने भाई॥
हैं उपासना भेद न उसके अर्थ और विस्तार।
सभी धर्म के वही सत्य सिद्धांत न और विस्तारो॥

काव्य में ब्रजभाषा का प्रयोग – इस काल की भाषा प्रमुख रूप से ब्रजभाषा ही रही। खड़ीबोली गद्य तक ही रही थी। किन्तु इस युग के अंतिम दिनों में खड़ीबोली में कविता करने का आन्दोलन प्रारम्भ हो गया था, जिसके कारण द्विवेदी युग में कविता के क्षेत्र में खड़ीबोली का प्रयोग शुरू हो जाता है।

बद्रीनारायण चौधरी, अंबिकादत्त व्यास, प्रतापनारायण मिश्र आदि कवियों ने भारतेन्दु काल में खड़ीबोली में कविता करने का प्रयास किया था। जैसे-

हमें जो हैं चाहते निबाहते हैं प्रेमघन,
उन दिलदारों से ही,मेल मिला लेते हैं। (प्रेमघन)
भारतेन्दु की खड़ी बोली का एक उदाहरण देखें-
साँझ सबेरे पंछी सब क्या कहते हैं कुछ तेरा है।

हम सब एक दिन उड़ जायेंगे यह दिन चार सबेरा है। इससे स्पष्ट है कि भारतेन्दु युग में खड़ी बोली में उच्चकोटि की रचना नहीं मिलती। इसका कारण स्पष्ट है कि इस युग ब्रज भाषा पर रिझे हुए थे। इस प्रकार भाव-व्यंजना का प्रधान माध्यम ब्रजभाषा ही रही।

हास्य-व्यंग्य एवम् समस्या पूर्ति – इस युग में हास्य-व्यंग्यात्मक कविताएँ भी काफी मात्रा में लिखी गई। सामाजिक कुरीतियों और अंधविश्वासों तथा पाश्चात्य संस्कृति पर करारे व्यंग्य किए गए। इस दृष्टि से प्रेमघन और प्रतापनारायण मिश्र की रचनाएँ सर्वोत्तम हैं। समस्या-पूर्ति इस युग की काव्य-शैली थी और उनके मंडल के कवि विविध विषयों पर तत्काल समस्यापूर्ति किया करते थे। रामकृष्ण वर्मा, प्रेमघन, ब्रेनी ब्रज आदि कवि तत्काल समस्या-पूर्ति के लिए प्रसिद्ध थे।

प्राचीन छंद-योजना – भारतेन्दु युग में कवियों ने छन्द के क्षेत्र में कोई नवीन एवम् स्वतंत्र प्रयास नहीं किया। इन्होंने परम्परा से चले आते हुए छन्दों का उपयोग किया है। भक्ति और रीति काल के कवित्त, सवैया, रोला, दोहा, छप्पय आदि छंदों का इन्होंने प्रयोग किया। जब कि जातीय संगीत का सादारम लोगों में प्रचार करने के लिए भारतेन्दु ने कजली, ठुमरी, खेमटा, कहरवा, गजल, श्रद्धा, चौती, होली, सांझी, लावनी, बिरहा, चनैनी आदि छन्दों को अपनाने पर जोर दिया था।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि इस युग में परम्परा और आधुनिकता का संगम है। कविता की दृष्टि से यह संक्रमण का युग था। कवियों के विचारों में परिवर्तन हो रहा था। परम्परागत संस्कारों का पूर्ण रूप से मोहभंग हुआ भी न था और साथ में नवीन संस्कारों को भी वे अपना रहे थे। काशी नवजारण का प्रमुख केन्द्र था और यहां का साहित्यिक परिवेश भी सर्वाधिक जागरूक था। तत्कालीन परिवर्तनशील सामाजिक मूल्यों का भी उन पर प्रभाव पड़ रहा था।

भारतेन्दुकालीन कथा

कथा साहित्य के अन्तर्गत उपन्यास एवं कहानी को ग्रहण किया जाता है। भारतेन्दु काल में इन दोनों का लेखन प्रारम्भ हुआ, जिनके पृथक-पृथक विवेचन निम्नलिखित है।

उपन्यास

भारतेन्दु काल में हिन्दी की उप विधा का विकास हुआ। पण्डित बालकृष्ण भट्‌ट का 'सौ अजान एक सुजान' इस समय का उपदेश-प्रधान आदर्शवादी उपन्यास है। इसमें उस परिपूर्ण 'यामा-स्वप्न उपन्यास काव्य-सौन्दर्य से भरा हुआ है। अम्बिकादत्त व्यास का 'आश्चर्य वृत्तान्त', बालकृष्ण भट्‌ट का 'नूतन ब्रहमचारी' और राधाकृष्णदास का 'निःसहाय हिन्दू' इस काल के अन्य उपन्यास हैं।

कहानी

कहानी का क्रमबद्ध विकास भारतेन्दु युग से होता है। इस युग में केवल बंगला तथा अंग्रेजी कहानियों के अनुवाद हुए। मौलिक रूप में जो कहानियां लिखी गईं, उन पर इनका प्रभाव दिखाई देता है। भारतेन्दु जी ने एक अद्‌भुत अपूर्व स्वप्न नामक कहानी लिखी, जिसे अधिकांश विद्वान हिन्दी की प्रथम साहित्यिक तथा मौलिक कहानी मानते हैं। सरस्वती पत्रिका के प्रकाशन के साथ-साथ हिन्दी की श्रेष्ठ कहानियां प्रकाश में आयीं। सरस्वती के प्रारम्भिक कहानी लेखकों में किशोरीलाल गोस्वामी, पार्वतीनन्दन, बंग महिला, रामचन्द्र शुक्ल, डॉ. भगवानदास आदि प्रमुख हैं।

नाटक

इस युग में मौलिक तथा अनूदित दोनों ही प्रकार के नाटक लिखे गये। भारतेन्दु के मौलिक नाटकों में चन्द्रावली, नीलदेवी, भारत-दुर्दशा प्रमुख हैं। अनूदित नाटकों में कुछ बंगला से और कुछ संस्कृत से अनूदित हैं। इस काल में प्रतापनारायण मिश्र ने गौ संकट, कलि प्रभाव, ज्वारी-ख्वारी, हमीर-हठ, राधाकृष्णदास ने महारानी पद्‌मावती, महाराणा पताप, दुखिनी बाला, बाबू गोकुलचन्द ने बूढ़े मुंह मुहासे, लोग चले तमाशे, आदि नाटक लिखे। श्रीनिवास दास, बद्रीनारायण चौधरी प्रेमघन, अम्बिकादत्त व्यास आदि इस काल के अन्य नाटककार हैं।

निबन्ध

हिन्दी में निबन्ध साहित्य का प्रारम्भ भारतेन्दु युग की पत्र-पत्रिकाओं से होता है। प्रायः तत्कालीन पत्र-पत्रिकाओं में उनके सम्पादक उस समय की सांस्कृतिक तथा राजनीतिक समस्याओं पर लेख लिखा करते थे। भारतेन्दु ने सर्वप्रथम कविवचन सुधा तथा हरिश्चन्द्र मैगजीन में साहित्यिक ढंग से निबन्ध लिखे। इसके बाद पं प्रतापनारायण मिश्र तथा पं. बालकृष्ण भट्ट तथा बद्रीनारायण चौधरी प्रेमघन ने क्रमशः हिन्दी प्रदीप, ब्राहमण तथा आनन्द कादम्बिनी नामक पत्रिकाओं में निबन्ध लिखे, जिन्हें साहित्यिक कोटि के निबन्ध कहा जाता है। इसी समय पं.बालकृष्ण भट्ट ने विनोदपूर्ण तथा गम्भीर 'शैली में विवेचनात्मक, आलोचनात्मक तथा भावात्मक निबंध लिखे। बालमुकुन्द गुप्त, प्रेमघन, अम्बिकादत्त व्यास, राधाचरण गोस्वामी इस युग के अन्य प्रसिद्ध निबन्ध लेखक हैं।

आलोचना

भारतेन्दु युग में गद्य के अन्य अंगों के साथ-साथ आलोचना विधा भी नया रूप धारण कर आगे बढ़ी। उसके स्वरूप और प्रकार में नये तत्त्वों का समावेश हुआ। साहित्यिक विवेचना में बौद्धिकता की प्रधानता हो गयी। उपन्यास, कहानी, निबन्ध, नाटक आदि के साथ-साथ उनकी आलोचनाएं भी लिखी जाने लगीं। इस नवीन आलोचना के विकास में तत्कालीन पत्र-पत्रिकाओं का प्रमुख हाथ रहा। इस समीक्षा के प्रवर्तकों में भारतेन्दु, प्रेमघन, बालकृष्ण भट्ट, श्री निवास दास, बालमुकुन्द गुप्त, प्रतापनारायण मिश्र, गंगाप्रसाद अगिनहोत्री आदि प्रसिद्ध हैं।

'आनन्द कादम्बिनी' नामक पत्रिका के द्वारा प्रेमघन ने पुस्तकों की विस्तृत तथा गम्भीर आलोचना प्रारम्भ की। इन्होंने श्रीनिवास दास के संयोगिता स्वयंवर नाटक की बड़ी विशद् और कड़ी आलोचना लिखकर प्रकशित की।

अठारहवीं सदी के उत्तरार्द्ध में ब्रिटिश लोगों का प्रवेश काशी में हुआ। काशी हिंदी की सार्वजनिक गतिविधियों के केंद्र में थी। धीरे धीरे ब्रिटिश संस्थाओं और स्थानिय निवासियों का संपर्क आपस में बढ़ा। बनारस में भी एक मध्य वर्ग निर्मित हुआ। सार्वजनिक गतिविधियों का नेतृत्व इस नये उदय हुए मध्य वर्ग के हाथ में जा रहा था जो आधुनिक और राष्ट्रवादी होने की प्रक्रिया में थे। भारतेंदु हरिश्चंद्र इस मध्यवर्ग के प्रतिनिधि थे। सार्वजनिक जीवन के प्रारंभ से ही वे बनारस की सार्वजनिक गतिविधियों और इसकी सार्वजनिक संस्थाओं से

जुड़ चुके थे। अपने अल्पकालीन जीवन में उन्होंने यात्रायें भी बहुत की थी। इन यात्राओं ने देश से उनके परिचय को और घनिष्ठ किया। अपने समकालीन माहौल को देखकर उन्हें भी इसके पिछड़ेपन और जड़ता का बोध हुआ, जो स्वाभाविक था। उनके साहित्य लेखन का उद्देश्य इस जड़ जनता को जगाना था। अपने उद्देश्यों के प्रचार और प्रसार के लिये उन्होंने साहित्य की विभिन्न विधाओं का सहारा लिया ही, नाटक का विशेष सहारा लिया। उन्होंने नाटक लिखा उसमें अभिनय किया और दूसरों को भी प्रेरित किया।

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने 'नाटक वा दृश्यकाव्य' (1883) जैसा वृहत निबंध लिख कर रंगमंच के इतिहास को खंगाला और सिद्धांत निर्मित करने का प्रयास किया। इस निबंध में भारतेंदु लिखते हैं। "हिन्दी भाषा में वास्तविक नाटक के आकार में ग्रन्थ की सृष्टि हुए पचीस वर्ष से विशेष नहीं हुए", ऐसा कहते हुए वे नाटक के इतिहास से परंपराशील रंगमंच के नाटकों को पहले ही बाहर कर देते हैं। उसके बाद कतिपय नाटकों और नाटककारों की चर्चा के बाद अपने पिता श्री कविवर गिरिधर दास के नाटक 'नहुष' को हिन्दी में पहला नाटक मानते हैं। अपने पिता के नाटक के बारे में भारतेंदु ने लिखा है कि "मेरे पिता ने बिना अंग्रेजी की शिक्षा पाये इधर क्यों दृष्टि दी, यह बात आश्चर्य की नहीं", पिता को भले ही अंग्रेजी की शिक्षा नहीं मिली थी, लेकिन भारतेंदु को मिली थी। वे क्वीन्स कालेज के छात्र थे और उन्होंने एक अंग्रेजी स्कूल भी खोला था। भारतेन्दु हिन्दी में पहला मंचित नाटक 'जानकी मंगल' को घोषित करते हैं और क्षोभ प्रकट करते हैं कि 'पश्चिमोत्तर देश में ठीक नियम पर चलने वाला कोई आर्य शिष्ट जन का नाटक समाज नहीं है'। पारसी नाटकों से भारतेंदु को क्षोभ था ही। शकुन्तला नाटक के पारसी शैली में मंचन के दौरान दुष्यन्त को खेमटे वालियों की तरह नाचते देखकर नाटक छोड़ कर बाहर आ जाने का वर्णन भी उन्होंने दु:ख के साथ किया है। इसी निबंध में वे यूरोप के नाटक के बारे में लिखते हैं, जिससे यूरोपीय रंग परंपरा के उनके अध्ययन का पता चलता है। गौरतलब है कि भारतेन्दु ने जब यह लेख लिखा तब तक वे अपने सभी नाटक लिख चुके थे। भारतेंदु के लिये आदर्श संस्कृत, युरोप और बांग्ला का रंगमंच था। जैसा कि इस निबंध में पता चलता है या उनके द्वारा अनुवादित नाटकों की सूची में भी देखा जा सकता है। उन्होंने इन्ही आदर्शो की स्थापना करते हुए हिंदी का आधुनिक रंगमंच विकसित करने की मुहिम चलाई जिसमें बहुत से लोग उनके साथ जुड़े. भारतेंदु के इस निबंध से दो साल पहले उनके मंडल के सदस्य 'बदरी

नारायण प्रेमघन' ने भी अपने निबंध 'दृश्य रूपक वा नाटक' में लिखा है कि अंग्रेजों के आगमन से ही नाटक विधा का प्रचलन शुरू हुआ क्योंकि इन्हीं के संपर्क में आने से इन क्षेत्रों के लोगो का नाटक से परिचय हुआ।

सइ निबंध में भारतेंदु कहीं भी पारंपरिक रंगमंच के नाटकों की चर्चा नहीं करते. नाटकों के व्याकरण की चर्चा में भी इन नाटकों का उल्लेख नहीं है। इतिहास खंड में वे संस्कृत नाटकों की सूची देते हैं और भाषा नाटकों के इतिहास में भी उन प्रकाशित नाटकों का उल्लेख करते हैं जो संस्कृत और अंग्रेजी के अनुवाद है या उनके आधार पर लिखे गये हैं। जिनके विकास का काल वह बस 25 वर्ष मानते हैं। संभव है कि भारतेंदु को उतने साक्ष्य नहीं मिल पाये हों लेकिन भाषा नाटकों की परंपरा इससे बहुत पहले से मिलती है। तत्कालीन बनारस में ही पारम्परिक नाटकों का प्रदर्शन होता था और उनका प्रकाशन भी होता था। इंदरसभा (अवध) और गोपिचंदाख्यान (बंबई) का मंचन हो चुका था। झांसी के दरबार और बनारस में भी रंगमंच के कई रूप प्रचलित थे।

भारतेंदु ने 'नाटक' निबंध में नाटक के तीन भेद किये थे– शुद्ध कौतुक, काव्यमिश्र, और भ्रष्ट. भ्रष्ट नाटकों में उन्होंने भांड, लीला और झांकी के अलावा यात्रा, रास, इंद्रसभा, पारसियों के नाटक और महाराष्ट्र के खेल को भी रखा था। भारतेंदु ने बलिया भाषण में हिदायत भी की थी कि' इंदरसभा और मसनवी पढ़ा कर लड़कों को मत बिगाड़िये' साफ है कि भारतेंदु परंपराशील रंगमंच की लोकप्रियता और उसके असर से वाकिफ थे। इसलिये वे सचेत रूप से इन शैली के छप चुके नाटकों (यदि छपा हुआ नाटक उनकी कसौटी में है तो) को भी सूची में नहीं रखते। लेकिन भारतेंदु ने यह भी लिखते हैं कि "नाटकों का अभिनय सहृदय जनों के समाज को कितनी प्रीति देने वाला, देश की कुचालों को सुधारने वाला और कुशल करने वाला है"। इसलिये वे इस कला का व्यापक हित के लिये उपयोग करना चाहते हैं। वे 'लोकप्रिय' कला को परिष्कृत करते हैं ताकि हिंदी प्रदेश में में एक 'आर्यशिष्टजनोपयोगी रंगमंच' स्थापित हो जो 'साहित्यिक और सुरूचिपूर्ण' हो। इस कसौटी पर पारंपरिक लोकप्रिय कलाएं उनके लिये खरी नहीं थी। इसलिये इन्हें आधुनिक मूल्यों के खराद पर घिसना ही था।

भारतेंदु के व्यक्तिगत प्रयास ने कई लोगों को नाटक लिखने और खेलने के लिए प्रेरित किया। उनके इर्द-गिर्द एक घेरा बन गया, जिसे भारतेंदु मंडल के नाम जाना ही जाता है। यह मंडल उच्चवर्णीय था और इसे आभिजात सरंक्षण भी

प्राप्त था। इस युग के रंगमंच का प्रमुख उद्देश्य सामाजिक राजनीतिक दशा का यथार्थ अंकित करके सर्वसाधारण को जागरुक बनाना था। भारतेंदु के नाटकों का उदाहरण लें। 'अंधेर नगरी' में वे पतनशील भारतीय समाज का चित्रण करते हैं। जिसमें पेशेवर आधार पर बंटे हुए समाज के अधिकतर वर्ग एवं जाति शामिल हैं। इस देस में अन्धाधुन्ध मचा हुआ क्योंकि राजा विदेश में रहता है। अपने सबसे राजनीतिक नाटक 'भारत दुर्दशा' में वे देश की सभी क्षेत्रों में व्याप्त पतनशीलता से विचलित हैं। भारत को अंधकार, मदिरा, रोग, पाप, सत्यानाश और भारत दुर्दैव के सम्मिलित हमलों ने पस्त कर दिया है। बौद्धिक वर्ग एजुकेशन की सेना, अखबारों के शस्त्र और स्पीचों के गोले से भारत दुर्दैव का समान करना चाहती है, लेकिन डिसलायलटी उन्हें आक्रांत किये हुए है। 'भारत भाग्य' निराश होकर आत्महत्या कर लेता है क्योंकि भारत को अब भाग्य के सहारे नहीं कर्म के सहारे खड़े होना है। 'अंग्रेजी राज' और 'पश्चिमी विधा के सूर्य से' इस भारत को जगना है। तात्पर्य यह कि भारतेंदु अपने नाटकों के जरिए जनता को जागरूक कर एक नवीन समाज के निर्माण की चेतना तैयार करना चाहते थे। अपनी पत्रिकाओं और निबंधो में वे इस उद्देश्य का विस्तार करते नजर आते हैं। भारतेंदु की प्रेरणा से लिख रहे उनके मंडल के नाटककारो ने भी राष्ट्रवादी और समाज सुधार की चेतना से युक्त लेखन किया है और भारतेंदु के स्वर में स्वर मिलाया है। इस चेतना की एक प्रेरणा 'पश्चिम विधा का सूर्य' है। गौरतलब यह है कि 'भ्रष्ट और नाटकत्व' से हीन कहने के बावजूद भारतेंदु के नाटकों पारसी और पारंपरिक रंगमंच के प्रभाव से बच नहीं पाते। क्योंकि आधुनिक सरंचनायें समाज में एकदम से नहीं आ जाती और न ही वे अपने पूर्ववर्ती रूप से सर्वथा भिन्न होती है। बहुत से मायने में वे पूर्ववर्ती रूपों के नये व्यवहारगत प्रयोग होते हैं। लेकिन इन्हें इस रूप में स्वीकार नहीं किया जाता। भारतेंदु अपने नाट्य सिद्धांतों में पारसी और लोकरंगमंच से जो दूरी बनाते हैं, वह धीरे-धीरे बढ़ती जाती है।

मौलिक नाटक

भारतेन्दु जी की मौलिक कृतियों में वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति, प्रेमयोगिनी, विषस्य विषमोषधम्, चन्द्रावली, भारत दुर्दशा, नीलदेवी, अंधेर नगरी तथा सती प्रताप हैं। वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति, प्रेम योगिनी और पाखण्ड विखंडन में धार्मिक रूढ़ियों और विडम्बनाओं से ग्रस्त समाज के पाखण्ड, आडम्बर, भ्रष्टाचार आदि का नाटकीय आख्यान हुआ है। 'वैदिकी हिंसा हिंसा

न भवति' में ऊपर से सफेदपोश दिखने वाले धर्मात्माओं के साथ ही तत्कालीन देशी नरेशों और मंत्रियों के व्यभिचार की पोल खोली गयी है। अपने युग की धार्मिमक स्थिति के प्रति जो तीव्र आक्रोश नाटककार में है, वही उसकी अपूर्ण नाटिका 'प्रेमयोगिनी' में प्रस्तुत हुआ है। 'पाखण्ड विखंडन' में हिन्दुओं के सन्त-महन्तों की हीन दशा का चित्रण हुआ है। इस प्रकार धार्मिक पाखण्डों का खण्डन करना ही इन नाटकों का मूल स्वर रहा है।

भारतेन्दु-युग में अंग्रेजों ने बहुत से राजाओं से उनका शासन छीन कर उनका राज्य अपने अधीन कर लिया था। अंग्रेजों की इस नीति की प्रशंसा पर गुलामी के भय के द्वन्द्व की परिकल्पना 'विषस्य विषमौषध म्' प्रहसन में साकार हो उठी है। देशोद्धार की भावना का संघर्ष भारतेन्दु जी के 'भारत जननी' और 'भारत दुर्दशा' में घोर निराशा के भाव के साथ प्रस्तुत होता है। 'भारत दुर्दशा' में भारत के प्राचीन उत्कर्ष और वर्तमान अध:पतन का वर्णन निम्नलिखित पंक्तियों में मिलता है–

रोअहु सब मिलि, आवहु भारत भाई।
हा हा! भारत दुर्दशा न देखी जाई।।

भारतेन्दु ने राजनीतिक संघर्ष की पृष्ठभूमि पर नौकरशाही की अच्छी आलोचना करते हुए 'अंधेर नगरी' प्रहसन लिखा है। 'अन्धेर नगरी' के चौपट राजा को फांसी दिलाकर नाटककार कामना करता है कि कभी इस अयोग्य राजा की तरह नौकरशाही भी समाप्त होगी और देश के कुशासन की समाप्ति होगी। अंग्रेजों के शासन से देश मुक्ति की कामना ही 'नील देवी' नाटक में ऐतिहासिक पृश्ठभूमि पर उभरती है। साथ ही तत्कालीन समाज में तीव्रता से उठ रहे 'नारी स्वातंत्रय' के पक्ष विपक्ष के द्वन्द्व को भी प्रस्तुत किया है।

''चन्द्रावली' और 'सती प्रताप' प्रेम की कोमल अभिव्यंजना से अभिभूत नाटक हैं। चन्द्रावली में ईश्वरोन्मुख प्रेम का वर्णन है। 'सती प्रताप' में भी पति-प्रेम का अनुकरणीय उज्जवल आदर्श है। इस प्रकार भारतेन्दु के नाटकों में भी प्रेम धारा तथा श्रृंगारिक मोहकता का वातावरण बना रहा है।

अनूदित और रूपान्तरित नाटक

भारतेन्दु ने अंग्रेजी, बंगला तथा संस्कृत के नाटकों के हिन्दी अनुवाद भी किए, जिनमें रत्नावली नाटिका, पाखण्ड विखंडन, प्रबोध-चंद्रोदय, धनंजय-विजय, कर्पूर मंजरी, मुद्रा राक्षस तथा दुर्लभ बन्धु आदि हैं। अंग्रेजी से किए गए अनुवादों

में भारतेन्दु की एक विशेषता यह भी है कि उन्होंने उसमें भारतीय वातावरण एवं पात्रों का समावेश किया है। सभी नाटकों में मानव-हृदय के भावों की अभिव्यक्ति के लिए गीतों की योजना की है। इन नाटकों का अनुवाद केवल हिन्दी का भण्डार भरने की दृष्टि से नहीं किया गया बल्कि हिन्दी नाटकों के तत्त्वों में अपेक्षित परिवर्तन के लिए दिशा-निर्देश करने के उद्देश्य से किया गया। रूपांतरित नाटकों में 'विद्या सुन्दर' और 'सत्य हरिश्चन्द्र' नाटक आते हैं। 'विद्यासुन्दर' में प्रेम विवाह का समर्थन करते हुए भारतेन्दु मां-बाप के आशीर्वाद को अनिवार्य मानते हैं। 'सत्य हरिश्चन्द्र' में सामाजिक विकृतियों से ऊपर उठ कर सत्य के आदर्शों से अनुप्राणित होने का आह्वान किया है।

नाट्य-शास्त्र के गम्भीर अध्ययन के उपरान्त भारतेन्दु ने 'नाटक' निबन्ध लिख कर नाटक का सैद्धान्तिक विवेचन भी किया है। सामाजिक एवं राष्ट्रीय समस्याओं को लेकर-अनेक पौराणिक, ऐतिहासिक एवं मौलिक नाटकों की रचना ही नहीं की, अपितु उन्हें रंगमंच पर खेलकर भी दिखाया है। उनके नाटकों में जीवन और कला, सुन्दर और शिव, मनोरंजन और लोक-सेवा का सुन्दर समन्वय मिलता है। उनकी शैली सरलता, रोचकता एवं स्वभाविकता के गुणों से परिपूर्ण है। भारतेन्दु अद्वितीय प्रतिभा के धनी थे। सबसे बड़ी बात यह है कि वे अद्‌भुत नेतृत्व-शक्ति से युक्त थे। वे साहित्य के क्षेत्र में प्रेरणा के स्रोत थे। फलतः अपने युग के साहित्यकारों और नाटक तथा रंगमंच की गतिविधियों को प्रभावित करने में सफल रहे। इसके परिणामस्वरूप प्रतापनारायण मिश्र, राधाकृष्ण दास, लाला श्रीनिवास, देवकी नन्दन खत्री आदि बहुसंख्यक नाटककारों ने उनके प्रभाव में नाट्य रचना की। यह भी विचारणीय है कि भारतेन्दु मण्डल के नाटककारों ने पौराणिक, ऐतिहासिक, सामाजिक, चरित्रप्रधान राजनैतिक आदि सभी कोटियों के नाटक लिखे। इस युग में लिखे गये नाटक परिमाण और वैविध्य की दृष्टि से विपुल हैं। यहाँ मुख्य धाराओं का परिचय प्रस्तुत है:-

(क) पौराणिक धारा : इसकी तीन उपधाराएं : (1) रामचरित सम्बन्धी, (2) कृष्णचरित सम्बन्धी तथा (3) अन्य पौराणिक आख्यानक सम्बन्धी हैं। रामचरित सम्बन्धी नाटकों में देवकीनन्दन खत्री-कृत 'सीताहरण' (1876) और 'रामलीला' (1879), शीतलाप्रसाद त्रिपाठी-कृत 'रामचरित्र नाटक' (1891) उल्लेखनीय हैं। कृष्ण चरित सम्बन्धी नाटकों में अम्बिकादत्त व्यास-कृत 'ललिता' (1884), हरिहरदत्त दूबे-कृत 'महारास' (1885) और 'कल्पवृक्ष' तथा सूर्यनारायण सिंह कृत 'श्यामानुराग नाटिका' (1899) उल्लेखनीय हैं।

कृष्ण-परिवार के व्यक्तियों के चरित्र से सम्बन्धी नाटकों में चन्द्र शर्मा-कृत 'उषाहरण' (1887), कार्तिक प्रसाद खत्री-कृत उषाहरण (1892) और अयोध्यासिंह उपाध्याय-कृत 'प्रद्युम्न-विजय' (1893) तथा 'रुक्मणी परिणय' (1894) हैं। पौराणिक आख्यानकों से सम्बन्धी गजराजसिंह-कृत 'द्रोपदी हरण' (1882), श्री निवासदास-कृत 'प्रीांद चरित्र' (1888), बालकृष्ण भट्ट-कृत 'नल-दमयन्ती स्वयंवर' (1895) और शालिग्राम लाल-कृत अभिमन्यु (1898) प्रसिद्ध हैं।

(ख) ऐतिहासिक धारा : ऐतिहासिक नाटक-धारा 'नीलदेवी' से प्रारम्भ होती है। ऐतिहासिक नाटकों में श्रीनिवासदास-कृत 'संयोगिता स्वयंवर' (1886), राधाचरण गोस्वामी-कृत 'अमर सिंह राठौर' (1895) और राधाकृष्ण दास-कृत 'महाराणा प्रताप' (1896) ने विशेष ख्याति प्राप्त की।

(ग) समस्या-प्रधान धारा : भारतेन्दु ने अपने सामाजिक नाटकों और प्रहसनों में नारी समस्या को जिस ढंग से उठाया था, वहीं उनके मण्डल के सभी नाटककारों पर छाया रहा। प्राचीन आदर्शों के अनुरूप उनमें पतिनिष्ठा की प्रतिष्ठा की गयी और नवीन भावनाओं के अनुरूप, बाल-विवाह-निषेध, पर्दा-प्रथा का विरोध और विधवा-विवाह तथा स्त्री-शिक्षा का समर्थन किया गया। श्री राधाचरणदास-कृत 'दु:खिनी बाला' (1880), प्रतापनारायण मिश्र-कृत 'कलाकौतुक' (1886), बालकृष्ण भट्ट-कृत 'जैसा काम वैसा परिणाम' (1913), काशी नाथ खत्री-कृत 'विधवा विवाह' (1899) बाबू गोपालराम गहमरी-कृत 'विद्या विनोद' आदि नाटक नारी-समस्याओं को केन्द्र-बिन्दु मानकर लिखे गये। इन समस्या-प्रधान नाटकों का मूलस्वर समाज-सुधार है। इस युग में जो तीव्र संघर्ष सामाजिक स्तर पर सुधारवाद की भावना से हो रहा था, वैसा इस काल के नाटकों में नहीं दिखाई देता। इनमें नाटक के नाम पर समस्याओं का वर्णन मात्र हुआ है। फिर भी इनमें सामाजिक जागरूकता मुख्य हुई है। इसमें संदेह नहीं कि ये अपने इसी स्वरूप में आगे के नाटकों के लिए कड़ी या आधार रहे।

(घ) प्रेम-प्रधान-धारा : रीतिकाल की श्रृंगारिक प्रवृत्ति भारतेन्दु : युग की कविताओं में ही नहीं नाटकों में भी देखने को मिल जाती है। प्रेम-प्रधान रोमानी नाटकों में श्रीनिवास दास-कृत 'रणधीर प्रेममोहनी' (1877), किशोरीलाल गोस्वामी-कृत 'मयंक मंजरी' (1891) और 'प्रणयिनी परिणय' (1890), खड्ग बहादुरमल्ल-कृत 'रति कुसुमायुध' (1885) शालिग्राम शुक्ल-कृत लावण्यवती' सुदर्शन (1892) तथा गोकुलनाथ शर्मा-कृत 'पुष्पावती' (1899)

उल्लेखनीय हैं। यद्यपि इन नाटकों में उपदेशों की भी सर्वत्र भरमार है, जिनमें समय का सदुपयोग, वेश्या से घृणा, छोटे-बड़े के भेद की व्यर्थता, भाग्यवाद में विश्वास आदि विषयों पर भी उपदेश दिये गये हैं, फिर भी इन नाटकों की विषय-वस्तु तथा अभिप्राय रोमांटिक हैं।

(च) राष्ट्रीय प्रहसन धारा : राष्ट्रीय और व्यंग्यात्मक नाटकों की परम्परा 'नीलदेवी', 'भारत दुर्दशा' आदि द्वारा चलायी गयी थी। उसका मूल कारण सांस्कृतिक और राष्ट्रीय दृष्टि से उपस्थित संक्रांति-काल ही था। प्राच्य और पाश्चात्य संस्कृति की टकराहट से नवजागरण का आलोक विकीर्ण हो रहा था। भारतेन्दु युगीन नाटककारों ने इस जागरण को अभिव्यक्त करने के लिए प्रहसनों को चुना। इस युग में राष्ट्रीय विचारधारा को उजागर करने वाले, खड्‌गबहादुर मल्ल-कृत 'भारत आरत' (1885), अम्बिका दास व्यास-कृत 'भारत-सौभाग्य' (1887), गोपाल राम गहमरी-कृत 'देश-दशा' (1892), देवकीनन्दन त्रिपाठी-कृत 'भारत हरण' (1899) आदि नाटक विशेष उल्लेखनीय हैं। इन नाटकों में देश की तत्कालीन दुर्दशा का चित्र खींचा गया है। आलोच्य युग के अनेक सफल प्रहसनों में से बालकृष्ण भट्ट-कृत 'जैसा काम वैसा परिणाम' (1877) और 'प्रचार बिडम्बना' (1899), विजयानन्द त्रिपाठी-कृत 'महा अंधेर नगरी' (1893), राधाचरण गोस्वामी-कृत 'बूढ़े मुंह मुंहासे' (1886), राधाकृष्ण दास-कृत 'देशी कुतिया विलायती बोल' आदि प्रहसनों को विशेष प्रसिद्ध प्राप्त हुई। नवीन वैचारिक आलोक के फलस्वरूप इन प्रहसनों में प्राचीन रूढियों, घिसी हुई परम्पराओं और अंध-विश्वासों पर व्यंग्य किया गया है तथा समाज के महंतों और कुटिल जनों पर प्रहार किये गये हैं।

आलोच्य युग के नाटक साहित्य का अवलोकन करने पर यह स्पष्ट होता है कि इस युग के नाटक विषयवैविध्य में पूर्ण हैं। भारतेन्दु युग के नाम से अभिहित इस संक्रांति काल में अनेक युग प्रश्नों यथा-कर, आलस्य, पारस्परिक फूट, मद्यपान, पाश्चात्य-सभ्यता का अन्धानुकरण, धार्मिक अंधविश्वास, पाखंड, छुआ-छूत, आर्थिक शोषण, बाल विवाह, विधवा-विवाह, वेश्या गमन आदि को नाटकों का विषय बनाया गया। ऐसा नहीं है कि किसी एक नाटक में इनमें से एक या दो बातों को लिया गया हो, पर अवसर पाते ही सभी बातें एक ही नाटक में गुम्फित हुई हैं। इससे कथानक में भले ही शिथिलता आ गई हो किंतु जनजीवन की विसंगति अवश्य स्पष्ट हो जाती है। नाटकों में प्रधान रूप से समाज में व्याप्त अशांति और व्यग्रता का चित्रण हुआ है। नाटककार अपने युग के प्रति बड़े सजग

दिखाई पड़ते हैं। उन्होंने भारत का अध:पतन अपनी आँखों से देखा था। चारों ओर रूढ़िग्रस्त, निष्क्रिय और मानसिक दासता में जकड़ी हुई जनता, पाश्चात्य सभ्यता का दूषित प्रभाव, भ्रष्ट राजनीति, हृदयविदारक आर्थिक अवस्था आदि ने उनके हृदय में सुधारवादी और राष्ट्रीय विचारों का उद्रेक किया। फलस्वरूप नाटकों में राष्ट्रीय जीवन को उन्नत बनाने के अनेक उपाय संकेतित हुए हैं। इनकी वाणी में नवोदित भारत की आकांक्षाओं का स्वर प्रतिध्वनित होता है।

शास्त्रीय दृष्टि से भारतेन्दु-कालीन नाटक संस्कृत-नाट्यशास्त्र की मर्यादा की रक्षा करते हुए लिखे गये। साथ ही पाश्चात्य नाट्य शास्त्र का प्रभाव भी इन पर लक्षित होता है। पाश्चात्य ट्रेजडी की पद्धति पर दु:खान्त नाटक लिखने की परम्परा भारतेन्दु के 'नीलदेवी' नाटक से प्रारम्भ हुई। इस युग के नाटक एक ओर पारसी कम्पनियों की अश्लीलता और फूहड़पन की प्रतिक्रिया थे, तो दूसरी ओर पाश्चात्य और पूर्व की सभ्यता की टकराहट के परिणाम। इसलिए उनमें अविचारित पुरानापन या अविचारित नयापन कहीं नहीं है। अभिनेयता की दृष्टि से ये नाटक अत्यधिक सफल हैं। भारतेन्दु और उनके सहयोगी स्वयं नाटकों में भाग लेते थे और हिन्दी रंगमंच को स्थापित करने के लिए उत्सुक थे। नाटकों के माध्यम से जनता को वे जागरण का और आने वाले युग का सन्देश देना चाहते थे। इसी कारण भारतेन्दु-काल में विरचित ये नाटक सुदृढ़ सामाजिक पृष्ठभूमि पर अवस्थित थे।

अनूदित प्रस्तुत संदर्भ में भारतेन्दु युगीन, नाटकों पर विचार कर लेना भी समीचीन होगा। इस युग में संस्कृत, बंगला तथा अंग्रेजी के सुप्रसिद्ध नाटकों के हिन्दी में अनुवाद किए गए। अनुवाद की परम्परा भी भारतेन्दु से ही प्रारम्भ हुई थी जिसकी चर्चा पीछे की जा चुकी है। उनके अतिरिक्त भी अनेक लेखक संस्कृत, बंगला और अंग्रेजी के नाटक अनूदित करने में संलग्न रहे।

संस्कृत

संस्कृत भारत की एक शास्त्रीय भाषा है। यह दुनिया की सबसे पुरानी उल्लिखित भाषाओं में से एक है। संस्कृत हिन्दी-यूरोपीय भाषा परिवार की मुख्य शाखा हिन्दी-ईरानी भाषा की हिन्दी-आर्य उपशाखा की मुख्य भाषा है। आधुनिक भारतीय भाषाएँ हिन्दी, मराठी, सिन्धी, पंजाबी, बंगला, उड़िया, नेपाली, कश्मीरी, उर्दू आदि सभी भाषाएं इसी से उत्पन्न हैं। इन सभी भाषाओं में यूरोपीय बंजारों की रोमानी भाषा भी शामिल है। संस्कृत का अर्थ है- संस्कार की हुई भाषा।

इसकी गणना संसार की प्राचीनतम ज्ञात भाषाओं में होती है। संस्कृत को देववाणी भी कहते हैं।

भवभूतिः

(1) उत्तर रामचरित-देवदत्त तिवारी (1871), नन्दलाल, विश्वनाथ दूबे (1891), लाला सीताराम (1891)।

(2) मालती माधव : लाला शालिग्राम (1881), लाला सीता राम (1898)।

(3) महावीर चरित : लाला सीताराम (1897)।

कालिदासः

(1) अभिज्ञान शकुन्तला : नन्दलाल विश्वनाथ दूबे (1888)।

(2) मालविकाग्निमित्र : लाला सीताराम (1898)।

कृष्णमित्र

प्रबोध चन्द्रोदय : शीतला प्रसाद (1879), अयोध्याप्रसाद चौधरी (1885)।

शूद्रक

मृच्छकटिक : गदाधर भट्ट (1880), लाला सीताराम (1899)।

हर्ष

रत्नावली : देवदत्त तिवारी (1872), बालमुकुन्द सिंह (1798)।

भट्टनारायण

वेणीसंहार : ज्वालाप्रसाद सिंह (1897)।

बंगला

माइकेल मधुसूदन दत्तः

(1) पद्‌मावती : बालकृष्ण भट्ट (1878)।

(2) शर्मिष्ठा : रामचरण शुक्ल (1880)।

(3) कृष्णमुरारी : रामकृष्ण वर्मा (1899)।

द्वारिकानाथ गांगुली : वीरनारी-रामकृष्ण वर्मा (1899)।
राजकिशोर दे : पद्मावती : रामकृष्ण वर्मा (1888)।
मनमोहन वसु: सती : उदित नारायण लाल (1880)।

अंग्रेजी

शेक्सपीयर

(1) मरचेंट आफ वेनिस (वेनिस के व्यापारी) : आर्या (1888)।
(2) द कॉमेडी आफ एरर्स (भ्रमजालक) : मुन्शी इमदाद अली, भूल भुलैया : लाल सीताराम (1885)।
(3) एज यू लाइक इट (मनभावन) : पुरोहित गोपीनाथ (1896)।
(4) रोमियो जूलियट (प्रेमलीला) : पुरोहित गोपीनाथ (1897)।
(5) मैकबैथ (साहसेन्द्र साहस) : मथुराप्रसाद उपाध्याय (1893)।
जोजेफ एडीसन: केटो (कृतान्त) : बाबू तोता राम (1879)।

भारतेन्दु-युगीन नाटककारों की अनूदित रचनाएं केवल उनकी अनुवाद वृत्ति का ही दिग्दर्शन नहीं कराती, वरन् सामाजिक जीवन के उन्नयन के लक्ष्य को भी प्रकट करती हैं। अनुवादक उन रचनाओं के माध्यम से वस्तुत: एक नाट्यादर्श प्रस्तुत करना चाहते थे और उन नैतिक तत्त्वों के प्रति भी जागरूक थे जो नव-जागरण में सहायक थे। इस प्रकार भारतेन्दु-युगीन इन नाटकों की विषय वस्तु में वैविध्य मिलता है। रामायण और महाभारत के प्रसंगों को लेकर पौराणिक नाटक बहुतायत से लिखे गये। इसी संदर्भ में ऐसे नाटकों की संख्या भी पर्याप्त कही जा सकती है जो नारी के सतीत्व और पतिव्रता के आदर्श से सम्बन्धित है। सामाजिक नाटकों में भी विषयवस्तु का वैविध्य और विस्तार मिलता है। इस काल में मुख्य रूप से अनमेल विवाह, विधवा विवाह, बहु विवाह, मद्यपान, वेश्या गमन, नारी स्वातंत्र्य आदि समस्याओं पर विचार किया है। किन्तु युगीन सन्दर्भ के प्रति इस प्रकार की जागरूकता के बावजूद अनुभूति की तीव्रता और नाट्य शिल्प की विशिष्टता के अभाव में इस युग का नाट्य साहित्य कोई महत्वपूर्ण साहित्यिक देन नहीं दे सका। फिर भी नाट्य रचना और रंगमंच के लिए जैसा वातावरण इस युग में बन गया था, वैसा हिन्दी साहित्य के किसी काल में सम्भव नहीं हुआ।

भारतेन्दु की रंगदृष्टि

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र पर विचार करते हुये हमें उनके युग की स्थितियों, जटिलताओं, अन्तर्विरोधों एवं संकटों को जानना-पहचानना आवश्यक है। वे सही मायने में अपने युग के निर्माता थे। डॉ. विश्वम्भर नाथ उपाध्याय के शब्दों में ''भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने हिन्दी भाषा का माध्यम अपनाकर साहित्य सृजन, सम्पादन, नाट्याभिनय और निबन्ध लेखन द्वारा देश में पुनर्जागरण (रिनेसा) शुरू किया। पुनर्जागरणकारी व्यक्तित्त्व अनिवार्यत: अनेकायामी अनेक क्षेत्रीय या बहुविषय स्पर्शक होता है क्योंकि ऐसा व्यक्ति, जगह-जगह विधाओं और अन्य-अन्य प्रसुप्त चेतना परिसरों को जगाता है, नव चेतना का बीज वपन करता है और चिनगारियाँ छोड़ता है। ऐसा व्यक्ति मात्र विधा विशेष की दृष्टि से नहीं जांचा जा सकता क्योंकि वह एक पूरे युग चैतन्य का माध्यम या स्रोत बनता है। अत: वह युग प्रवर्तक होता है और अनेक विधाओं में नवीन प्रेरणा, नये विचार सूत्र, नये मूल्य पनपा देता है। भारतेन्दु ऐसे ही युग प्रवर्तक व्यक्ति थे।" (आलोचना-79, पृष्ठ-51)

भारतेन्दु का रचनात्मक संघर्ष और कृती व्यक्तित्त्व मनुष्य की दुर्दम जिजीविषा और हमारी सांस्कृतिक विरासत की पहचान का एक अत्यन्त समर्थ साक्ष्य है। उनकी संघर्षशीलता और जीवटता इतने लम्बे अन्तराल के बाद भी हमारे लिये अभी भी ज़रूरी है और प्रासंगिक भी। उनकी रचनात्मक ऊर्जा, राष्ट्रवादिता, कला साधना और जीवन संघर्ष के कई आयाम है, लेकिन उनकी केन्द्रीयता में सब तिरोहित हो गये हैं। डॉ. राम विलास शर्मा ने उनका महत्व स्वीकारते हुये बहुत सही कहा है कि ''साहित्य, पत्रकार-कला, देश सेवा-ये भारतेन्दु के लिये तीन अलग-अलग चीजें नहीं थी। उनका आपस में घनिष्ठ सम्बन्ध था। भारतेन्दु शुद्ध कला के उपासक न थे। वह सोद्देश्य साहित्य के हामी थे इसलिये उनका व्यक्तित्त्व भी शुद्ध साहित्यकार का न होकर एक समाज सेवी कार्यकर्ता का था।'' (भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, पृष्ठ-5, 6)।

भारतेन्दु का समय काफी उथल-पुथल और आपाधापी का रहा है। स्वाधीनता आंदोलन की मशाल जल उठी थी। युगीन परिस्थितियों के अनुरूप अपनी सीमाओं के अंदर, कई अन्तर्विरोधों के चलते हुये भी जनजागरण की भावना, निरन्तर विकसित होती जा रही थी। भारतेन्दु की जिज्ञासु दृष्टि एवं सुचिन्तित तथा तार्किक बुद्धि ने न केवल गुलामी की अन्त:प्रकृति की पहचान

की बल्कि संकीर्णताओं अंध विश्वासों, रूढ़ियों और पाखण्डों पर व्यंग्य किया। हा! हा! भारत दुर्दशा न देखी जाई। 'सब धन ठोयो जात विलायत उनके व्यंग्य में किसिम-किसिम की गूँजे-अनुगूँजे हैं, जिनमें युग की पीड़ा और हाहाकार को अभिव्यक्त किया गया है। नये जमाने की मुकरी में वे लिखते हैं ''भीतर-भीतर सब रस चूसै। हँसि हँसि कै तन-मन-धन जूसे जाहिर बातन में अति तेज़। क्यों सखि सज्जन, नहीं अंगरेज 'भारत दुर्दशा' नाटक में भारत दुर्दैव से कहलाया गया है–

मरी बुलाऊँ देश उजाड़ू महंगा करकै अन्न
सबके ऊपर टिकश लगाऊँ धन है मुझको, धन्न
मुझको तुम सहज न जानो जी/मुझे इक राक्षस मानो जी।

देश की चिन्ता, पीड़ा और उसके ख़िलाफ़ उठ खड़े होने की प्रबल आकांक्षा उनके कृतित्त्व का ज़रूरी उपादान है। उनके लेखे राष्ट्रीय आंदोलन भाषा आंदोलन आंदोलन, साहित्यिक, सांस्कृतिक आंदोलन, सामाजिक आंदोलन मात्र शगल नहीं थे बल्कि जीवन-मरण के सवाल थे। श्री बाल मुकुंद गुप्त ने उनके लेखन की तेज, तीखा और बेधड़क लेखन कहा है। भारतेन्दु पर विचार करते हुये मुझे अक्सर कबीर की याद आती है। उनकी भाषा और व्यंग्य की प्रकृति तथा डंके की चोट बात कहने के सिलसिले में। जैसे-कबीर कहते हैं - सुखिया सब संसार है। खावै अरु सोवे। दुखिया दास कबीर है जागे अरु रोवें। भारतेन्दु भी हमें इसी प्रकार संबोधित करते हैं - ''आबहु सब मिलिकै रोबहु भारत भाई। हा! हा! भारत दुर्दशा न देखी जाई। वैसे हर जागरण के मूल में रुदन की प्रवृत्ति होती है। राम विलास शर्मा ने उन्हें हिन्दी नवजागरण और प्रगतिशील चेतना से जोड़ते हुये एक मार्के की बात की ओर हमारा ध्यान आकृष्ट किया है। भारतेन्दु ने साहित्यिक हिन्दी को संवारा, साहित्य के साथ हिन्दी के नये आंदोलन को जन्म दिया, हिन्दी में राष्ट्रीय और जनवादी तत्त्वों को प्रतिष्ठित किया। (भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, पृष्ठ 121)

मेरी समझ में भारतेन्दु का महत्व इस बात में भी है कि वे कोटे लिक्खाड़ भर नहीं थे। वे जनता के बीच गये। उनके सुख-दुःख, उनकी आशाओं, आकांक्षाओं को उनकी समस्याओं को उन्होंने गहराई तक जानने- पहचानने का प्रयत्न किया और उनका निदान खोज़ने का उपक्रम भी किया। उन्होंने देखा कि समाज में कई प्रकार की विकट समस्यायें हैं जैसे निरक्षरता, ग़रीबी, रूढ़ियां, अंधविश्वास और अपने आपको न जान पाने का अहसास। इसलिये उन्होंने

साहित्य को केवल मनोरंजन का साधन न मानते हुये जन शिक्षण के रूप में भी इस्तेमाल किया। उनकी खूबी इस बात में भी परखी जा सकती है कि उन्होंने लोक प्रचलित कला माध्यमों, स्थानीय जन बोलियों और लोक प्रचलित विश्वासों का जीवन्त इस्तेमाल जनता की भलाई और बेहतरी के लिये किया।

उनकी रंग दृष्टि की पहचान इस रूप में की जा सकती है कि उन्होंने नाटक और दृश्य काव्य के बारे में गम्भीरतापूर्वक विचार किया है। वे दृश्य काव्य को जीवन के लिए सबसे जीवन्त और उपयोगी माध्यम मानते हैं। उन्होंने स्वयं नाटकों में अभिनय करके उसकी शक्ति सीमा की पहचान और अर्थवत्ता की खोज की थी। उनका ''नाटक अथवा दृश्य काव्य'' नामक दीर्घ निबन्ध उनके अन्तर्जगत की बेचैनी को सूचित करता है। वे लिखते हैं- ''नाटक लिखना आरम्भ करके जो लोग उद्देश्य वस्तु परम्परा से चमत्कारजनक और मधुर अतिवस्तु निर्वाचन करके भी स्वाभाविक सामग्री परिपोष के प्रति दृष्टिपात नहीं करते उनका नाटक, नाटकादि दृश्य काव्य लिखने का प्रयास व्यर्थ है क्योंकि नाटक आख्यायिका की भांति श्रव्य काव्य नहीं है।'' वे आगे लिखते हैं - ''नाटक में वाचालता की अपेक्षा मितभाषिता के साथ वाग्मिता का ही सम्यक आदर होता है। नाटक में प्रपंच रूप से किसी भाव को व्यक्त करने का नाम गौण उपाय है और कौशल विशेष द्वारा थोड़ी बात में गुरुतर भाव व्यक्त करने का नाम मुख्योपाय है। थोड़ी-सी बात में अधिक भाव की अवतारणा ही नाटक जीवन का महौषध है।''

'नाटक' नामक इस प्रदीर्घ निबंध में उनका स्पष्ट मंतव्य है कि पुराने पड़ गये नियमों में परिवर्तन होना चाहिये। उनकी एक प्रसिद्ध उक्ति है ''मनुष्य की परिवर्तनशील वृत्तियों को ध्यान में रखकर नाटक लिखें।'' क्रांति और नवजागरण, संस्कार और शोधन की सृष्टि से जनता के लिये वह नाटक को सबमें सशक्त माध्यम मानते थे। उनका नज़रिया यह भी था कि दृश्य काव्य और साक्षात्कार का माध्यम होने के कारण नाटक की प्रभावशीलता बढ़ जाती है। भारतेन्दु ने कई प्रकार के नाटक लिखे हैं। मौलिक, रूपांतरित और अनूदित। इन सभी में सामाजिक, ऐतिहासिक, पौराणिक विषयों में उनकी नई दृष्टि का न केवल पता चलता वरन् शिल्प और शैली की विविधता के भी दर्शन होते हैं। उनके मौलिक नाटकों में भारत जननी वैदिकी हिंसा-हिंसा न भवति, प्रेम जोगिनी, विषस्या विषमौषधम्, चन्द्रावली, भारत दुर्दशा, नील देवी, अंधेर नगरी और सती प्रताप प्रमुख है।

भारतेन्दु के मौलिक नाटकों में कथ्य की नवीनता विषयों की विविधता और सामाजिक परिवर्तन की आकांक्षा के सूत्र हैं। विषय विषमौषधम में उन्होंने देशी राजाओं की दुर्दशा का चित्रण किया है। वैदिकी हिंसा, हिंसा न भवति में भारतेन्दु की धर्म के नाम पर की जाने वाली पशुबलि का विरोध करते हैं। भारत दुर्दशा में आयेगी। राज में भारत की खराब स्थिति एवं उसका निरन्तर दाम को चित्रित करते हैं। नील देवी में भारतीय नारी के आदर्श का प्रतिपादन करने का प्रयास करते हैं। अनेक नाटकों में सामाजिक सुधार और राष्ट्रीय चेतना की अभिव्यक्ति के साथ युग की समस्याओं को जनता तक पहुंचाने का उद्यम है। उनके नाटक जनकल्याण की भावना से लवरेज है। इन नाटकों में अतीत के गौरव का प्रतिपादन एवं राष्ट्रीय जागरण के बहुआयामी स्वर हैं।

हिन्दी में आचार्य भरत मुनि की तरह भारतेन्दु की प्रतिष्ठा है। उसकी मुख्य वजह यह है कि भारतेन्दु ने पहली बार बड़ी तीव्रता से नाटक की माध्यमगत, कलागत विशिष्टताओं की ओर ध्यान दिया और सामूहिक तौर पर योजनाबद्ध ढंग से नाटक और रंग कर्म को सक्रिय आंदोलन के रूप में पेश किया। उन्होंने नाटक और रंगमंच के परस्पर सम्बन्धों की अनिवार्यता पर जोर देते हुये रंग कर्म का शुभारम्भ और विस्तार किया। नाट्य मण्डलियों की स्थापना करके उन्होंने नाटक को लोकप्रियता प्रदान की। नाटक, रंगमंच और रंगकर्म के सामने जो अनेक मुश्किल सवाल थे मसलन नाट्य लेखन, अनुवाद, प्रदर्शन, राष्ट्रीय चेतना का विकास, लोक रूचि का परिष्कार, पारसी थियेटर के खिलाफ संघर्ष। न ही नाट्य परम्परा का विकास, नाट्य शिल्प की नई योजना, नये रंगमंच की स्वतंत्र परम्परा को विकसित करने के लिये वे जीवनपर्यन्त संघर्षशील रहे। वे मानते थे कि 'कला वास्तविक उन्नति का आधार है।' उनकी मुख्य चिन्ता यह थी कि हिन्दी का कोई रंगमंच नहीं है। इस कमी को पूरा करने के लिये उन्होंने अनेक प्रयास किये।

मैं जब पढ़ता था तो हमारे पाठ्यक्रम में भारतेन्दुजी का एक प्रहसननुमा नाटक 'अंधेर नगरी' था। पढ़ने में यह अत्यन्त सहज है। इसकी जो चीज सबसे अधिक आकर्षित करती है वह है इसकी भाषा, इसकी जीवंतता, इसकी रवानगी और हास्य व्यंग्य का बेहद आत्मीय पुट। यह नाटक समय के साथ-साथ निरन्तर अर्थवान होता जा रहा है। एक सौ पच्चीस-तीस साल से ज्यादह इसको लिखे हुये हो गये लेकिन इसका कथ्य और खिंलदड़ापन अभी भी नितान्त उपयोगी है। इसकी मार इसका व्यंग्य इसकी स्पिरिट आज भी नित

नूतन है। इसकी जिस लहजे का इस्तेमाल हुआ और इसके विकास में जो खान की और ताजगी उसको कोई जवाब नहीं। उसकी अर्थ छवियां बेमिशाल है। 'अंधेर नगरी' पर विचार करते हुये डॉ. राम विलास शर्मा का यह कथन बरबश याद आता है। कि ''अंधेर नगरी अंग्रेजी राज का ही दूसरा नाम है, लेकिन यह नाटक ''अंग्रेजी राज्य की अंधेर गर्दी की आलोचना ही नहीं वह इस अंधेर गर्दी को खत्म करने के लिये भारतीय जनता की प्रबल इच्छा भी प्रकट करता है। इस तरह भारतेन्दु ने नाटकों को जनता का मनोरंजन करने के साथ उसका राजनीतिक शिक्षण करने का साधन भी बनाया। इसके गीत और हास्य भरे वाक्य लोगों की जवान पर चढ़ गये हैं और भारतेन्दु की प्रहसन कला यहां अपने चरमोत्कर्ष पर दिखाई देती हैं।''

भारतेन्दु अकेले ऐसे नाटककार हैं जो नाटक, नाट्यकला, रंगमंच, नाट्य भाषा, नाट्य समीक्षा, रंगकर्म के प्रति चिन्तित और रंगमंच के प्रति निष्ठावान थे। रंगकर्म, रंगमंच नाटक के विविध कला रूपों और नाट्य समीक्षा-इन सभी आयामों के प्रति उनका ऐतिहासिक योगदान है। भारतेन्दु जी की नाट्य साधना की ही यह देन है कि आज का हमारा रंगमंच, रंगकर्म और रंग कौशल जनता से सीधे जुड़ा है। हालांकि हमने युग की परिस्थितियों के अनुकूल नये-नये प्रयोग किये हैं और इन प्रयोगों का सिलसिला अभी भी जारी हैं। भारतेन्दु दिन-ब-दिन प्रासंगिक अर्थवान और महत्वपूर्ण होते जा रहे हैं। अपने छोटे से जीवन में उन्होंने हिन्दी भाषा और हिन्दी जनता की जो सेवा की है। साहित्य की विभिन्न विधाओं को खुलकर खेलने का अवसर दिया है। उनके इस ऐतिहासिक अवदान को कभी भुलाया नहीं जा सकता।

हिंदी साहित्य का इतिहास में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल लिखते हैं, "जब भारतेंदु अपनी मंजी हुई परिष्कृत भाषा सामने लाए तब हिन्दी बोलने वाली जनता को गद्य के लिए खड़ी बोली का प्रकृत साहित्यिक रूप मिल गया।" आ. शुक्ल की मान्यता है कि "साहित्य, शिक्षित जनता की प्रवृत्तियों का प्रतिफलन है।" यहां पर शिक्षित जनता से उनका मतलब उन पढ़े-लिखे चिंतक विद्वानों से है, जो अपने समाज की सांस्कृतिक, सामाजिक, वैयक्तिक और राजनीतिक-आर्थिक दशाओं के बारे में सोचने-विचारने की क्षमता रखते हैं। ऐसे लोग ही नये-नये जीवन मूल्यों को सुझा सकते हैं।

भारतेन्दु जी सही अर्थों में पूर्ण नाटककार थे। उन्होंने जब नाटक लिखना शुरु किया तब हिन्दी नाट्य विधा संबंधी किसी तरह की सोच उपलब्ध नहीं थी।

न ही हिन्दी का अपना रंगमंच था। पारसी थियेटर की शुरुआत हो चुकी थी, लेकिन उन्हें हिन्दी रंगमंच नहीं कहा जा सकता। डॉ. नगेन्द्र लिखते हैं,

"पारसी रंगमंच पर अभिनीत हिन्दी के सस्ते नाटक सिनेमा आगमन के पूर्व हमारी अभिनय-दर्शन की भूख मिटाते रहे थे। ये नाटक सस्ती नीति के बल पर समाज-सुधार, धर्म, राष्ट्रीयता आदि का उपदेश देते थे, परंतु इनका उद्देश्य व्यवसाय ही था। अत: अधिक से अधिक ये जनता की रुचि का प्रसादन कर सकते थे, उसका परिष्कार नहीं। ... फिर भी श्री नारायणप्रसाद बेताब और पं. राधेश्याम कथावाचक के नाटकों को हिन्दी भूल नहीं सकती।"

शुद्ध साहित्य के रूप में हिन्दी नाटक साहित्य का विकास भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने ही किया। डॉ. दशरथ ओझा बताते हैं,

"पारसी थियेट्रिकल कम्पनी की अर्थ लिप्सा ने नाट्य-कला को अपनी दासी बनाया और अर्थपिशाच के हाथों इस ललित कला की हत्या होने लगी। भारतेन्दु जी का सुसंस्कृत हृदय इस अत्याचार को सहन न कर सका। कालिदास की शकुन्तला को पारसी रंगमंच पर निकृष्ट वेश्या की तरह नृत्य करते देखकर उनको अत्यन्त क्लेश हुआ और अभिनय के योग्य उत्तम नाटक लिखने की प्रेरणा उनके हृदय का मन्थन करने लगी।"

भारतेन्दु और भारतेन्दु मंडल के नाटककारों का लक्ष्य समाज-सुधार और सांस्कृतिक पुनरुत्थान था। इसी भावना से प्रेरित होकर उन्होंने समाज के यथार्थ का चित्रण नाटकों में किया। उन्होंने तत्कालीन समाज में व्याप्त बुराइयों, कुरीतियों, विकृतियों, अंधविश्वासों को देखा और उसे उसी रूप में प्रस्तुत भी किया। 'कविवचन सुधा' में समय-समय पर लिखे उनके लेख इसी का लेखा-जोखा है। लेकिन वे सिर्फ सैद्धांतिक यथार्थवादी नहीं थे। वे व्यावहारिक थे। उन्होंने बुराइयों की पहचान कर उसका यथार्थ चित्रण किया और उसके द्वारा भारतीय चिंतन के सांस्कृतिक और नैतिक मूल्यों को अपनाकर सुधार करने के लिए प्रेरित करना अपना लक्ष्य बनाया।

भारतेन्दु ने जो राजनीतिक चेतना और सामाजिक पुनरुत्थान का जो अलख जगाया उससे लोग अपने अधिकारों के प्रति सचेत हुए। भारतेन्दु युग में भारत गुलाम था। समाज तरह-तरह की रूढ़ियों में जकड़ा हुआ था। लोगों की आस्था और विश्वास खोखली होती जा रही थी। जातिप्रथा, धार्मिक अंधविश्वास ने समाज को पतनशील बना दिया था। एक रचनाकार का हृदय यह सब देख व्याकुल हो उठा। यथार्थबोध के इस नाटककार ने तत्कालीन परिस्थितियों के

चित्रण के माध्यम से सुधार का बीड़ा उठाया। "अंधेर नगरी" हो या "भारत दुर्दशा" या फिर "वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति", इनके माध्यम से उनके सामाजिक उत्तरदायित्व की चेतना प्रकट हुई है। उन्होंने लोगों में देशभाक्ति की चेतना को जगाया। यह चेतना सामाजिक नव जागरण की चेतना में रूपांतरित हुई। 1857 की क्रांति असफल हो चुकी थी। जनमानस में निराशा व्याप्त थी। एक प्रकार की शिथिलता व्याप्त थी। भारतेन्दु के नाटकों ने और उसके अभिनय ने वातावरण में नया उत्साह भरा, नया जोश पैदा किया। नाटकों में अतीत के गौरवपूर्ण अध्यायों को देख कर और आज़ादी के महत्व को समझ कर लोगों में आत्मविश्वास और स्वाभिमान का भाव जगा।

हालकि नाटक के माध्यम से राष्ट्रीय चेतना का उदय करना और सांस्कृतिक जागरण उनके नाटक साहित्य रचने का उद्देश्य था, लेकिन वे मनोरंजन के विरोधी नहीं थे। न ही हास्य को हल्की-फुल्की नगण्य चीज़ मानते थे। मनोरंजन तो हो ही, साथ ही साथ नाटक के दर्शक को शिक्षा देना भी उनका लक्ष्य था। बड़ी से बड़ी समस्या को हास्य और तीखे व्यंग्य से कहकर वे नाटक की मंचीय प्रकृति को उजागर करते हैं। उन्होंने नाटक-लेखन को नवजागरण से जोड़ा। उनका मानना था कि नाटकों के प्रदर्शन के माध्यम से समाज सुधार का आंदोलन अधिक प्रभावी हो सकता है। समाज को उसके यथार्थ को दिखा कर अधिक झकझोरा जा सकता है। उनकी जो दशा है उसे सुधारने के लिए उनको प्रेरित किया जा सकता है। इन्हीं उद्देश्यों को ध्यान में रखकर उन्होंने धार्मिक,सांस्कृतिक, सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक आदि प्रश्नों को अपने प्रहसन नाटकों के द्वारा न सिर्फ सामने लाने का प्रयास किया, बल्कि समाज के पुनरुत्थान का समाधान भी प्रस्तुत किया।

भारतेन्दु जी ने आंदोलन की तरह नाट्यविद्या को लिया। उन्होंने नाटक लिखे, अनूदित किए, लिखवाए, उनकी समीक्षाएं प्रकाशित कीं, नाट्य मंडलियां बनाईं, जगह-जगह नाट्य-प्रदर्शन किये। कवितावलधनी सभा का निर्माण किया। पेनी रीडिंग क्लब की योजना बनाई। अपने संरक्षण में काशी में "नेशनल थियेटर" की स्थापना की। उनके मंडल के लेखकों ने काशी, प्रयाग, बिहार आदि अनेक नाट्य मंडलियां स्थापित कीं। नाटक संबंधी विस्तृत लेख लिखकर उन्होंने नाटक के बारे में अपने विचार प्रस्तुत किए। इसमें उन्होंने नाट्यशास्त्र, साहित्य दर्पण, काव्य प्रकाश आदि प्राचीन संस्कृत ग्रंथों के आधार पर नाटक के विभिन्न पहलुओं पर विवेचना की।

उन्होंने हिन्दी की अपनी नाट्य परंपरा, नाट्य शिल्प और रंगमंच के विकास के लिए संघर्ष किया। उन्होंने अपनी मौलिकता और चिन्तन को "नाटक" निबन्ध और नाट्य लेखन में प्रस्तुत किया। वे हिन्दी की अपनी रंग-दृष्टि और नाट्य परंपरा का विकास करना चाहते थे। इसके लिए उन्होंने जहां एक ओर प्राचीन संस्कृत नाट्य परंपरा से सीखा, तो दूसरी ओर लोक नाटकों की परंपरा को भी अंगीकार किया। साथ ही उनका नाट्य चिंतन पश्चिम की नाट्य परंपरा से भी प्रेरित था। इसलिए हम कह सकते हैं कि भारतेन्दु जी की नाट्य-दृष्टि भारतीय और आधुनिक है, रूढ़िबद्ध नहीं।

नाटक 'अंधेर नगरी' में भारतेंदु जी की नाट्य दृष्टि का विश्लेषण

अंधेर नगरी प्रसिद्ध हिंदी साहित्यकार भारतेंदु हरिश्चंद्र का सर्वाधिक लोकप्रिय नाटक है। 6अंकों के इस नाटक में विवेकहीन और निरंकुश शासन व्यवस्था पर करारा व्यंग्य करते हुए उसे अपने ही कर्मों द्वारा नष्ट होते दिखाया गया है। भारतेंदु ने इसकी रचना बनारस के हिंदू नेशनल थियेटर के लिए एक ही दिन में की थी।

यह नाटक 6 अंकों में विभक्त है। इसमें अंक के बजाय दृश्य शब्द का प्रयोग किया गया है। पहले दृश्य में महंत अपने दो चेलों के साथ दिखाई पड़ते हैं जो अपने शिष्यों गोवर्धन दास और नारायण दास को पास के शहर में भिक्षा माँगने भेजते हैं। वे गोवर्धन दास को लोभ के बुरे परिणाम के प्रति सचेत करते हैं। दूसरे दृश्य में शहर के बाजार का दृश्य है जहाँ सबकुछ टके सेर बिक रहा है। गोवर्धन दास बाजार की यह कफैयत देखकर आनन्दित होता है और सात पैसे में ढाई सेर मिठाई लेकर अपने गुरु के पास लौट जाता है। तीसरे दृश्य में महंत के पास दोनों शिष्य लौटते हैं। नारायण दास कुछ नहीं लाता है जबकि गोबर्धन दास ढाई सेर मिठाई लेकर आता है। महंत शहर में गुणी और अवगुणी को एक ही भाव मिलने की खबर सुनकर सचेत हो जाते हैं और अपने शिष्यों को तुरंत ही शहर छोड़ने को कहते हैं। वे कहते हैं- 'सेत सेत सब एक से, जहाँ कपूर कपास। ऐसे देश कुदेस में, कबहूँ न कीजै बास।।' नारायण दास उनकी बात मान लेता है जबकि गोवर्धन दास सस्ते स्वादिष्ट भोजन के लालच में वहीं रह जाने का फैसला करता है। चौथे दृश्य में अंधेर नगरी के चौपट राजा के दरबार और न्याय का चित्रण है। शराब में डूबा राजा फरियादी के बकरी दबने की शिकायत पर बनिया से शुरू होकर कारीगर, चूनेवाले, भिश्ती, कसाई और गड़रिया से होते

हुए कोतवाल तक जा पहुंचता है और उसे फांसी की सजा सुना देता है। पाँचवें दृश्य में मिठाई खाते और प्रसन्न होते मोटे हो गए गोवर्धन दास को चार सिपाही पकड़कर फांसी देने के लिए ले जाते हैं। वे उसे बताते हैं कि बकरी मरी इसलिए न्याय की खातिर किसी को तो फाँसी पर जरूर चढ़ाया जाना चाहिए। जब दुबले कोतवाल के गले से फांसी का फँदा बड़ा निकला तो राजा ने किसी मोटे को फाँसी देने का हुक्म दे दिया। छठे दृश्य में शमशान में गोवर्धन दास को फाँसी देने की तैयारी पूरी हो गयी है। तभी उसके गुरु महंत जी आकर उसके कान में कुछ मंत्र देते हैं। इसके बाद गुरु शिष्य दोनों फाँसी पर चढ़ने की उतावली दिखाते हैं। राजा यह सुनकर कि इस शुभ साइयत में फाँसी चढ़ने वाला सीधा बैकुंठ जाएगा, स्वयं को ही फाँसी पर चढ़ाने की आज्ञा देता है। इस तरह अन्यायी और मूर्ख राजा स्वत: ही नष्ट हो जाता है। भारतेन्दु युग हिन्दी साहित्य में पुनर्जागरण काल के रूप में जाना जाता है और भारतेन्दु हरिश्चंद्र एक युगान्तकारी व्यक्तित्त्व के साथ हिन्दी के साहित्यिक क्षितिज पर उदित हुए। उन्होंने अत्यंत साहस और निर्भीकता के साथ न केवल स्वयं साहित्य-सृजन की पहल की, बल्कि समकालीन साहित्यकारों, कवियों और रंगकर्मियों को इसके लिए प्रेरित किया। उन्होंने मात्र 17 वर्ष की अल्पायु में 15 अगस्त, 1867 को काशी से एक काव्य-पत्रिका 'कविवचन-सुधा' का प्रकाशन शुरू किया। इस पत्रिका के प्रकाशन का एकमात्र लक्ष्य भारत को स्वत्व प्राप्त कर पराधीनता से मुक्ति प्राप्त करना था। भारतेन्दु ने 'कविवचन सुधा' के अलावा 'हरिश्चंद्र मैगजीन' (1873), 'हरिश्चंद्र चंद्रिक (1874) तथा 'बालबोधिनी' का भी संपादन किया। भारतेन्दु का 'अंधेर नगरी' हिन्दी के ऐसे पहले दस्तावेजी व्यंग्य प्रहसन नाटक के रूप में सामने आया है, जिसकी प्रासंगिकता आज भी जस की तस है। यूं तो यह नाटक 1881 ई. में किसी जमींदार को लक्षित करके नेशनल थियेटर के लिए एक ही बैठक में लिखा गया था। अचरज होता है कि भारतेन्दु ने एक ही रात में एक सामान्य लोकोक्ति 'अन्धेर नगरी चौपट राजा, टके सेर भाजी, टके सेर खाजा' को केंद्र में रखकर प्रखर व्यंग्य का ऐसा अभिनव प्रतिमान रचता सार्वकालिक नाटक कैसे रच दिया जो आज भी हिन्दी व्यंग्य नाटक के शिखर पर खड़ा है। कहने को दुनिया का सबसे बड़ा प्रजातंत्र है भारत लेकिन सत्ता में आमजन की भागीदारी सिर्फ भेड़ों का रेवड़ बनने तक। मूल्यों का अवमूल्यन यहां तक हुआ कि देखते-ही-देखते इस देश में दो देश बन गएकृएक चमचमाता इंडिया और दूसरा अपनी बदहाली से हांफता भारत। लगता तो यही है कि

स्वाधीनता के साढ़े छह दशक बाद भी 'अन्धेर नगरी चौपट राजा' का निजाम यथावत जारी है। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के नाटक 'अन्धेर नगरी' की सार्वकालिकता प्रासंगिकता और कालजयिता का इससे बड़ा साक्ष्य और क्या हो सकता है। दुनिया के किसी भी कोने के देश के बदलते शासन की परंपरा का लंबा इतिहास 'अन्धेर नगरी' के सच से स्वतः जुड़ता चलता है।

1960 तक भारतेन्दु के जिस नाटक 'अन्धेर नगरी' की प्रस्तुति रंग मंडलियों द्वारा एक प्रहसन नाटक के रूप में की जाती रही थी, बाद में देश की बदलती परिस्थितियों में यह नाटक जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में प्रजातंत्र की घोर विफलताओं और व्यवस्था के अधःपतन का धारदार रूपक बनता चला गया और सत्यव्रत सिन्हा, ब.ब. कारन्त, मुद्राराक्षस, देवेन्द्रराज अंकुर, गिरीश रस्तोगी तथा देश के अन्य अनेक दिग्गज रंगकर्मियों ने अनेक बार विभिन्न स्थानों पर इसका मंचन व्यंग्य-प्रहसन के एक दस्तावेजी नाटक के रूप में किया।

भारतेन्दु ने संगीत और काव्य को प्रायः नाटक का अभिन्न अंग माना है। संगीत का प्रयोग नाटक में कितना अर्थवान, अनिवार्य और सांकेतिक ढंग से किया जा सकता है, यह 'अन्धेर नगरी' में विभिन्न धुनों के प्रयोग से समझा जा सकता है।

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र कृत 'अन्धेर नगरी' की सम्पूर्ण कथावस्तु छह दृश्यों में विभाजित है। बाजार-दृश्य और दरबार-दृश्य नाटकीयता की दृष्टि से अनुपम हैं। बाजार का दृश्य पाठक को देश की वर्तमान व्यवस्था के संपूर्ण पाखंड के रूबरू लाकर खड़ा कर देता है। थाझीराम के संवाद सत्ता के सभी अहलकारों को बेनकाब कर देते हैं और पाचकवाले की कटुक्तियां महाजन, एडीटर, नाटकवाले, व्यापारी, साहेब और पुलिस सबका पर्दाफाश कर देती हैं और सारा सब्जी बाजार व्यंग्यात्मक अर्थ की व्यापकता में भारत की साढ़े छह दशक से भी अधिक स्वाधीनता की तमामतर विकृतियों का रूपक बन जाता है। देखिए क्या यह आज के तथाकथित सत्ता बगुला भगत अहलकारों का सच नहीं है।

चूरन साहेब लोग जो खाता। सारा हिन्द हजम कर जाता।।
चूरन पुलिस वाले खाते, सब कानून हजम कर जाते।
ले चूरन का ढेर, बेचा टके सेर। (पृ. 45)

गिरीश रस्तोगी की मानें तो 'अंधेर नगरी' अंध व्यवस्था का प्रतीक है। चौपट राजा विवेकहीनता और न्यायदृष्टि के न होने का मूर्त स्वरूप है। उसका न्याय भी अंधता का प्रमाण है क्योंकि बकरी की मृत्यु का दंड देने के लिए

गोवर्धन को पकड़ लिया गया अर्थात् कोई भी दंडित हो सकता है, लेकिन साथ ही भारतेंदु ने गोवर्धन के द्वारा मनुष्य की लोभवृत्ति पर भी व्यंग्य किया है। लोभवृत्ति ही मनुष्य को अंधेरे नगरी को अंध व्यवस्था, अमानवीयता में फंसाती है। (वही, पृ. 31-32) ऐसी जीवंत, हरकत भरी और नाटकीय भाषा भी इस नाटक को सार्वकालिक बनाती है। नेमीचंद्र जैन ने 'अंधेर नगरी' की कालजयिता का श्रेय इसके नाटकीय ढांचे को दिया है। प्रसिद्ध निर्देशक ब.ब. कारन्त ने 'अंधेर नगरी' को सदाबहार नाटक और हिन्दी नाटक के इतिहास में संदर्भ नाटक माना है।

मूल्यांकन

भारतेंदु हरिश्चंद्र का जन्म सन् 1850 में हुआ था। जब भारतेंदु बालक थे तभी 1857 में स्वतंत्रता का पहला संघर्ष भारतवर्ष में आरंभ हुआ। पूरे देश में अनेक स्थानों पर इस आंदोलन की चिंगारी फैल चुकी थी, लेकिन जल्दी ही इसे कुचल दिया गया। 1857 में शुरू हुई क्रांति का प्रभाव पूरे देश पर पड़ा और परवर्ती समय में राष्ट्रवाद की चेतना बहुत अधिक फैली। इसके फलस्वरूप समाज पर भी इसका असर पड़ा और साहित्य पर भी। भारतेंदु का लेखन काल 1857 के बाद का ही है। वे सन् 1885 तक जीवित रहे और भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की स्थापना भी सन् 1885 में हुई। यानी सन् 1885 तक भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के गठन की पृष्ठभूमि तैयार हो चुकी थी।

इस राष्ट्रीयता की भावना से भारतेंदु हरिश्चंद्र भी अछूते न रहे। उन्होंने अपनी रचनाओं के माध्यम से इस राष्ट्रवादी चेतना को न केवल रूपायित किया बल्कि आमजन को प्रेरित भी किया। इसके लिए वे कहीं व्यंजना का सहारा लेते हैं तो कहीं लक्षण का। भारतेंदु का समय वह काल था जबकि अंग्रेजों की दमनकारी नीतियां पूरे देश में पांव पसार चुकी थी। इसके बावजूद भारतेंदु अंग्रेजों की बिंनदा करने में कभी नहीं डरे। उन्होंने मुखर होकर लिखा :

'भीतर भीतर सब रस चूसै
बाहर से तन मन धन मूसै
जाहिर बातन में अति तेज
क्यों सखि साजन? नहीं अंगरेज।'

अंग्रेजों की चतुराई और वाक्पटुता का यह अद्‌भुत उदाहरण है। वे देश की पीड़ा को अभिव्यक्त करने में कभी नहीं हिचकिचाए। उन्होंने निर्भीक होकर

लिखा कि जिस भारत को हम पूरे विश्व में सर्वोत्तम मानते थे आज उसी भारत से खुशियां गायब हो चुकी हैं। वे लिखते हैं :-

'जो भारत जग में रह्यो सब सों उत्तम देश
ताही भारत में रह्यो अब नहीं सुख को लेस।'

उदात्त राष्ट्रीय भावना से भारतेंदु की रचनाएं ओतप्रोत हैं। वे देश और समाज की चिंता लगातार करते हैं और अपने अतीत को याद करते हुए भारत की इस दशा से दु:खी हैं :-

'जहं भीमकरन अर्जुन की छटा दिखती,
वहां रही मूढ़ता कलह अविद्या राती,
अब जहं देखहु तहं दुखहि दिखाई,
हा, हा, भारत दुर्दशा न देखी जाई।'

भारतेंदु की राष्ट्रीय भावना उनके नाटकों में बार-बार दिखाई देती है। अंधेर नगरी इसका उदाहरण है। अंधेर नगरी में चौपट राजा का राज्य है। यह अंधेर नगरी प्रतीक है भारत की और चौपट राजा तत्कालीन राज्य व्यवस्था है। इसी नाटक में भारतेंदु चना बेचने वाले पात्र के माध्यम से पूरी शासन व्यवस्था पर करारा व्यंग्य करते हैं। चने वाला गाते हुए चना बेचता है। यह केवल मनोरंजन के लिए नहीं है बल्कि यह जन-चेतना जाग्रत करने के लिए भी है। तत्कालीन प्रशासन के लिए चने वाले की पंक्तियां देखिए : –

'चना हाकिम सब जो खाते,
सब पर दूना टिकस लगाते।'

इसी तरह चूरन बेचने वाला पुलिस और साहबों के लिए कहता है :-

'चूरन साहेब लोग जो खाता,
सारा हिन्द हजम कर जाता,
चूरन पुलिस वाले जो खाते,
बस कानून हजम कर जाते।'

भारतेंदु के ये पात्र आम जनता के बीच विचरण करने वाले पात्र हैं। उनकी यह टेर आमजन को सोचने के लिए विवश करती रहती है। इसी नाटक का एक प्रमुख पात्र है गोवर्धन दास जो अंधेर नगरी में आकर प्रसन्न तो है पर सच्चाई भी बयान करते हुए कहता है :-

'अंधाधुंध मच्यो सब देसा,
मानहुं राजा रहत बिदेसा,

गो द्विज श्रुति आदर नहीं होई,
मानहुं नृपति विधर्म्मी कोई।'

भारतेंदु प्रकारांत से इस विधर्मी राजा से मुक्ति पाने की बात करते हैं। यह मुक्ति वास्तव में पराधीनता से मुक्ति है। राष्ट्रीय चेतना का प्रमुख उद्देश्य होता है स्वतंत्रता प्राप्ति अर्थात पराधीनता से मुक्ति पाना। राष्ट्रीयता की भावना का एक प्रमुख अंग है अपनी भाषा के प्रति जागरूकता। भारतेंदु इस बिंदु को लेकर अत्यंत संवेदनशील और सजग थे। वे अपनी भाषा की अस्मिता के लिए लगातार अपनी लेखनी चला रहे थे। एक ओर वे कहते हैं :-

'निज भाषा उन्नति अहै, सब उन्नति को मूल।'

तो दूसरी तरफ अंग्रेजी के विस्तार को देखते हुए उसका महत्व तो रूपायित करते हैं पर अपनी भाषा से बड़ा उसे नहीं मानते :-

'अंगरेजी पढ़िके जदपि सब गुन होत प्रवीन।
वै निज भाषा ज्ञान बिनु, रहत हीन के हीन।'

अंग्रेजों के द्वारा प्रवर्तित प्रेस के महत्व को जानकर भारतेंदु ने उसका उपयोग किया और स्वयं अनेक पत्रिकाएं निकालकर भारतीय जनमानस को प्रेरित करने का काम किया। वे पंक्तियां हिन्दी के प्रचार का काम तो कर ही रही थी, भारतीयता और राष्ट्रीयता का प्रसार भी कर ही रही थी। भारतेंदु अपनी कलम के माध्यम से अंग्रेजों से सीधे मोर्चा लेते हैं। वे 'धनजंय विजय' में लिखते हैं :-

'वहै मनोरथ फल सुफल, वहै महोत्सव हेत,
जो मानी निज रिपुन सौं, अपुनो बदलो लेत।'

यह आह्ववान है जनता का, शत्रुओं से बदला लेने का। वे शत्रु अंग्रेज ही तो हैं, जिनसे भारतीय जनता बुरी तरह से त्रस्त थी।

भारतेंदु बार-बार अपने अतीत को याद करते हुए चेताते हैं कि जब-जब भारत में आपस में फूट पड़ी है तब-तब हमें गुलामी का मुंह देखना पड़ा है। ये पंक्तियां अत्यंत कारुणिक हैं, जिनमें भारतेंदु अपने इतिहास के पन्नों को पलटते दिखते हैं :-

'जग में घर की फूट बुरी,
घर की फूटहि सों बिन साई सुबरन लंक पुरी,
फूटहि सों सब कौरव नासै, भारत युद्ध भयो,
जाको घारो या भारत में अबलो नहीं पुज्यो,

फूटहि सों जयचंद बुलायो, जबरन भारत धाम,
जाको फल अबलौं भोगता सब, आरज होई गुलाम।'

इनके माध्यम से वे सचेत कर रहे हैं कि एकता ही हमें मुक्ति दिला सकती है। भारतेंदु की एक बड़ी विशेषता थी कि वे यात्राएं किया करते थे और भारत के अनेक प्रदेशों की राजनैतिक जागरूकता से परिचित भी थे। वे बंगाल के परिवेश के माध्यम से भारत दुर्दशा पर लिखते हैं कि हिन्दी प्रदेश उतना जागरूक नहीं है, जितना बंगाल। भारतेंदु 'कविवचन सुधा' में लगातार अंग्रेजी राज्य के विरुद्ध कठोर टिप्पणियां लिखते रहे। अंग्रेजी राज्य में भारत की बढ़ती हुई दरिद्रता का उल्लेख करते हुए भारतेंदु लिखते हैं :-

'कपड़ा बनाने वाले, सूत निकालने वाले, खेती करने वाले आदि सब भीख मांगते हैं–खेती करने वालों की यह दशा है कि लंगोटी लगाकर, हाथ में तूंबा ले भीख मांगते हैं और जो निरुद्यम है, उनको तो अन्य की भ्रांति है।' इस प्रकार भारतेंदु ने स्वदेशी का आंदोलन चलाया था। उनहोंने स्वदेशी प्रचार-प्रसार के लिए एक प्रतिज्ञापत्र तैयार किया था और उस पर बहुत सारे लोगों के हस्ताक्षर लिये थे। भारतेंदु ने स्वदेशी के पक्ष में जोरदार मुहिम चलाते हुए लिखा था :-

'भाइयो, अब तो संबद्ध हो जाओ और ताल ठोंककर इनके सामने खड़े तो हो जाओ, देखो भारतवर्ष का धन जिससे जाने न पावे, वह उपाय करो।'

भारतेंदु की यह दृष्टि उन्हें राष्ट्रीयता का प्रबल समर्थक सिद्ध करती है। वे समाज के हर क्षेत्र का मूल्यांकन और विश्लेषण करते हैं। चाहे वह शिक्षा हो, उद्योग हो, सामाजिक सद्भाव हो या राष्ट्रीय चेतना। अपने अनेक निबंधों में भारतेंदु ने सूक्ष्म दृष्टि से विवेचन विश्लेषण किया है।

किसी जीवन का सही उपयोग क्या होता है, यह हिन्दी नाटकों का सूत्रपात करने वाले भारतेंदु जी के जीवन पर नजर डालकर समझा जा सकता है। 35 साल की छोटी उम्र पाने वाले भारतेन्दु ने हिन्दी साहित्य में जो जोड़ा है, वह बेजोड़ है। शुरुआत से देखें तो उन्हें स्कूली शिक्षा नहीं मिली। घर में ही भारतेन्दु ने हिन्दी, मराठी, बंगला, उर्दू और अंग्रेजी सीखी। पांच साल की नन्हीं उम्र में बालक हरिश्चंद्र ने एक दोहा लिखा-

लै ब्योढ़ा ठाढ़े भए श्री अनिरुद्ध सुजान। वाणा सुर की सेन को हनन लगे भगवान।।

इसे हिन्दी साहित्य के पितामह के रचनाकर्म की शुरुआत माना जा सकता है। ध्यान रखिए कि इसी उम्र में भारतेन्दु ने अपनी माँ को खोया था। 10 साल

की उम्र में पिता का साया भी भारतेन्दु के ऊपर नहीं था। 15 साल की उम्र में भारतेंदु ने विधिवत साहित्य सृजन शुरू कर दिया था और 18 की उम्र में उन्होंने 'कवि वचन-सुधा' नामक साहित्यिक पत्र निकाला, जिसमें अपने समय के शीर्ष विद्वानों की रचनाएं प्रकाशित हुईं। वे 20 वर्ष की उम्र में साहित्यिक सभा के ऑनरेरी मैजिस्ट्रेट बनाए गए और आधुनिक हिन्दी साहित्य के जनक के रूप में प्रतिष्ठित हुए। इसके तीन साल बाद 1873 में उनकी पहली गद्य कृति 'वैदिक हिंसा हिंसा न भवति' आई। इससे पहले 71 में उनकी कविता पुस्तिका 'प्रेम मालिका' आ चुकी थी। इसी समय भारतेन्दु ने विशाखदत्त के मशहूर नाटक 'मुद्राराक्षस' का संस्कृत से हिन्दी में अनुवाद किया। उनके बाद कुछ अन्य लेखकों ने भी इस नाटक का अनुवाद किया, लेकिन जो ख्याति भारतेंदु हरिश्चंद्र के अनुवाद को मिली, वह किसी और को नहीं मिल सकी। इसके अतिरिक्त उन्होंने 'सत्य हरिश्चन्द्रं' (1875), 'श्री चन्द्रावली' (1876), 'भारत दुर्दशा' (1876-1880 के बीच), 'नीलदेवी' (1881) जैसे मौलिक नाटक भी लिखे।

साहित्य सेवा और समाज सेवा भारतेंदु जी के लिए अलग-अलग काम नहीं थे, बल्कि वे एक ही गाड़ी के दो पहिए थे। परेशानहाल जनता, साहित्यिक दोस्तों और आसपास के लोगों की निजी सहायता करते-करते भारतेंदु खुद कर्ज में डूब गये। तंगहाल भारतेंन्दु बीमार भी रहने लगे और आखिरकार 6 जनवरी 1885 को सतत रचनाकर्म में लगा एक गंभीर नाटककार, राष्ट्रप्रेमी कवि और कुरीतियों के खिलाफ लिखने वाला व्यंग्यकार व सच्चा साहित्यिक नेता हमेशा के लिए चुप हो गया। उनका मूलमंत्र था-

निज भाषा उन्नति अहै सब उन्नति को मूल।
बिन निज भाषा ज्ञान के मिटे न हिय को शूल॥

और सारी उम्र उन्होंने यह अपने जीवन से साबित किया। महज 18 सालों के रचनाकर्म के आधार पर हिन्दी साहित्य में उनका जीवन काल उनके युग के नाम से जाना जाता है। इससे समझा जा सकता है कि अपने समय के साहित्य पर भारतेन्दु का प्रभाव किस हद तक होगा। भारतेन्दु जिस कालखंड में लिख रहे थे, अपने समाज से बातचीत कर रहे थे वह सन्धिकाल है। रीतिकाल की विकृत सामन्ती सोच को सींचने वाली परंपरायें पूरी तरह मिटी नहीं थी और कुछ रचनाकार उन्हें जीवित रखना चाहते थे। ऐसे में भारतेन्दु ने स्वस्थ्य परम्परा की जमीन पर अपनी लेखनी चलाई और आधुनिकता के बीज बोए। आधुनिक काल की शुरुआत करते हुए भारतेन्दु हरिश्चन्द्र नवजागरण के अग्रदूत के रूप में देश

की गरीबी, पराधीनता, अंग्रेजों के अमानवीय शोषण की कलई खोलने निकले थे। वे कभी कविता लिखते, उससे बात पूरी न होती तो नाटक की ओर मुड़ जाते। साथ ही व्यंग्य और निबंध भी चलते रहे। यानी विधाएं भारतेन्दु के लिए महत्वपूर्ण नहीं थी। वह कथ्य जरूरी था, जो वे जनता तक पहुंचाना चाहते थे। इसमें वे भाषा भी बदलते रहे। कभी ब्रज, तो कभी उर्दू, और वक्त पड़ा तो बांग्ला और अंग्रेजी भी।

असल में बहुमुखी प्रतिभा जैसे पद भारतेन्दु जैसे रचनाकारों के लिए ही बने हैं। कविता, कहानी, नाटक, उपन्यास, निबंध सभी विधाओं में उनका योगदान अमूल्य है। हिन्दी-साहित्य के आधुनिक युग के प्रतिनिधि भारतेन्दु की संपादकीय-पत्रकारीय प्रतिभा का नमूना 'कविवचन सुधा', 'हरिश्चन्द्र मैगजीन', 'हरिश्चंद्र चंद्रिका' 'और' 'स्त्री बाला बोधिनी' जैसी पत्रिकाओं में मिलता है, जो उन्होंने अपने समय में निकालीं। 'स्त्री बाला बोधिनी' की ओर से अंग्रेजी पढने़ वाली महिलाओं को साड़ी भेंट दी जाती थी। यह पत्रिका उन दिनों महिलाओं की सखी के रूप में पेश की गई थी। पहले अंक में ही पत्रिका की ओर से घोषणा की गई-'मैं तुम लोगों से हाथ जोड़कर और आंचल खोलकर यही मांगती हूं कि जो कभी कोई भली-बुरी, कड़ी-नरम, कहनी-अनकहनी कहूं, उसे मुझे अपनी समझकर क्षमा करना, क्योंकि मैं जो कुछ कहूंगी सो तुम्हारे हित की कहूंगी।'

दिलचस्प है कि भारतेन्दु युग के लेखकों बालकृष्ण भट्ट, प्रताप नारायण मिश्र, राधा चरण गोस्वामी, उपाध्याय बदरीनाथ चौधरी प्रेमघन, लाला श्रीनिवास दास, बाबू देवकी नंदन खत्री और किशोरी लाल गोस्वामी में से ज्यादातर पत्रकार भी थे। इस तरह भारतेन्दु युग को साहित्यिक पत्रकारिता का युग भी कहा जा सकता है। इस दौर में हिन्दी का पहला उपन्यास 'परीक्षा गुरु' लिखा गया, जिसके लेखक श्रीनिवासदास थे। हालांकि कुछ आलोचक श्रद्धाराम फुल्लौरी के उपन्यास 'भाग्यवती' को हिन्दी का पहला उपन्यास मानते हैं। इसी दौर में बाबू देवकीनंदन खत्री का 'चंद्रकांता' तथा 'चंद्रकांता संतति' पाठकों के सामने आये। शिवप्रसाद सितारे हिन्द जैसे कहानीकार इसी युग में थे, जिनकी कहानी 'राजा भोज का सपना' आज भी महत्वपूर्ण है। भारतेन्दु उनके पास अंग्रेजी सीखने जाते थे। बाद में स्वाध्याय से भारतेन्दु ने संस्कृत, मराठी, बांग्ला, गुजराती, पंजाबी और उर्दू सीखी"।

भारतेंदु की विचारधारा पर भक्त कवियों का गहरा असर था। इन रचनाओं में जो जनपक्ष था उसे भारतेन्दु ने संवारा और नई परिस्थितियों में उसे विकसित

किया। उनकी समाज सुधार संबंधी रचनाओं में भी भक्त कवियों की स्थापनाएं दिखाई देती हैं। भारतेन्दु ने जहां श्रृंारिक कविताओं के लिए रीतिकालीन रसपूर्ण अलंकार शैली का इस्तेमाल किया तो वहीं भक्ति पदों में भावात्मक हो गये। अपनी समाज-सुधार संबंधी रचनाओं में वे व्यंग्य की शरण में गये तो देश-प्रेम की कविताओं में उद्‌बोधन का इस्तेमाल किया। इस तरह भारतेंन्दु अपने समय के इकलौते हरफनमौला रचनाकार थे।

कवि भारतेन्दु को हम'दान-लीला', 'प्रेम तरंग', 'प्रेम प्रलाप', 'कृष्ण चरित्र' जैसे भक्ति काव्यों से जानते हैं। वही 'सतसई श्रृंगार', 'होली मधु मुकुल' मेंश्रृंारिक काव्य का लुत्फ मिलता है। 'भारत वीरत्व', 'विजय-बैजयंती' और 'सुमनांजलि' में राष्ट्रप्रेमी भारतेन्दु को देखा जा सकता है। भारतीय नाट्य इतिहास में भारतेन्दु का नाम हमेशा आदर से लिया जाता रहेगा। उनके नाटक 'बंदर-सभा', 'बकरी का विलाप' और 'अंधेर नगरी चौपट राजा' हास्य-व्यंग्य और कटाक्ष का बेजोड़ नमूना हैं। नाटकीयता भारतेन्दु के जीवन में रची बसी विशेषता थी। तकरीबन 18 साल के अपने सार्वजनिक जीवन में भारतेंदु ने लगातार चौंकाया है। इस नाटकीयता को उनकी कृष्ण भक्ति से भी जोड़ा जा सकता है। कृष्ण के जीवन से प्रभावित भारतेंदु जीवन और छद्‌म के दर्शन के साथ लगातार खेलते रहे। यह उनके रचनाकर्म में भी दिखाई देता है। ब्रज भाषा में रचनाकर्म के दौरान भारतेंदु जी पर दोहरी जिम्मेदारी थी। उन्हें लोक के बीच काव्य-नाट्य की पैठ भी बनानी थी और भाषा के संस्कार भी विकसित करने थे। इसीलिए भारतेंदु जी की भाषा में कहीं-कहीं व्याकरण संबंधी अशुद्धियां भी देखने को मिलती हैं। हालांकि मुहावरों के सटीक प्रयोग और सरल व व्यवहारिक शैली इस कमी को खलने नहीं देती।

भारतेंदु के रचनाकर्म को समझने के लिए उनके विन्यास को भी देखना चाहिए। वे एक साथ कई भाषाओं में विचर रहे थे। हिन्दी के छंदों के अलावा उन्होंने उर्दू, संस्कृत, बंगला के पदों का भी भरपूर इस्तेमाल किया है। संस्कृत के बसंत तिलका, शार्दूल, विक्रीड़ित, शालिनी और हिन्दी के चौपाई, छप्पय, रोला, सोरठा, कुंडलियां, सवैया भारतेन्दु के काव्य में बिखरे पड़े हैं। बंगला के पयार और रेखता की गजल भी भारतेन्दु के रचनालोक में मिलती है, तो कजली, ठुमरी, लावनी, मल्हार, चैती जैसे लोक-छंदों को भी उन्होंने बखूबी साधा।

अलंकारों के प्रयोग में भारतेंदु ने अपने युग में जो नजीर कायम की है, वह आने वाले कई दशकों तक परंपरा बनी रही। उपमा, उत्प्रेक्षा, रूपक और संदेह

अलंकारों के प्रति भारतेंदु के लगाव के बारे में तो सभी जानते हैं। भारतेंन्दु ने शब्दालंकारों को भी अपने काव्य में भरपूर जगह दी है। साथ ही दो अलंकारों को साथ-साथ साधने में उनका कोई सानी दिखाई नहीं देता। उत्प्रेक्षा और अनुप्रास की ही योजना देखिये: -

तरनि तनूजा तट तमाल तरुवर बहु छाए।
झुके कूल सों जल परसन हित मनहु सुहाए॥

हैरत की बात यह है कि जिस'कवि वचन सुधा' को आठ वर्ष तक भारतेन्दु ने अपना खून-पसीना दिया, 1885 में जब भारतेन्दु का निधन हुआ तब उनमें न तो कोई शोक समाचार था और न ही श्रद्धांजलि की दो पंक्तियां। कह सकते हैं कि भारतेन्दु अपने आसपास के लोगों से ही छले गये, लेकिन उन्होंने कभी विश्वास करना नहीं छोड़ा। आखिर नवजागरण के अग्रदूत को ऐसा ही होना था।

लगे हाथ भारतेन्दु जी की रचनाओं का आस्वाद भी लिया जाये। कविता के बिंबों, नाटकों के मारक व्यंग्य और गद्य के उत्कृष्ट नमूनों से तो हिन्दी समाज परिचित ही है। भारतेन्दु ने कुछ मुकरियां भी लिखी है। मुकरियों से हिन्दी समाज को पहले पहल खड़ी बोली के पहले कवि अमीर खुसरो ने परिचित कराया। अमीर खुसरो की मुकरियों (जिसमें पहले कही बात का अंत में खंडन सा करके उत्तर दिया जाता है) की परंपरा को आगे बढाते हुए भारतेन्दु जी ने अपने समय पर तीखे व्यंग्य किये। कुछ विद्वान कबीर की उलटबांसियों को भी मुकरी की श्रेणी में रखते हैं, जबकि पहेली व बूझ-अबूझ शैली भी कविता की इसी शैली से मिलती जुलती है। बहरकैफ अभी हम इनके भेदों में न जाते हुए भारतेन्दु जी की मुकरियों को देखते हैं।

सब गुरुजन को बुरो बतावै ।
अपनी खिचड़ी अलग पकावै ।
भीतर तत्त्व न झूठी तेजी ।
क्यों सखि सज्जन नहीं अँगरेजी ।
तीन बुलाए तेरह आवैं ।
निज निज बिपता रोइ सुनावैं ।
आँखौ फूटे भरा न पेट ।
क्यों सखि सज्जन नहीं ग्रैजुएट ।
सुंदर बानी कहि समुझावै ।

बिधवागन सों नेह बढ़ावै ।
दयानिधान परम गुन-आगर ।
सखि सज्जन नहीं विद्यासागर ।
सीटी देकर पास बुलावै ।
रुपया ले तो निकट बिठावै ।
ले भागै मोहि खेलहि खेल ।
क्यों सखि सज्जन नहीं सखि रेल ।
धन लेकर कछु काम न आव ।
ऊँची नीची राह दिखाव ।
समय पड़े पर सीधै गुंगी ।
क्यों सखि सज्जन नहीं सखि चुंगी ।
मतलब ही की बोलै बात ।
राखै सदा काम की घात ।
डोले पहिने सुंदर समला ।
क्यों सखि सज्जन नहीं सिख अमला ।

'भारतेन्दु समग्र' में सिख लिखा है, लेकिन हो सकता है यह प्रूफ़ की ग़लती हो और शब्द सखि ही हो ।

रूप दिखावत सरबस लूटै ।
फंदे मैं जो पड़ै न छूटै ।
कपट कटारी जिय मैं हुलिस ।
क्यों सखि सज्जन नहीं सखि पुलिस ।
भीतर भीतर सब रस चूसै ।
हँसि हँसि कै तन मन धन मूसै ।
जाहिर बातन मैं अति तेज ।
क्यों सखि सज्जन नहीं अँगरेज ।
सतएँ अठएँ मों घर आवै ।
तरह तरह की बात सुनाव ।
घर बैठा ही जोड़ै तार ।
क्यों सखि सज्जन नहीं अखबार ।
एक गरभ मैं सौ सौ पूत ।
जनमावै ऐसा मजबूत ।

करै खटाखट काम सयाना ।
सखि सज्जन नहीं छापाखाना ।
नई नई नित तान सुनावै ।
अपने जाल मैं जगत फँसावै ।
नित नित हमैं करै बल-सून ।
क्यों सखि सज्जन नहीं कानून ।
इनकी उनकी खिदमत करो ।
रुपया देते देते मरो ।
तब आवै मोहि करन खराब ।
क्यों सखि सज्जन नहीं खिताब ।
लंगर छोड़ि खड़ा हो झूमै ।
उलटी गति प्रति कूलहि चूमै ।
देस देस डोलै सजि साज ।
क्यों सखि सज्जन नहीं जहाज ।
मुँह जब लागै तब नहीं छूटै ।
जाति मान धन सब कुछ लूटै।
पागल करि मोहि करे खराब ।
क्यों सखि सज्जन नहीं सराब ।

महावीर प्रसाद द्विवेदी

महावीर प्रसाद द्विवेदी का साहित्य आधुनिक हिन्दी साहित्येतिहास का आदिकाल है। इसका पहला चरण भारतेन्दु-युग है एवं दूसरा चरण द्विवेदी-युग। महावीर प्रसाद द्विवेदी एक ऐसे साहित्यकार थे, जो बहुभाषाविद् होने के साथ ही साहित्य के इतर विषयों में भी समान रुचि रखते थे। उन्होंने सरस्वती का अठारह वर्षों तक संपादन कर हिन्दी पत्रकारिता में एक महान कीर्तिमान स्थापित किया था। वे हिन्दी के पहले व्यवस्थित समालोचक थे, जिन्होंने समालोचना की कई पुस्तकें लिखी थीं। वे खड़ी बोली हिन्दी की कविता के प्रारंभिक और महत्वपूर्ण कवि थे। आधुनिक हिन्दी कहानी उन्हीं के प्रयत्नों से एक साहित्यिक विधा के रूप में मान्यता प्राप्त कर सकी थी। वे भाषाशास्त्री थे, अनुवादक थे, इतिहासज्ञ थे, अर्थशास्त्री थे तथा विज्ञान में भी गहरी रुचि रखने वाले थे। अंततः वे युगांतर लाने वाले साहित्यकार थे या दूसरे शब्दों में

कहें, युग निर्माता थे। वे अपने चिन्तन और लेखन के द्वारा हिन्दी प्रवेश में नव-जागरण पैदा करने वाले साहित्यकार थे।

महावीर प्रसाद द्विवेदी हिन्दी के पहले साहित्यकार थे, जिनको 'आचार्य' की उपाधि मिली थी। इसके पूर्व संस्कृत में आचार्यों की एक परंपरा थी। मई, 1933 ई. में नागरी प्रचारिणी सभा ने उनकी सत्तरवीं वर्षगाँठ पर बनारस में एक बड़ा साहित्यिक आयोजन कर द्विवेदी का अभिनंदन किया था उनके सम्मान में द्विवेदी अभिनंदन ग्रंथ का प्रकाशन कर, उन्हें समर्पित किया था। इस अवसर पर द्विवेदी जी ने जो अपना वक्तव्य दिया था, वह 'आत्म-निवेदन' नाम से प्रकाशित हुआ था। इस 'आत्म-निवेदन' में वे कहते हैं, ''मुझे आचार्य की पदवीं मिली है। क्यों मिली है, मालूम नहीं। कब, किसने दी है, यह भी मुझे मालूम नहीं। मालूम सिर्फ इतना ही है कि मैं बहुधा-इस पदवी से विभूषित किया जाता हूँ। ...शंकराचार्य, मध्वाचार्य, सांख्याचार्य आदि के सदृश किसी आचार्य के चरणरजः कण की बराबरी मैं नहीं कर सकता। बनारस के संस्कृत कॉलेज या किसी विश्वविद्यालय में भी मैंने कदम नहीं रखा। फिर इस पदवी का मुस्तहक मैं कैसे हो गया ?'' महावीर प्रसाद द्विवेदी ने मैट्रिक तक की पढ़ाई की थी। तत्पश्चात् वे रेलवे में नौकरी करने लगे थे।

उसी समय इन्होंने अपने लिए सिद्धान्त निश्चित किए-वक्त की पाबंदी करना, रिश्वत न लेना, अपना काम ईमानदारी से करना और ज्ञान-वृद्धि के लिए सतत प्रयत्न करते रहना। द्विवेदी जी ने लिखा है, ''पहले तीन सिद्धान्तों के अनुकूल आचरण करना तो सहज था, पर चौथे के अनुकूल सचेत रहना कठिन था। तथापि सतत् अभ्यास से उसमें भी सफलता होती गई। तारबाबू होकर भी, टिकट बाबू, मालबाबू, स्टेशन मास्टर, यहाँ तक कि रेल पटरियाँ बिछाने और उसकी सड़क की निगरानी करने वाले प्लेट-लेयर तक का भी काम मैंने सीख लिया। फल अच्छा ही हुआ। अफसरों की नजर मुझ पर पड़ी। मेरी तरक्की होती गई। वह इस तरह कि एक दफे मुझे छोड़कर तरक्की के लिए दरख्वास्त नहीं देनी पड़ी।'' द्विवेदी जी 15 रुपये मासिक पर रेलवे में बहाल हुए थे और जब उन्होंने 1904 ई. में नौकरी छोड़ी, उस वक्त 150 रुपये मूल वेतन एवं 50 रुपये भत्ता मिलता था, यानी कुल 200 रुपये।

उस जमाने में यह एक बहुत बड़ी राशि थी। वे 18 वर्ष की उम्र में रेलवे में बहाल हुए थे। उनका जन्म 1864 ई. में हुआ था और 1882 ई, से उन्होंने नौकरी प्रारंभ की थी। नौकरी करते हुए वे अजमेर, बंबई, नागपुर, होशंगाबाद,

इटारसी, जबलपुर एवं झाँसी शहरों में रहे। इसी दौरान उन्होंने संस्कृत एवं ब्रजभाषा पर अधिकार प्राप्त करते हुए पिंगल अर्थात् छंदशास्त्र का अभ्यास किया। उन्होंने अपनी पहली पुस्तक 1895 ई. में श्रीमहिम्नस्तोत्र की रचना की, जो पुष्यदंत के संस्कृत काव्य का ब्रजभाषा में काव्य रूपांतर है। द्विवेदी जी ने सभी पद्यरचनाओं का भावार्थ खड़ी बोली गद्य में ही किया है। उन्होंने इसकी भूमिका में लिखा है, ''इस कार्य में हुशंगाबादस्थ बाबू हरिश्चन्द्र कुलश्रेष्ठ का जो सांप्रत मध्यप्रदेश राजधानी नागपुर में विराजमान हैं, मैं परम कृतज्ञ हूँ।'' अपने 'आत्म-निवेदन' में उन्होंने लिखा है, ''बचपन से मेरा अनुराग तुलसीदास की रामायण और ब्रजवासीदास के ब्रजविलास पर हो गया था। फुटकर कविता भी मैंने सैकड़ों कंठ कर लिए थे। हुशंगाबाद में रहते समय भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के कविवचन सुधा और गोस्वामी राधाचरण के एक मासिक पत्र ने मेरे उस अनुराग की वृद्धि कर दी। वहीं मैंने बाबू हरिश्चंद्र कुलश्रेष्ठ नाम के एक सज्जन से, जो वहीं कचहरी में मुलाजिम थे, पिंगल का पाठ पढ़ा। फिर क्या था, मैं अपने को कवि ही नहीं, महाकवि समझने लगा। मेरा यह रोग बहुत दिनों तक ज्यों का त्यों बना रहा।'' (1889 से 1892) ई. तक द्विवेदी जी की इस प्रकार की कई पुस्तकें प्रकाशित हुईं-विनय-विनोद, विहार-वाटिका, स्नेहमाला, ऋतु तरंगिनी, देवी स्तुति शतक, श्री गंगालहरी आदि। 1896 ई. में इन्होंने लॉर्ड बेकन के निबंधों का हिन्दी में भावार्थ मूलक रुपांतर किया, जो बेकन-विचार-रत्नावली पुस्तक में संकलित हैं। 1898 ई. में इन्होंने हिन्दी कालिदास की आलोचना लिखी, जो हिन्दी की पहली आलोचनात्मक पुस्तक है। 1988 ई. में श्रीहर्ष के नैषधीयचरितम पर इन्होंने नैषध-चरित-चर्चा नामक आलोचनात्मक एवं गवेषणात्मक पुस्तक लिखी। यह सिलसिला जो शुरू हुआ, वह 1930-31 ई. तक चला और द्विवेदी जी की कुल पच्चासी पुस्तकें प्रकाशित हुईं।

जनवरी, 1903 ई. से दिसंबर, 1920 ई. तक इन्होंने सरस्वती नामक मासिक पत्रिका का संपादन कर एक कीर्तिमान स्थापित किया था, इसीलिए इस काल को हिन्दी साहित्येतिहास में 'द्विवेदी-युग' के नाम से जाना जाता है। अपने प्रकांड पांडित्य के कारण इन्हें 'आचार्य' कहा जाने लगा। उनके व्यक्तित्त्व के बारे में आचार्य किशोरी दास वाजपेयी ने लिखा है, ''उनके सुदृढ़ विशाल और भव्य कलेवर को देखकर दर्शक पर सहसा आतंक छा जाता था और यह प्रतीत होने लगता था कि मैं एक महान ज्ञानराशि के नीचे आ गया हूँ।'' द्विवेदी जी का मानना था कि 'ज्ञान-राशि' के संचित कोष का ही नाम साहित्य है।' द्विवेदी जी

स्वयं तो एक 'महान ज्ञान-राशि' थे ही उनका संपूर्ण वा्मय भी संचित ज्ञानराशि है, जिससे होकर गुजरना अपनी जातीय परंपरा को आत्मसात करते हुए विश्वचिन्तन के समक्ष भी होना है। डॉ. रामविलास शर्मा ने द्विवेदी जी के महत्त्व को प्रतिपादित करते हुए लिखा है, ''द्विवेदी जी ने अपने साहित्य जीवन के आरंभ में पहला काम यह किया कि उन्होंने अर्थशास्त्र का अध्ययन किया। उन्होंने जो पुस्तक बड़ी मेहनत से लिखी और जो आकार में उनकी और पुस्तकों से बड़ी है, वह संपत्तिशास्त्र है।.....अर्थशास्त्र का अध्ययन करने के कारण द्विवेदी जी बहुत-से विषयों पर ऐसी टिप्पणियाँ लिख सके जो विशुद्ध साहित्य की सीमाएँ लाँघ जाती हैं।

इसके साथ उन्होंने राजनीति विषयों का अध्ययन किया और संसार में जो महत्त्वपूर्ण राजनीति घटनाएँ हो रही थीं, उन पर उन्होंने लेख लिखे। राजनीति और अर्थशास्त्र के साथ उन्होंने आधुनिक विज्ञान से परिचय प्राप्त किया और इतिहास तथा समाजशास्त्र का अध्ययन गहराई से किया। इसके साथ भारत के प्राचीन दर्शन और विज्ञान की ओर इन्होंने ध्यान दिया और यह जानने का प्रयत्न किया कि हम अपने चिन्तन में कहाँ आगे बढ़े हुए हैं और कहाँ पिछड़े हैं। इस तरह की तैयारी उनसे पहले किसी संपादक ने न की थी। परिणाम यह हुआ कि हिन्दी प्रवेश में नवीन सामाजिक चेतना के प्रसार के लिए वह सबसे उपयुक्त व्यक्ति सिद्ध हुए।''

ऐसे महान ज्ञान-राशि के पुंज थे आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी। किन्तु रामविलास शर्मा के पूर्व जितने भी आलोचक हुए, उन्होंने द्विवेदी जी का उचित मूल्यांकन तो नहीं ही किया, अपितु उनका अवमूल्यन ही किया। इन महान आलोचकों में रामचन्द्र शुक्ल, नंददुलारे वाजपेयी एवं हजारी प्रसाद द्विवेदी प्रमुख हैं। रामचन्द्र शुक्ल ने हिन्दी साहित्य का इतिहास में द्विवेदी जी पर जो टिप्पणी की है, उस पर एक नजर डालें, ''द्विवेदी जी ने सन् 1903 ई. में सरस्वती के संपादन का भार लिया। तब से अपना सारा समय लिखने में ही लगाया। लिखने की सफलता वे इस बात में मानते थे कि पाठक भी उससे बहुत-कुछ समझ जाएँ। कई उपयोगी पुस्तकों के अतिरिक्त उन्होंने फुटकर लेख भी बहुत लिखे। पर इन लेखों में अधिकतर लेख 'बातों के संग्रह' के रूप में ही है। भाषा के नूतन शक्ति चमत्कार के साथ नए-नए विचारों की उद्‌भावना वाले निबंध बहुत ही कम मिलते हैं।

स्थायी निबंधों की श्रेणी में चार ही लेख, जैसे 'कवि और कविता', 'प्रतिभा' आदि आ सकते हैं। पर ये लेखनकाल या सूक्ष्म विचार की दृष्टि से लिखे नहीं जान पड़ते। 'कवि और कविता' कैसा गंभीर विषय है, कहने की आवश्यकता नहीं। पर इस विषय की बहुत मोटी-मोटी बातें बहुत मोटे तौर पर कही गई हैं।'' इसी प्रसंग में रामचन्द्र शुक्ल आगे लिखते हैं, ''कहने की आवश्यकता नहीं कि द्विवेजी जी के लेख या निबंध विचारात्मक श्रेणी में आएँगे। पर विचार की वह गूढ़ गुंफित परंपरा उनमें नहीं मिलती जिससे पाठक की बुद्धि उत्तेजित होकर किसी नई विचार-पद्धति पर दौड़ पड़े। शुद्ध विचारात्मक निबंधों का चरम उत्कर्ष वही कहा जा सकता है जहाँ एक पैराग्राफ में विचार दबा-दबाकर कसे गए हों और एक-एक वाक्य किसी संबद्ध विचारखंड के लिए हों। द्विवेदी जी के लेखों को पढ़ने में ऐसा जान पड़ता है कि लेखक बहुत मोटी अक्ल के पाठकों के लिए लिख रहा है।''

अब आप देखें कि महावीर प्रसाद द्विवेदी के लेखन के प्रति रामचंद्र शुक्ल की ये टिप्पणी पढ़कर हिन्दी का कोई भी पाठक उससे विरक्त होगा या आसक्त। रामचन्द्र शुक्ल के इतिहास को हिन्दी के विद्यार्थी साठ-पैंसठ वर्षों से आप्त वचनों की तरह याद करते आ रहे हैं। ऐसे में मूल पाठ से उनके आप्त वाक्यों का यदि मिलान कर परीक्षण न किया जाए, तो अनर्थ होगा ही। रामचन्द्र शुक्ल हिन्दी के सबसे बड़े समालोचक, सबसे बड़े साहित्येतिहास-लेखक हैं। इसी इतिहास में वे महावीर प्रसाद द्विवेदी के ऐतिहासिक योगदानों को सिर्फ भाषा-परिष्कारकर्त्ता के रूप में स्वीकार करते हैं। उनके शब्द हैं, ''यद्यपि द्विवेदी जी ने हिन्दी के बड़े-बड़े कवियों को लेकर गंभीर साहित्य समीक्षा का स्थायी साहित्य नहीं प्रस्तुत किया, पर नई निकली पुस्तकों की भाषा की खरी आलोचना करके हिन्दी साहित्य का बड़ा भारी उपकार किया है।

यदि द्विवेदी जी न उठ खड़े होते तो जैसा अव्यवस्थित, व्याकरणविरुद्ध और ऊटपटाँग भाषा चारों ओर दिखाई पड़ती थी, उसकी परंपरा जल्दी न रुकती। उसके प्रभाव से लेखक सावधान हो गए और जिनमें भाषा की समझ और योग्यता थी उन्होंने अपना सुधार किया।'' दरअसल शुक्ल जी जिस आलोचना-पद्धति का सहारा लेकर उक्त बातें लिख रहे थे, उसे हिन्दी में निर्णयात्मक आलोचना कहते हैं और इसका सबसे बड़ा दोष यह है कि इसके आलोचना के क्षेत्र में आलोचकों का ध्यान ऐतिहासिक युग, वातावरण एवं जीवन से हटाकर अधिकांशतः कलापक्ष तक ही सीमित कर दिया है। कलापक्ष की ओर ध्यान देने वाले आलोचकों का

कहना हैं कि युगीन परिस्थितियाँ, युगीन चेतना और युग सत्य निरंतर परिवर्तनशील हैं अतएव इन्हें आधार नहीं बनाया जा सकता। उनकी परिवर्तनशीलता के कारण इन्हें साहित्य का स्थायी मानदंड स्वीकार किया जा सकता। लेकिन इसी के साथ यह भी सत्य है कि ऐसी दशा में निर्णयात्मक आलोचना का कोई मूल्य नहीं रहेगा।

इसका मुख्य कारण है ऐसे आलोचक का रचनाकार और रचना पर फतवे जारी करना। यही कारण है कि रामचंद्र शुक्ल ने द्विवेदी जी के विचारों को, उनके संचित ज्ञान-राशि पर ध्यान नहीं दिया और उनकी भाषा पर विचार किया। 'मोटी-मोटी बातें बहुत मोटे तौर पर'-यह अभिव्यक्ति की प्रणाली पर बात की जा रही है, जो निस्संदेह भाषा है। जब द्विवेदी जी मूर्ख या मोटे दिमाग वालों के लिए लिखते थे और मोटी तरह से लिखते थे तो उन्होंने भाषा परिष्कार कैसे किया ? जिस लेखक को भाषा की सतही समझ होगी, वह दूसरे लेखकों की भाषा को दुरुस्त कैसे करेगा ? पुनः रामचन्द्र शुक्ल की बातों पर विचार करें-महावीर प्रसाद द्विवेदी ने शाश्वत साहित्य या स्थायी साहित्य नहीं लिखा। उनका महत्त्व भाषा-सुधार में है और उनकी भाषा कैसी है-मोटी अक्लवालों के लिए है। इस तरह की बातों से आचार्य शुक्ल का इतिहास भरा हुआ है। महावीर प्रसाद द्विवेदी ने हिन्दी-नवरत्न की समीक्षा लिखते हुए लिखा है, ''इस तरह की बातें किसी इतिहास कार के ग्रंथ में यदि पाई जाएँ तो उसके इतिहास का महत्व कम हुए बिना नहीं रह सकता। इतिहास-लेखक की भाषा तुली हुई होनी चाहिए। उसे बेतुकी बातें न हाँकनी चाहिए। अतिश्योक्तियाँ लिखना इतिहासकार का काम नहीं। उसे चाहिए कि वह प्रत्येक शब्द और वाक्यांश के अर्थ को अच्छी तरह समझकर उसका प्रयोग करे।''

सन् 1933 ई. में आचार्य द्विवेदी को नागरी प्रचारिणी सभा द्वारा अभिनंदन ग्रंथ भेंट किया गया। इसकी प्रस्तावना 'यामसुंदर दास एवं रायकृष्णदास के नाम से प्रकाशित हुई, किन्तु यह लिखी गई नंददुलारे वाजपेयी द्वारा। इसलिए यह 1940 ई. में प्रकाशित वाजपेयी जी की पुस्तक हिन्दी साहित्यरू बीसवीं शताब्दी में संकलित है। इसमें यह विचार किया गया है कि स्थायी या शाश्वत साहित्य में द्विवेदी जी का साहित्य परिगणित हो सकता है या नहीं। इस दृष्टिकोण से महावीर प्रसाद द्विवेदी द्वारा लिखित संपूर्ण साहित्य को अयोग्य ठहरा दिया गया। सिर्फ उनके द्वारा संपादित सरस्वती के अंकों को ही महत्त्व दिया गया।

हजारी प्रसाद द्विवेदी

हजारी प्रसाद द्विवेदी का जन्म 19 अगस्त, 1907 ई. (श्रावण, शुक्ल पक्ष, एकादशी, संवत 1964) में बलिया जिले के 'आरत दुबे का छपरा' गाँव के एक प्रतिष्ठित सरयूपारीण ब्राह्मण कुल में हुआ था। द्विवेदी जी के प्रपितामह ने काशी में कई वर्षों तक रहकर ज्योतिष का गम्भीर अध्ययन किया था। द्विवेदी जी की माता भी प्रसिद्ध पण्डित कुल की कन्या थीं। इस तरह बालक द्विवेदी को संस्कृत के अध्ययन का संस्कार विरासत में ही मिल गया था।

शिक्षा

द्विवेदी जी ने अपनी पारिवारिक परम्परा के अनुसार संस्कृत पढ़ना आरम्भ किया और सन् 1930 ई. में काशी हिन्दू विश्वविद्यालय से ज्योतिषाचार्य तथा इण्टर की परीक्षाएँ उत्तीर्ण कीं।

जीवन-दर्शन का निर्माण

सन 1930 में इंटर की परीक्षा उत्तीर्ण करने बाद द्विवेदी जी प्राध्यापक होकर शान्ति निकेतन चले गये। सन् 1940 से 1950 ई. तक वे वहाँ पर हिन्दी भवन के निर्देशक के पद पर काम करते रहे। शान्ति निकेतन में रवीन्द्र नाथ टैगोर के घनिष्ठ सम्पर्क में आने पर नये मानवतावाद के प्रति उनके मन में जिस आस्था की प्रतिष्ठा हुई, वह उनके भावी विकास में बहुत ही सहायक बनी। क्षितिजमोहन सेन, विधुशेखर भट्टाचार्य और बनारसी दास चतुर्वेदी की सन्निकटता से भी उनकी साहित्यिक गतिविधि में अधिक सक्रियता आयी। शान्ति निकेतन में द्विवेदी जी को अध्ययन-चिन्तन का निर्बाध अवकाश मिला। वास्तव में वहाँ के शान्त और अध्ययनपूर्ण वातावरण में ही द्विवेदी जी के आस्था-विश्वास, जीवन-दर्शन आदि का निर्माण हुआ, जो उनके साहित्य में सर्वत्रा प्रतिफलित हुआ है।

सन 1950 ई. में काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के तत्कालीन कुलपति के अनुरोध और आमंत्राण पर द्विवेदी जी 'हिन्दी विभाग' के अध्यक्ष और प्रोफेसर होकर वहाँ चले गए। इसके एक वर्ष पूर्व सन् 1949 ई. में लखनऊ विश्वविद्यालय ने उनकी हिन्दी की महत्त्वपूर्ण सेवा के कारण उन्हें डी. लिट्. की सम्मानित उपाधि प्रदान की थी। सन् 1955 ई. में वे प्रथम 'ऑफिशियल लैंग्वेज कमीशन' के सदस्य चुने गये। सन् 1957 ई. में भारत सरकार ने उनकी विद्धत्ता और साहित्यिक सेवाओं को ध्यान में रखते हुए उन्हें 'पद्मभूषण' की उपाधि से अलंकृत किया। 1958 ई.

में वे नेशनल बुक ट्रस्ट के सदस्य बनाये गए। द्विवेदी जी कई वर्षों तक काशी नागरी प्रचारिणी सभा के उपसभापति, 'खोज विभाग' के निर्देशक तथा 'नागरी प्रचारिणी पत्रिका' के सम्पादक रहे हैं। सन् 1960 ई. में पंजाब विश्वविद्यालय के कुलपति के आमंत्रण पर वे वहाँ के 'हिन्दी विभाग' के अध्यक्ष और प्रोफेसर होकर चण्डीगढ़ चले गये। सन् 1968 ई. में ये फिर काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में बुला लिये गए और वहाँ डाइरेक्टर नियुक्त हुए और फिर वहीं हिन्दी के ऐतिहासिक व्याकरण विभाग के निर्देशक नियुक्त हुए। वह काम समाप्त होने पर उत्तर प्रदेश, 'हिन्दी ग्रन्थ अकादमी' के अध्यक्ष हुए।

हिन्दी समीक्षा को नयी दिशा

द्विवेदी जी आचार्य रामचन्द्र शुक्ल की परम्परा के आलोचक हैं, फिर भी साहित्य को एक अविच्छिन्न विकास-परम्परा देखने पर बल देकर द्विवेदी जी ने हिन्दी समीक्षा को नयी दिशा दी। साहित्य के इस नैरन्तर्य का विशेष ध्यान रखते हुए भी वे लोक-चेतना को कभी अपनी दृष्टि से ओझल नहीं होने देते। वे मनुष्य की श्रेष्ठता के विश्वासी हैं और उच्चकोटि के साहित्य में इसकी प्रतिष्ठा को वे अनिवार्य मानते हैं। संस्कारजन्य क्षुद्र सीमाओं में बँधकर साहित्य ऊँचा नहीं उठ सकता। अपेक्षित ऊँचाई प्राप्त करने के लिए उसे मनुष्य की विराट एकता और जिजीविषा को आयत्त करना होगा। द्विवेदी जी ने चाहे काल विशेष के सम्बन्ध में, उन्होंने अपनी आलोचनाओं में यह बराबर ध्यान रखा है कि आलोच्य युग या कवि ने किन श्रेयस्कर माननीय मूल्यों की सृष्टि की है। कोई चाहे तो उन्हें मूल्यान्वेषी आलोचक कह सकता है, पर वे आप्त मूल्यों की अडिगता में विश्वास नहीं करते। उनकी दृष्टि में मूल्य बराबर विकसनशील होता है, उसमें पूर्ववर्ती और पार्श्ववर्ती चिन्तन का मिश्रण होता है। संस्कृत, अपभ्रंश आदि के गम्भीर अध्येता होने के कारण वे साहित्य की सुदीर्घ परम्परा का आलोड़न करते हुए विकासशील मूल्यों का सहज ही आकलन कर लेते हैं।

कृतियाँ

हिन्दी साहित्य की भूमिका

'हिन्दी साहित्य की भूमिका' उनके सिद्धान्तों की बुनियादी पुस्तक है। जिसमें साहित्य को एक अविच्छिन्न परम्परा तथा उसमें प्रतिफलित क्रिया-प्रतिक्रियाओं के

रूप में देखा गया है। नवीन दिशा-निर्देश की दृष्टि से इस पुस्तक का ऐतिहासिक महत्त्व है।

कबीर

अपने फक्कड़ व्यक्तित्त्व, घर फूँक मस्ती और और क्रान्तिकारी विचारधारा के कारण कबीर ने उन्हें विशेष आकृष्ट किया। 'कबीर' पुस्तक में उन्होंने जिस सांस्कृतिक परम्परा, समसामयिक वातावरण और नवीन चिन्तन का उदघाटन किया है, वह उनकी उपरिलिखित आलोचनात्मक दृष्टि के सर्वथा मेल में है। भाषा भावों की संवाहक होती है। कबीर की भाषा वही है। वे अपनी बात को साफ एवं दो टूक शब्दों में कहने के हिमायती थे। इसीलिए हजारी प्रसाद द्विवेदी ने उन्हें 'वाणी का डिटेक्टर कहा है।

हिन्दी साहित्य का आदिकाल

'हिन्दी साहित्य का आदिकाल' में द्विवेदी जी ने नवीन उपलब्ध सामग्री के आधार पर जो शोधपरक विश्लेषण प्रस्तुत किया है, उससे हिन्दी साहित्य के इतिहास के पुनः परीक्षण की आवश्यकता महसूस की जा रही है।

नाथ सम्प्रदाय

'नाथ सम्प्रदाय' में सिद्धों और नाथों की उपलब्धियों पर गम्भीर विचार व्यक्त किये गए हैं।

सूर-साहित्य

'सूर-साहित्य' उनकी प्रारम्भिक आलोचनात्मक कृति है, जो आलोचनात्मक उतनी नहीं है, जितनी कि भावनात्मक। इनके अतिरिक्त उनके अनेक मार्मिक समीक्षात्मक निबन्ध विभिन्न निबन्ध-संग्रहों में संगृहीत हैं, जो साहित्य के विभिन्न पक्षों का गम्भीर उद्घाटन करते हैं।

निबन्ध

द्विवेदी जी जहाँ विद्वत्तापरक अनुसन्धानात्मक निबन्ध लिख सकते हैं, वहाँ श्रेष्ठ निर्बन्ध निबन्धों की सृष्टि भी कर सकते हैं। उनके निर्बन्ध निबन्ध हिन्दी निबन्ध साहित्य की मूल्यवान उपलब्धि है। द्विवेदी जी के व्यक्तित्त्व में विद्वत्ता

और सरसता का, पाण्डित्य और विदग्धता का, गम्भीरता और विनोदमयता का, प्राचीनता और नवीनता का जो अदभुत संयोग मिलता है, वह अन्यत्र दुर्लभ है। इन विरोधाभासी तत्त्वों से निर्मित उनका व्यक्तित्त्व ही उनके निर्बन्ध निबन्धों में प्रतिफलित हुआ है। अपने निबन्धों में वे बहुत ही सहज ढंग से, अनौपचारिक रूप में, 'नाखून क्यों बढ़ते हैं', 'आम फिर बौरा गए', 'अशोक के फूल', 'एक कुत्ता और एक मैना', 'कुटज' आदि की चर्चा करते हैं, जिससे पाठकों का अनुकूल्य प्राप्त करने में उन्हें कोई कठिनाई नहीं होती। पर उनके निबन्धों का पूर्ण रसास्वादन करने के लिए जगह-जगह बिखरे हुए सांस्कृतिक-साहित्यिक सन्दर्भों को जानना बहुत आवश्यक है। इन सन्दर्भों में उनकी ऐतिहासिक चेतना को देखा जा सकता है, किन्तु सम्पूर्ण निबन्ध पढ़ने के बाद पाठक नये मानवतावादी मूल्यों की उपलब्धि भी करता चलता है। उनमें अतीत के मूल्यों के प्रति सहज ममत्व है, किन्तु नवीन के प्रति कम उत्साह नहीं है।

बाणभट्‌ट

बाण भट्‌टराव सातवीं शताब्दी के संस्कृत गद्य लेखक और कवि थे। वह राजा हर्षवर्धन के आस्थान कवि थे। उनके दो प्रमुख ग्रंथ हैं। हर्षचरितम् तथा कादम्बरी। हर्षचरितम्, राजा हर्षवर्धन का जीवन-चरित्र था और कादंबरी दुनिया का पहला उपन्यास था। कादंबरी पूर्ण होने से पहले ही बाण भट्‌टराव जी का देहांत हो गया तो उपन्यास पूरा करने का काम उनके पुत्र भूषण भट्‌ट राव ने अपने हाथ में लिया। दोनों ग्रंथ संस्कृत साहित्य के महत्त्वपूर्ण ग्रंथ माने जाते है बाणभट्‌ट की आत्मकथा' द्विवेदी जी का अपने ढंग का असमान्तर उपन्यास है, जो अपने कथ्य तथा शैली के कारण सहृदयों द्वारा विशेष रूप से समादृत हुआ है। यह हिन्दी उपन्यास साहित्य की विशिष्ट उपलब्धि है। इस उपन्यास में उनके विस्तृत और गम्भीर अध्ययन तथा प्रतिभा का अदभुत मिश्रण हुआ है। इसके माध्यम से अपने जीवन-दर्शन के विविध पक्षों को उदघाटित करते हुए उन्होंने इसे वैचारिक दृष्टि से भी विशिष्ट ऊँचाई प्रदान की है। हर्षकालीन जिस विशाल फलक पर बाणभट्‌ट को चित्रित किया गया है, वह गहन अध्ययन तथा गत्यात्मक ऐतिहासिक चेतना की अपेक्षा रखता है। कहना न होगा कि द्विवदी जी के व्यक्तित्त्व के निर्माण में इस ऐतिहासिक चेतना का बहुत महत्त्वपूर्ण योग रहा है। यही कारण है कि वे समाज और संस्कृति के विविध आयामों को, उसके सम्पूर्ण परिवेश को, एक इकाई में सफलता पूर्वक बाँधने में समर्थ हो सके हैं।

इस उपन्यास में कुछ पात्र, घटनाएँ और प्रसंग इतिहासाश्रित हैं और कुछ काल्पनिक। बाण, हर्ष, कुमार कृष्ण, बाण का घुमक्कड़ के रूप में भटकते फिरना, हर्ष द्वारा तिरस्कृत और सम्मानित होना आदि इतिहास द्वारा अनुमोदित हैं। निपुणिका, भट्टिनी, सुचरिता, महामाया, अवधूत पाद तथा इनसे सम्बद्ध घटनाएँ कल्पना प्रसूत हैं। इतिहास और कल्पना के समुचित विनियोग द्वारा लेखक ने उपन्यास को जो रूप-रंग दिया है, वह बहुत ही आकर्षक बन पड़ा है। इस ऐतिहासिक उपन्यास में मानव-मूल्य की नये मानवतावादी मूल्य की प्रतिष्ठा करना भी लेखक का प्रमुख उद्देश्य रहा है। जिनको लोक 'बण्ड' या कुल भ्रष्ट समझता है, वे भीतर से कितने महान हैं, इसे बाणभट्ट और निपुणिका (निउनिया) में देखा जा सकता है। लोक चेतना या लोक शक्ति को अत्यन्त विश्वासमयी वाणी में महामाया द्वारा जगाया गया है। यह लेखक का अपना विश्वास भी है।

द्विवेदी जी प्रेम को सेक्स से सम्पृक्त न करते हुए भी उसे जिस ऊँचाई पर प्रतिष्ठित करते हैं, वह सर्वथा मनोवैज्ञानिक है। प्रेम के उच्चतर सोपान पर पहुँचने के लिए अपना सब कुछ उत्सर्ग करना पड़ता है। निपुणिका को नारीत्व प्राप्त हुआ तपस्या की अग्नि में जलने पर। बाणभट्ट की प्रतिभा को चार-चाँद लगा प्रेम का उन्नयनात्मक स्वरूप समझने पर। सुचरिता को अभीप्सित की उपलब्धि हुई प्रेम के वासनात्मक स्वरूप की निष्कृति पर। शैली की दृष्टि से यह पारम्परिक स्वच्छन्दतावादी (क्लैसिकल रोमाण्टिक) रचना है। बाणभट्ट की शैली को आधार मानने के कारण लेखक को वर्णन की विस्तृत और संश्लिष्ट पद्धति अपनानी पड़ी है, पर बीच-बीच में उसकी अपनी स्वच्छन्द प्रवृत्ति भी जागरूक रही है, जिससे लम्बी अलंकृत शैली की दुरूहता का बहुत कुछ परिष्कार हो जाता है। उनका दूसरा उपन्यास 'चारुचन्द्रलेख' भी प्रकाशित हो चुका है।

पुरस्कार

हजारी प्रसाद द्विवेदी जी को भारत सरकार ने उनकी विद्धत्ता और साहित्यिक सेवाओं को ध्यान में रखते हुए साहित्य एवं शिक्षा के क्षेत्र में सन् 1957 में पद्म भूषण से सम्मानित किया गया था।

मृत्यु

हजारी प्रसाद द्विवेदी जी की मृत्यु 19 मई, 1979 ई. में हुई थी।

द्विवेदीयुगीन नाट्य का स्वरूप

भारतेन्दु के अनन्तर साहित्य का जो दूसरा उत्थान हुआ, उसके प्रमुख प्रेरणा-केन्द्र महावीर प्रसाद द्विवेदी थे। हिन्दी नाटकों के ऐतिहासिक विकास-क्रम में पं. महावीर प्रसाद द्विवेदी का योगदान भारतेन्दु की तुलना में इतना नगण्य है कि नाटक के क्षेत्र में द्विवेदी-युग को अलग से स्वीकार करना और महत्त्व प्रदान करना औचित्यपूर्ण प्रतीत नहीं होता है। भारतेन्दु के अवसान के साथ नाटक के ह्रास के लक्षण दिखाई देने लगते हैं। अपने युग की समस्याओं को नाट्यरूप प्रदान करने का जो अदम्य साहस भारतेन्दु युग के लेखकों में दिखाई पड़ा था उसके दर्शन द्विवेदी-युग में नहीं होते। इसके कई कारण थे। प्रथम तो हिन्दी के नाटककारों में नाटक के सूक्ष्म नियमों एवं विधियों की योजना की क्षमता न थी। दूसरे, नाटकों के इस उदयकाल की सामाजिक स्थिति विक्षोभ पैदा करने वाली थी। इस प्रवृत्ति ने कुछ कर बैठने की प्रेरणा तो दी किन्तु भावों और विचारों को घटनाओं के साथ कलात्मक ढंग से नियोजित करने के लिए मानसिक सन्तुलन नहीं प्रदान किया। तीसरे, आर्य समाज के आन्दोलन के लेखकों पर सुधारवादी जीवन दृष्टि और शास्त्रार्थ शैली का प्रभाव पड़ा जो निश्चय ही नाटकों के कलात्मक विकास में बाधक हुआ। चौथे, पाश्चात्य 'कॉमेडी' के अंधानुकरण के कारण भारतेन्दु के उपरान्त हिन्दी साहित्य में प्रहसनों की प्रवृत्ति भी पनप उठी। प्रहसनों की वृद्धि ने साहित्यिक एवं कलात्मक अभिनयपूर्ण नाटकों की रचना में व्याघात उपस्थित किया। पांचवें, द्विवेदी-युग नैतिकता और सुधार का युग था। नैतिकता और आदर्श के प्रतिस्थापन में उनकी दृष्टिकोण संस्कृत के नाटककारों की भांति उदारवादी था अतएव भारतेन्दु-युग की नवीनता परवर्ती युग के स्वभाव के अनुकूल न थी। अतः कठोर नीतिवादी अथवा आदर्शात्मक बुद्धिवाद के फलस्वरूप द्विवेदी-युग, भारतेन्दु-युग की परम्परा को अग्रसर नहीं कर सका।

उपर्युक्त सभी कारणों के फलस्वरूप आलोच्य युग में मौलिक नाटकों की संख्या अत्यल्प है अनुवाद-कार्य पर अधिक बल रहा है। मौलिक नाटकों में साहित्य की दो धाराएं प्रमुख हैं–

(1) साहित्यिक नाटक (शौकिया रंगमंच),

(2) मनोरंजन प्रधान नाटक (व्यावसायिक पारसी रंगमंच)

साहित्यिक नाट्य धारा को विकसित करने के उद्देश्य से अनेक नाटक मंडलियों की स्थापना की गई जैसे प्रयाग की 'हिन्दी नाटक मण्डली', कलकत्ते की नागरी नाटक मंडल' मुजफ्रनगर की 'नवयुवक समिति' आदि। इनमें 'हिन्दी नाट्य-समिति' सबसे अधिक पुरानी थी। सन् 1893 ई. में यह 'रामलीला नाटक मंडली' के रूप में स्थापित हुई थी। इसके संस्थापकों में प्रमुख थे रू पंडित माधव शुक्ल जो स्वयं अच्छे अभिनेता और रंगकर्मी थे और जिन्होंने राष्ट्रीयता चेतना प्रचार-प्रसार के लिए नाटकों को सशक्त माध्यम बनाया था। किन्तु हिन्दी रंगमंच समुचित साधन और संरक्षण के अभाव में तथा जनता की सस्ती रुचि के कारण अपने उद्देश्य में सफल नहीं हो पाया। फलतः नाटक का साहित्यिक रूप ही सामने आया। संख्या की दृष्टि में आलोच्यकाल में लिखे गये नाटक कम नहीं हैं किन्तु मौलिक नाटकों के नाम पर ऐतिहासिक पौराणिक प्रसंगों को ही नाटकों में या कथोपकथन में परिवर्तित कर दिया गया। अध्ययन की सुविधा के लिए आलोच्य युग के नाटकों को निम्नलिखित वर्गों में विभाजित किया जा सकता है– पौराणिक, ऐतिहासिक, सामाजिक उपादानों पर रचित नाटक, रोमांचकारी नाटक, प्रहसन और अनूदित नाटक।

पौराणिक नाटक

पौराणिक नाटक हिंदू पौराणिक कथाओं पर आधारित एक नाटक है। इसमें रामायण और महाभारत की कहानियाँ भी शामिल हैं। इस तरह के नाटकों के कुछ उदाहरण हैं सौभद्र, स्वयंवर, सुवर्णतुल्ला, धादिला राम शेरी का वाणी, मत्स्यगंधा, द्रौपदी, कच देवयानी।

हिंदू पौराणिक कथाओं की तरह, ग्रीक कहानियों में मराठी में नाटक हैं। उदाहरण के लिए, 'ईडिपस रेक्स' (मूल यूनानी लेखक - सोफोक्लीज, मराठी में राजा ईडिपस, लेखक - पुल देशपांडे)। शांता वैद्य ने 'राजा इडिपस' नाम से इस नाटक को मराठी में भी पेश किया है। विवेक आप्टे ने मराठी में एक ही नाटक 'आदिपिश्या' के नाम से पेश किया। उन्होंने नाटक के मूल रूप को बदल दिया है और इसे मराठी प्रसिद्धि का उत्सव बना दिया है। 'आदिपति' के निर्देशक होने के नाते - चिन्मय मंडलेकर ।

एंटीगोन के ग्रीक नाम का अनुवाद उसी नाम से किया जाता है, जिसे श्रीराम लागु कहा जाता है । हृदय की वृत्तियों की सत्त्व की ओर उन्मुख करने का प्रयास भारतेन्दु-युग के नाटकों में बहुत पहले से होता आ रहा था। द्विवेदी-युग से इन

वृत्तियों के उत्कर्ष के लिए पौराणिक आख्यानों का नि:संकोच ग्रहण किया गया। आलोच्य युग में पौराणिक नाटकों के तीन वर्ग देखने को मिलते हैं– कृष्णचरित-सम्बन्धी, रामचरित सम्बन्धी तथा अन्य पौराणिक पात्रों एवं घटनाओं से सम्बन्धित। कृष्ण चरित सम्बन्धी नाटकों में राधाचरण गोस्वामी कृत 'श्रीदामा' (1904), ब्रज नन्दन सहाय-कृत 'उद्धव' (1909), नारायण मिश्र-कृत 'कंसवध' (1910), शिव नन्दन सहाय-कृत 'सुदामा।' (1907) और बनवारी लाल-कृत 'कृष्ण तथा कंसवध' (1910) को विशेष ख्याति प्राप्त है। रामचरित-सम्बन्धी नाटकों में रामनारायण मिश्र-कृत 'जनक बड़ा' (1906) गिरधर लाल-कृत 'रामवन यात्रा' (1910) और गंगाप्रसाद-कृत 'रामाभिषेक' (1910), नारायण सहाय-कृत 'रामलीला' (1911), और राम गुलाम लाल-कृत 'धनुषयज्ञ लीला (1912), उल्लेखनीय हैं। अन्य पौराणिक घटनाओं से सम्बन्धित नाटकों में महावीर सिंह का 'नल दमयन्ती' (1905), सुदर्शनाचार्य का 'अनार्थ नल चरित' (1906), बांके बिहारी लाल का 'सावित्री नाटिका' (1908), बालकृष्ण भट्ट का 'बेणुसंहार' (1909), लक्ष्मी प्रसाद का 'उर्वशी' (1907) और हनुमंतसिंह का 'सती चरित' (1910), शिवनन्दन मिश्र का 'शकुन्तला' (1911), जयशंकर प्रसाद का 'करुणालय (1912) बद्रीनाथ भट्ट का 'कुरुवन दहन' (1915), माधव शुक्ल का 'महाभारत-पूर्वार्द्ध' (1916), हरिदास माणिक का 'पाण्डव-प्रताप' (1917) तथा माखन लाल चतुर्वेदी का 'कृष्णार्जुन-युद्ध (1918) महत्वपूर्ण हैं।

इन नाटकों का विषय पौराणिक होते हुए भी पारसी रंगमंच के अनुरूप मनोरंजन करने के लिए हास-परिहास, शोखी और छेड़छाड़ के वातावरण का ही आधार ग्रहण किया गया है।

ऐतिहासिक नाटक

पौराणिक नाटकों के साथ ही इस काल में कुछ ऐतिहासिक नाटक भी लिखे गए जिनमें रू गंगाप्रसाद गुप्त का 'वीर जय माल' (1903), शालिग्राम कृत 'पुरु विक्रम' (1905), वृन्दावन लाल वर्मा का 'सेनापति ऊदल' (1909), कृष्ण प्रकाश सिंह कृत 'पन्ना' (1915), बद्रीनाथ भट्ट कृत 'चन्द्रगुप्त' (1915), हरिदास माणिक-कृत 'संयोगिता हरण' (1915), जयशंकर प्रसाद का 'राज्यश्री' (1915) और परमेश्वरदास जैन का 'वीर चूड़ावत सरदार' (1918) महत्त्वपूर्ण हैं। इन नाटकों में प्रसाद के 'राज्यश्री' नाटक को छोड़कर और किसी भी नाटक में इतिहास-तत्त्व की रक्षा नहीं हो सकी।

सामाजिक-राजनैतिक समस्यापरक नाटक

द्विवेदी-युग में भारतेन्दु-युग की सामाजिक-राजनीतिक और समस्यापरक नाटकों की प्रवृत्ति का अनुसरण भी होता रहा है। इस धारा के नाटकों में प्रताप नारायण मिश्र-कृत 'भारत दुर्दशा' (1903) भगवती प्रसाद-कृत 'वृद्ध विवाह' (1905), जीवानन्द शर्मा-कृत 'भारत विजय' (1906), रुद्रदत शर्मा-कृत 'कंठी जनेऊ का विवाह' (1906), कृष्णानन्द जोशी-कृत 'उन्नति कहां से होगी' (1915), मिश्र बन्धुओं का 'नेत्रोन्मीलन' (1915) आदि कई नाटक गिनाए जा सकते हैं। नाट्यकला की दृष्टि से विशेष महत्व न रखते हुए भी ये नाटक, समाज सुधार और नैतिकवादी जीवन दृष्टि से युक्त हैं।

व्यवसायिक दृष्टि से लिखे नाटक

इस युग में पारसी रंगमंच सक्रिय रहा जिसके लिए निरन्तर रोमांचकारी, रोमानी और धार्मिक नाटक लिखे जाते रहे। पारसी नाटक कम्पनियों के रूप में व्यवसायी रंगमंच का प्रसार भारतेन्दु-युग में ही हो चुका था। इस काल में 'ओरिजिनल थियेट्रिकल कम्पनी', 'विक्टोरिया थियेट्रिकल कम्पनी', 'एल्फ्रेड थियेट्रिकल कम्पनी', 'शेक्सपीयर थिटेट्रिकल कम्पनी', 'जुबिली कम्पनी' आदि कई कम्पनियां 'गुलबकावली', 'कनकतारा', 'इन्दर सभा', 'दिलफरोश', 'गुल फरोश', 'यहूदी की लड़की', जैसे रोमांचकारी नाटक खेलती थीं। रोमांचकारी रंगमंचीय नाटककारों में मोहम्मद मियाँ रादक', हुसैन मियाँ 'जर्राफ', मुन्शी विनायक प्रसाद 'तालिब', सैयद मेंहदी हसन 'अहसान', नारायण प्रसाद बेताब', आगा मोहम्मद हश्र' और राधेश्याम 'कथावाचक' उल्लेखनीय हैं। इनमें राधेश्याम कथावाचक और 'बेताब' ने सुरुचिपूर्ण धार्मिक-सामाजिक नाटक भी लिखे, किन्तु पारसी रंगमंच का सारा वातावरण दूषित ही रहा, जिसने द्विवेदी-युग में नाट्य लेखन की धारा को कुंठित कर दिया।

प्रहसन

इस काल में अनेकानेक स्वतंत्र प्रहसन भी लिखे गये। अधिकांश प्रहसन लेखकों पर पारसी रंगमंच का प्रभाव है, इसलिए वे अमर्यादित एवं उच्छृंखल हैं। प्रहसनकारों में बदरीनाथ भट्ट एवं जी. पी. श्रीवास्तव के नाम सर्वाधिक उल्लेखनीय हैं। भट्ट जी के 'मिस अमेरिका', 'चुंगी की उम्मीदवारी', 'विवाह विज्ञापन', 'लबड़धोंधों' आदि शिष्ट-हास्यपूर्ण प्रहसन हैं। जी.पी. श्रीवास्तव ने

छोटे-बड़े अनेक प्रहसन लिखे हैं। इन प्रहसनों में सौष्ठव और मर्यादा का अभाव है।

अनूदित नाटक

मौलिक नाटकों की कमी द्विवेदी-युग में अनूदित नाटकों द्वारा पूरी की गई। सामाजिक तथा राजनीतिक अशान्ति के इस वातावरण में लेखकों को हिन्दी नाटक-साहित्य की हीनता स्पष्ट दिखाई देती थी। अतः कुछ थोड़े उदात्तवादी परम्परा के लोगों का ध्यान संस्कृत नाटकों की ओर गया, परन्तु अधिकांश का अध्ययन बंगला तथा पाश्चात्य नाटकों की ओर ही अधिक था।

संस्कृत से लाला सीताराम ने 'नागानन्द', 'मृच्छकटिक', 'महावीरचरित', 'उत्तररामचरित', मालती माधव' और 'मालविकाग्निमित्र' और सत्यनारायण कविरत्न ने 'उत्तररामचरित' का अनुवाद किया। अंग्रेजी से शेक्सपीयर के नाटकों 'हेमलेट', 'रिचर्ड' द्वितीय', 'मैकवेथ' आदि का हिन्दी में अनुवाद भी लाला सीताराम ने किया। फ्रांस के प्रसिद्ध नाटककार ओलिवर' के नाटकों को लल्लीप्रसाद पांडेय और गंगाप्रसाद श्रीवास्तव ने अंग्रेजी के माध्यम से अनूदित किया।

बंगला नाटकों का अनुवाद प्रस्तुत करने वालों में गोपालराम गहमरी स्मरणीय हैं। उन्होंने 'बनवीर' 'बभ्रूवाहन', 'देश दशा', 'विद्याविनोद', 'चित्रगंदा' आदि बंगला नाटकों के अनुवाद किये। बंगला नाटकों के अन्य समर्थ अनुवादक रामचन्द्र वर्मा तथा रूप नारायण पांडेय हैं। उन्होंने गिरीशचन्द्र घोष, द्विजेन्द्र लाल राय, रवीन्द्रनाथ ठाकुर, मनमोहन गोस्वामी, ज्योतीन्द्रनाथ ठाकुर तथा क्षीरोद प्रसाद के नाटकों का अनुवाद किया। पांडेय जी के अनुवाद बड़े सफल हैं, उनमें मूल नाटकों की आत्मा को अधिक सुरक्षित रखने का प्रयत्न किया गया है।

इसी प्रकार भारतेन्दु-युग तथा प्रसाद-युग को जोड़ने वाले बीच के लगभग 25-30 वर्षों में कोई उल्लेखनीय नाटक नहीं मिलता। भले ही प्रसाद-युगीन नाटककारों की आरम्भिक नाट्य कृतियाँ द्विवेदी-युग की सीमा में आती हैं, परन्तु आगे चलकर उनकी नाट्य कृतियों में जो वैशिष्ट्य आता है, वह उन्हें द्विवेदी-युग के लेखकों से पृथक्क् कर देता है। द्विवेदी-युग में हिन्दी रंगमंच विशेष सक्रिय नहीं रहा। इस युग में बद्रीनाथ भट्ट ही अपवादस्वरूप एक ऐसे नाटककार थे, जिन्होंने नाटकीय क्षमता का परिचय दिया है, किन्तु इनके नाटक भी पारसी कम्पनियों के प्रभाव से अछूते नहीं हैं। उनमें उत्कृष्ट साहित्यिक तत्त्व का अभाव है।

बाबू मैथिलीशरण गुप्त

मैथिलीशरण गुप्त खड़ी बोली के प्रथम महत्वपूर्ण कवि थे। महावीर प्रसाद द्विवेदी की प्रेरणा से आपने खड़ी बोली को अपनी रचनाओं का माध्यम बनाया और अपनी कविता के द्वारा खड़ी बोली को एक काव्य-भाषा के रूप में निर्मित करने में अथक प्रयास किया। इस तरह ब्रजभाषा जैसी समृद्ध काव्य भाषा को छोड़कर समय और संदर्भों के अनुकूल होने के कारण नये कवियों ने इसे ही अपनी काव्य-अभिव्यक्ति का माध्यम बनाया। हिन्दी कविता के इतिहास में गुप्त जी का यह सबसे बड़ा योगदान है। मैथिलीशरण गुप्त का जन्म सन् 1886 में जिला झांसी के चिरगांव में हुआ था। वे द्विवेदी युग के सर्वाधिक लोकप्रिय कवि थे। इनकी आरंभिक रचनाएं कोलकाता से निकलने वाले 'वैश्योपकारक' में प्रकाशित होती थीं। बाद में आचार्य महावीर द्विवेदी से परिचय हो जाने पर 'सरस्वती' में प्रकाशित होने लगीं। मैथिलीशरण गुप्त प्रसिद्ध राम भक्त कवि थे। इन्होंने भारतीय जीवन को समग्रता में समझने तथा प्रस्तुत करने का सफल प्रयास किया है। 'मानस' के पश्चात् हिंदी में रामकाव्य का द्वितीय स्तंभ मैथिलीशरण गुप्त कृत 'साकेत' ही है। इन्होंने दो महाकाव्यों तथा उन्नीस खंड काव्यों का प्रणयन किया है।

कृतित्त्व

काव्य–'रंग में भंग', 'भारत भारती', 'साकेत', 'जयद्रथ वध', 'पंचवटी', 'झंकार', 'यशोधरा', 'द्वापर', 'जय भारत', 'विष्णु प्रिया'।

अनूदित- 'प्लासी का युद्ध', 'मेघनाथ वध' तथा 'वृत्र संहार'।

नाटक- 'तिलोत्तमा', 'चन्द्रहास' तथा 'अनाथ'।

साहित्यिक विशेषताएं–इनका चरित्र-चित्रण कौशल भी उत्कृष्ट प्रबंध कला का प्रमाण है। खड़ी बोली के स्वरूप निर्धारण और विकास में इनका अन्यतम योगदान है। खड़ी बोली को काव्योपयुक्त रूप प्रदान करने वालों में गुप्त अग्रगण्य हैं। ये भारतीय संस्कृति के अनन्य प्रस्तोता थे। सांस्कृतिक परंपराओं में पूर्ण आस्था रखने वाले गुप्त ने कभी युग धर्म की उपेक्षा नहीं की है। भारतीय संस्कृति के प्रवक्ता होने के अलावा ये स्वतन्त्र भारत के राष्ट्रीय कवि भी थे। इनका काव्य राष्ट्रीय भावना से भरपूर है।

पंडित रामचरित उपाध्याय

सन् 1872-1938 में जन्में रामचरित उपाध्याय उत्तर प्रदेश गाजीपुर जिले के रहने वाले थे। इनकी आरंभिक शिक्षा संस्कृत में हुई। बाद में ब्रजभाषा और खड़ी बोली पर भी अच्छा अधिकार प्राप्त कर लिया। पहले ये प्राचीन विषयों पर ही काव्य सृजन करते थे किन्तु आचार्य द्विवेदी के संपर्क में आने पर खड़ी बोली तथा नवीन विषयों को अपनाया।

कृतित्त्व– 'रामचरित चिंतामणि' - प्रबंध काव्य सूक्ति 'मुक्तावली' तथा 'राष्ट्रभारती', 'देवदूत', 'देवसभा', 'विचित्र विवाह' आदि काव्य।

साहित्यिक विशेषताएं–विविध छंदों का प्रयोग प्रबंध काव्य में किया है। भाषा की सफाई तथा वाग्वैदग्ध्य है।

पंडित लोचन प्रसाद पांडेय

लोचन प्रसाद पाण्डेय हिन्दी के प्रसिद्ध साहित्यकार थे। इन्होंने हिन्दी एवं उड़िया दोनों भाषाओं में काव्य रचनाएँ भी की हैं। सन 1905 से ही इनकी कविताएँ 'सरस्वती' तथा अन्य मासिक पत्रिकाओं में निकलने लगी थीं। लोचन प्रसाद पाण्डेय की कुछ रचनाएँ कथाप्रबन्ध के रूप में हैं तथा कुछ फुटकर। वे 'भारतेंदु साहित्य समिति' के भी ये सदस्य थे। मध्य प्रदेश के साहित्यकारों में इनकी विशेष प्रतिष्ठा थी। आज भी इनका नाम बड़े आदर से लिया जाता है।द्विवेदी युगीन कवियों में लोचन प्रसाद पांडेय (1886-1959 ई.) को विशेष प्रसिद्धि मिली थी। इनका जन्म सन् 1886 में विलासपुर (मध्य प्रदेश) जिले के बालापुर नामक गाँव में हुआ था। हिंदी, उड़िया, संस्कृत तथा अंग्रेजी आदि भाषाओं के ज्ञाता थे। साहित्य सेवा के लिए 'काव्य विनोद' तथा 'साहित्य वाचस्पति' की उपाधि मिली थी।

कृतित्व- 'प्रवासी', 'मेवाड़ गाथा', 'महानदी' तथा 'पद्य पुष्पांजलि'।

राय देवीप्रसाद 'पूर्ण'

राय देवीप्रसाद 'पूर्ण' का जन्म सन् 1868-में जबलपुर में हुआ था। वहीं पर बी.ए. एल.एल.बी. तक की शिक्षा प्राप्त कर कुछ दिनों तक वकालत की और बाद में कानपुर चले गए। वकालत के साथ-साथ ये सार्वजनिक कार्यों में अति उत्साह के साथ सम्मिलित होते थे। ये संस्कृत के अच्छे ज्ञाता थे। वेदांत में विशेष

रूचि थी। व्यावसायिक तथा सामाजिक क्रियाकलापों की व्यस्तता में रहते हुए भी साहित्याध्ययन एवं प्रणयन में सदैव दत्त-चित्त थे।

कृतित्त्व

काव्य–'स्वदेशी कुंडल' - 'मृत्युंजय', 'राम-रावण विरोध', तथा 'वसंत-वियोग' संग्रह।

अनूदित- 'धाराधर धावन' (कालिदास के मेघदूत का अनुवाद)।

साहित्यिक विशेषता- पंडित नाथूराम शर्मा 'शंकर' काव्य में उपदेशात्मकता विद्यमान है–

पंडित नाथूराम शर्मा 'शंकर' का जन्म सन् 1859 में अलीगढ़ में हुआ था। ये हिंदी, उर्दू, फारसी तथा संस्कृत भाषाओं के ज्ञाता थे। 13 वर्ष की छोटी सी आयु में ही इन्होंने अपने एक साथी पर एक दोहा लिखा था। कानपुर में भारतेंदुमंडल के प्रसिद्ध कवि प्रतापनारायण मिश्र के संपर्क में आते ही 'ब्राह्मण' नामक पत्रिका में इनकी रचनाएं प्रकाशित होने लगीं। बाद में इनको आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी द्वारा संपादित 'सरस्वती' के मुख्य कवियों में स्थान मिल गया। प्रारंभ में ये ब्रज भाषा के कवि रहे किंतु शीघ्र ही खड़ी बोली की ओर झुक गए। उर्दू में भी काव्य सृजन का अच्छा कार्य कर लेते थे।

कृतित्त्व–'अनुराग रत्न', 'शंकर सरोज', 'गर्भरंडा-रहस्य' (विधवाओं की बुरी स्थिति, तथा देव मंदिरों के अनाचार से संबंधित प्रबंध काव्य) तथा 'शंकर सर्वस्व'।

साहित्यिक विशेषताएं–इनके काव्य में सभी प्रकार के छंदों का प्रयोग हुआ है। छंद शास्त्र के मर्मज्ञ थे। रीतिकालीन पद्धति में इन्होंनें शृंगारमयी रचनाएं भी कीं। भाषा मनोरंजक है।

पंडित गया प्रसाद शुक्ल 'सनेही'

कविवर गया प्रसाद शुक्ल 'सनेही' का जन्म सन् 1883 में ग्राम हड़हा जनपद उन्नाव में हुआ था। उर्दू के अधिकारी विद्वान होने के फलस्वरूप ये हिंदी-उर्दू दोनों भाषाओं में समान रूप से काव्य सृजन करते थे। प्राचीन एवं नवीन दोनों प्रकार की शैलियों में अभिरूचि थी। शृंगार आदि परंपरागत विषयों पर काव्य की रचना 'सनेही' उपनाम से तथा राष्ट्रीय भावनाओं संबंधित कविता का सृजन 'त्रिशूल' उपनाम से किया है।

कृतित्त्व

काव्य–'कृषक-क्रंदन', 'प्रेम पचीसी', 'राष्ट्रीय वीणा', 'त्रिशूल तरंग', 'करुणा कादंबिनी' आदि।

काव्य पत्रिका- 'सुकवि' नामक काव्य पत्रिाका के संपादक थे।

साहित्यिक विशेषताएं–खड़ी बोली में कवित्व और सवैया छंद प्रयोग में इन्हें सिद्ध-हस्तता प्राप्त थी। उर्दू बहरों के कुशल प्रयोगकर्ता रहे हैं। सामयिक आंदोलनों से संबंधित अनेक प्रयाण एवं बलिदान गीतों की रचना की।

पंडित राम नरेश त्रिपाठी

रामनरेश त्रिपाठी (4 मार्च, 1889 - 16 जनवरी, 1962) हिन्दी भाषा के 'पूर्व छायावाद युग' के कवि थे। कविता, कहानी, उपन्यास, जीवनी, संस्मरण, बाल साहित्य सभी पर उन्होंने कलम चलाई। अपने 72 वर्ष के जीवन काल में उन्होंने लगभग सौ पुस्तकें लिखीं। ग्राम गीतों का संकलन करने वाले वह हिंदी के प्रथम कवि थे जिसे 'कविता कौमुदी' के नाम से जाना जाता है। इस महत्वपूर्ण कार्य के लिए उन्होंने गांव-गांव जाकर, रात-रात भर घरों के पिछवाड़े बैठकर सोहर और विवाह गीतों को सुना और चुना। वह गांधी के जीवन और कार्यो से अत्यंत प्रभावित थे। उनका कहना था कि मेरे साथ गांधी जी का प्रेम श्लरिकाई को प्रेम' है और मेरी पूरी मनोभूमिका को सत्याग्रह युग ने निर्मित किया है। 'बा और बापू' उनके द्वारा लिखा गया हिंदी का पहला एकांकी नाटक है।र

कृतित्त्व–'ग्राम्यगीत', (संग्रह), 'मिलन', 'पथिक', 'मानसी' तथा 'स्वप्न', 'मिलन', 'पथिक', 'स्वप्न' काल्पनिक कथाश्रित प्रेमाख्यानक खंड काव्य हैं। मानसी मुक्त कविता संग्रह है।

संपादन–'कविता कौमुदी' (आठ भाग)

साहित्यिक विशेषताएं–मुक्त कविताओं में देश भक्ति, प्रकृति चित्रण तथा नीति निरूपण की प्रधानता है। खंड काव्यों में उपदेशात्मकता प्रधान है।

लाला भगवानदीन 'दीन'

लाला भगवानदीन 'दीन' का जन्म सन् 1866 में ग्राम बरबर जनपद फतहपुर में हुआ था। काव्य शास्त्र के पंडित थे। हिंदी उर्दू तथा फारसी के ज्ञाता थे।

कृतित्त्व

काव्य–'वीर क्षत्राणी', 'वीर बालक', 'वीर पंचरत्न' तथा 'नवीन बीन' अन्य कविता संग्रह हैं। 'नदीमें दीन' फुटकल काव्य संग्रह है।

संपादन–लक्ष्मी के संपादक।

साहित्यिक विशेषताएं–युवावस्था में पुराने ढंग की कविताएं लिखीं। संपादक बनकर खड़ी बोली की ओर मुंह मोड़ा तथा फड़कती कविताएं लिखने लगे किंतु तर्ज मुंशियाना ही बनाए रखा। उर्दू की बहरों में अरबी-फारसी के शब्दों का प्रयोग करते थे। खड़ी बोली की कविताएं वीर रस से संबंधित होने के फलस्वरूप जोशीले भाषण का रूप धारण कर लेती हैं। वीर काव्यों में पौराणिक एवं ऐतिहासिक बहादुरों के चरित्र-चित्रण में ओजस्वी भाषा का प्रयोग किया है। प्राचीन काव्यों की टीकाएं लिखकर हिंदी साहित्य का अत्यधिक उपकार किया है।

पंडित रूपनारायण पांडेय

रूपनारायण पांडेय का जन्म सन् 1884 ई. में उत्तर प्रदेश की राजधानी लखनऊ में हुआ। प्रारंभ में ब्रजभाषा में कविता करते थे, किंतु आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी के प्रभावस्वरूप खड़ी बोउी में काव्य सृजन करने लगे।

कृतित्त्व

काव्य–'पराग' तथा 'वन-वैभव' मौलिक कविताओं के संकलन हैं।

संपादन–'नागरी-प्रचारक', 'इंदु' तथा 'माधुरी' आदि पत्रिकाओं का सफलतापूर्वक संपादन किया।

साहित्यिक विशेषताएं–इनका काव्य अति सरल एवं भावुकतामय है। इनकी सहानुभूति पशु पक्षियों तक पहु जाती है। संस्कृत तथा बंगला - काव्यों का अनुवाद कार्य भी किया।

पंडित सत्यनारायण 'कविरत्न'

पंडित सत्यनारायण 'कविरत्न' का जन्म सन् 1880 में अलीगढ़ में हुआ था। बाल्यावस्था में ही माता-पिता का स्वर्गवास हो गया। ताजगंज, आगरा के बाबा रघुबरदास ने इनको पाला। सन् 1910 में सेंट जौंस कॉलेज आगरा से बी. ए. परीक्षा में अनुत्तीर्ण हो गए। क्रमिक शिक्षा का अंत हो गया। छात्र काल में

काव्य सृजन करने लगे थे। आरंभ में विनय के पद तथा समस्यापूर्ति लिखते थे। ये रसिक जीव थे। ब्रज की एकांत भूमि में अकेले बैठे ब्रज की सरस पदावली की रस मग्नता में खोए रहते थे। नंददास आदि कवियों की प्रणाली में पदों की रचना की। वेशभूषा सरल थी। काव्यमय जीवन था।

कृतित्त्व–'प्रेमकली' एवं 'भ्रमर दूत' कविताएं 'हृदय तरंग', (संग्रह)

अनूदित- होरेशस का अनुवाद।

साहित्यिक विशेषताएं: इनकी रचनाओं में देश की नई पुकार भी कहीं-कहीं सुनाई पड़ती है। ब्रज भाषा के सवैया पढ़ने का इनका ढंग ऐसा आकर्षक था कि श्रोता मंत्र मुग्ध हो जाते थे। इनके कुछ पदों में गहरी खिन्नता दृष्टिगोचर होती है। नारी-शिक्षा के पक्षधर थे।

वियोगी हरि

-वियोगी हरि (1895-1988 ई.) प्रसिद्ध गांधीवादी एवं हिन्दी के साहित्यकार थे। ये आधुनिक ब्रजभाषा के प्रमुख कवि, हिंदी के सफल गद्यकार तथा समाज-सेवी संत थे। 'वीर-सतसई' पर इन्हें मंगलाप्रसाद पारितोषिक मिला था। उन्होंने अनेक ग्रंथों का संपादन, प्राचीन कविताओं का संग्रह तथा संतों की वाणियों का संकलन किया। कविता, नाटक, गद्यगीत, निबंध तथा बालोपयोगी पुस्तकें भी लिखी हैं। वे हरिजन सेवक संघ, गाँधी स्मारक निधि तथा भूदान आंदोलन में सक्रिय रहे।

कृतित्त्व–'वीर सतसई'

साहित्यिक विशेषताएं–अधिकांश भक्तिपरक एवं प्रेम प्रधान रचनाएं की। देशभक्ति का चित्रण भी किया है। 'वीर सतसई' में प्रसिद्ध बहादुरों की प्रशंसाएं हैं जो दोहा छंद में लिखी गई हैं। इनके पदों को पढ़कर या सुनकर रसिक भक्त बलिहारी जाते हैं।

अयोध्या सिंह उपाध्याय 'हरिऔध'

अयोध्या सिंह उपाध्याय 'हरिऔध' का जन्म सन् 1865 में ग्राम निजामाबाद जनपद आजमगढ़ में हुआ था। ये द्विवेदी युग की महान विभूति तथा खड़ी बोली को काव्य भाषा पद पर प्रतिष्ठित करने वाले महान कवि थे। ये सर्वप्रथम - निजामाबाद के मिडिल स्कूल में अध्यापक नियुक्त हुए, फिर सरकारी कानूनगों पद पर नियुक्त हो गए। वहां से अवकाश प्राप्त करने के पश्चात हिंदू

विश्वविद्यालय वाराणसी में हिंदी के अवैतनिक प्राध्यापक हो गए। वृद्धावस्था के कारण विश्वविद्यालय की सेवा छोड़कर घर पर रहकर ही साहित्य साधना करने लगे।

कृतित्त्व

काव्य–'प्रिय प्रवास', 'पद्य प्रसून', 'चुभते चौपदे', 'चोखे चौपदें', 'वैदेही वनवास', 'पद्-प्रमोद', 'पारिजात', 'बोल-चाल', 'ऋतु मुकुर', 'काव्योपवन', 'प्रेम पुष्पोपहार', 'प्रेम प्रपंच', 'प्रेमांबु प्रस्रवण', 'प्रेमांबु-वारिधि' आदि।

रीतिग्रंथ–'रस कलस'।

गद्य–'ठेठ हिंदी का ठाट', 'अधखिला फूल', 'प्रेमकांता', 'वेनिस का बांका', एवं 'हिंदी भाषा और साहित्य का इतिहास'।

साहित्यिक विशेषताएं

हरिऔध द्विवेदी युग के ख्यातिप्राप्त कवि, उपन्यासकार, आलोचक, इतिहासकार तथा भाषा विज्ञान वेत्ता हैं। साहित्य सेवा के प्रति समर्पित। 'प्रिय प्रवास' खड़ी बोली में लिखा गया हिंदी का प्रथम महाकाव्य है, जिसमें राधा कृष्ण को सामान्य नायिका-नायक के स्तर से उठाकर विश्व सेवी तथा विश्व प्रेमी के रूप में चित्रित किया गया है। 'रस कलस' में रस-स्वरूप, प्रकार का सूक्ष्म विवेचन किया गया है।

काव्य में सरलता, प्रांजलता एवं सौंदर्य की प्रधानता है। एक ओर निरलंकार सौंदर्य है तो दूसरी ओर संस्कृत की आलंकारिक समस्त पदावली की छटा विद्यमान है। खड़ी बोली को काव्योपयुक्त भाषा का रूप दिया है। दोहा, कविता, सवैया आदि के साथ साथ संस्कृत वर्णिक छंदों का समावेश किया है। काव्य शैली अत्यन्त मार्मिक एवं भावपूर्ण है। संस्कृतनिष्ठ भाषा का प्रयोग है। प्रकृति चित्रण अति सजीव तथा परिस्थितियों से प्रभावित है। हरिऔध सर्वतोमुखी प्रतिभा के धनी, प्रबुद्ध साहित्यकार हैं।

गिरिधर शर्मा - 'नवरत्न'

गिरिधर शर्मा 'नवरत्न' (सन् 1881-1961 ई.) का जन्म सन् 1881 में जयपुर में हुआ था। इनकी अधिकांश शिक्षा काशी में हुई। 'सरस्वती' तथा अन्य पत्रिकाओं में इनकी कविताएं प्रकाशित होती रहती थीं।

कृतित्त्व–'मातृवंदना' - मौलिक काव्य।

साहित्यिक विशेषताएं–इनकी कविताओं का मुख्य विषय स्वदेश-प्रेम था। हिंदी के अतिरिक्त संस्कृत के भी कवि थे। संस्कृत बंगला से हिंदी में पद्यानुवाद भी किए।

सैयद अमीर अली 'मीर'

सैयद अमीर अली 'मीर' का जन्म सन् 1873 में मध्य प्रदेश में हुआ था। बचपन में ही इनके पिता का स्वर्गवास हो गया जिसके परिणामस्वरूप चाचा के पास देवरी ग्राम सागर में रहे।

कृतित्त्व–'उलाहना पंचक' तथा 'अन्योक्ति शतक' मुख्य काव्य कृतियां हैं।

साहित्यिक विशेषताएं–साहित्य के क्षेत्र में प्रवेश समस्यापूर्ति के द्वारा हुआ। इन्होंने देवरी में 'मीर मंडल' कवि समाज की स्थापना की। हिंदी प्रेमी एवं राष्ट्रभाषा समर्थक थे। 'रामचरितमानस' के प्रति विशेष लगाव था। ईश्वर भक्ति और देश प्रेम इनकी कविता का मुख्य विषय था।

कामता प्रसाद गुरु

व्यक्तित्त्व- कामता प्रसाद गुरु का जन्म सागर, मध्य प्रदेश में हुआ।

कृतित्त्व

पद्य ग्रंथ- 'भौमासुर वध' तथा 'विनय पचासा' ब्रजभाषा में लिखे गये पद्य ग्रंथ हैं।

कविता संग्रह- 'पद्य पुष्पावली'।

कविताएं- 'शिवाजी' तथा 'दासी रानी'।

व्याकरण ग्रंथ- 'हिंदी व्याकरण।

साहित्यिक विशेषताएं–इनकी कविताएं सरल एवं भावपूर्ण हैं। ब्रजभाषा एवं खड़ी बोली दोनों में रचनाएं कीं। गुरु की ख्याति का मुख्य श्रेय उनके 'हिंदी व्याकरण' को है, जिसे वर्तमान समय में भी हिंदी का आदर्श व्याकरण स्वीकारा जाता है।

बाल मुकुंद गुप्त

बालमुकुंद गुप्त (14नवंबर 1865-18 सितंबर 1907) का जन्म गुड़ियानी गाँव, जिला रिवाड़ी, हरियाणा में हुआ। उन्होने हिन्दी के निबंधकार और संपादक

के रूप हिन्दी जगत की सेवा की।बाल मुकुंद गुप्त का जन्म ग्राम गुड़ियाना, जनपद रोहतक, हरियाणा प्रदेश में हुआ था। ये भारतेंदु युग एवं द्विवेदी युग को जोड़ने वाली कड़ी हैं।

कृतित्त्व–'स्फुट कविता', इनकी कविताओं का संकलन है।

साहित्यिक विशेषताएं–ये अच्छे कवि, अनुवादक और अपने समय के कुशल संपादक थे। हिंदी प्रेम इनकी कविताओं का विषय रहा है। ये अच्छे जीवट एवं हास्य-व्यंग्य प्रधान व्यक्ति थे।

श्रीधर पाठक

श्रीधर पाठक (सन् 1859-1928 ई.) का जन्म ग्राम जोंधारी जनपद आगरा में हुआ था। हिंदी के अलावा अंग्रेजी एवं संस्कृत का अच्छा ज्ञान प्राप्त किया था। आजीविका चलाने हेतु पाठक ने सरकारी सेवा कार्य अपनाया था। सेवा काल में ही इन्हें सरकारी कार्य से कश्मीर एवं नैनीताल भी जाना पड़ा था, जहां इन्हें प्राकृतिक छटा देखने का भव्य अवसर मिला था।

कृतित्त्व

काव्य–'वनाष्टक', 'काश्मीर सुषमा', 'देहरादून' तथा 'भारत गीत'।

कविताएं- 'भारतोत्थान', 'भारत-प्रशंसा', 'जार्ज-प्रशंसा' तथा 'बाल-विधवा' आदि।

अनुवाद- कालिदास कृत 'ऋतुसंहार' - गोल्ड स्मिथ कृत 'हरमिट' - 'एकांतवासी योगी', डेजर्टेड 'विलेज'-'उजाड़ गांव', तथा 'द ट्रैवेलर' - 'श्रांत पथिक' नाम से काव्यानुवाद किया।

साहित्यिक विशेषताएं–ब्रजभाषा और खड़ी बोली दोनों में अच्छी कविताएं लिखी। ब्रजभाषा का स्वरूप सहज एवं बाह्याडंबर विहीन है। खड़ी बोली के श्रीधर प्रथम समर्थ कवि हैं। इनकी कविता के मुख्य विषय देश प्रेम, समाज सुधार तथा प्रकृति चित्रण हैं। देश का गौरवगान इन्होंने अति मनोयोग से किया किन्तु भारतेंदु युगीन कवियों की तरह श्रीधर पाठक में भी देशभक्ति के साथ साथ राजभक्ति भी मिलती है। एक ओर इन्होंने 'भारतोत्थान' तथा 'भारत प्रशंसा' आदि जैसी देशभक्तिपूर्ण कविताएं लिखीं तो दूसरी ओर 'जार्ज वंदना' जैसी कविताओं में राजभक्ति का भी प्रदर्शन किया गया है।

विधवाओं की स्थिति तथा उनकी व्यथा का कारुणिक चित्र उपस्थित किया है।

व्यक्तित्त्व- ठाकुर गोपाल शरण सिंह (सन् 1891-1960 ई.) नई गढ़ी, रीवां में जन्मे थे।

कृतित्व

काव्य–'माधवी', 'मानवी', 'संचिता' तथा 'ज्योतिष्मती' इनकी प्रमुख काव्यकृतियां हैं।

साहित्यिक विशेषताएं–इन्होंने खड़ी बोली को परिमार्जित करने तथा उसे माधुर्यपूर्ण रूप प्रदान करने में विशेष योगदान किया।

ब्रजभाषा के समान ही खड़ी बोली में सरस-मधुर कवित्त-सवैया आदि का सृजन किया। इनके काव्य में जीवन की विविध दशाओं के चित्र दृष्टिगोचर होते हैं।

मुकुटधर पांडेय

व्यक्तित्त्व- लोचन प्रसाद पांडेय के छोटे भाई मुकुटधर पांडेय का जन्म सन् 1895 ई. में हुआ।

कृतित्त्व–'पूजा-फूल' तथा 'कानन-कुसुम' काव्य संकलन हैं।

साहित्यिक विशेषताएं–ये अच्छे कवि थे। प्रकृति की उपासना करने वाले थे। इनके काव्य में भावात्मकता आंतरिक संवेदना तथा रहस्यात्मक अनुभूति दृष्टिगोचर होती है। इन्हें द्विवेदी युग का सर्वश्रेष्ठ प्रगीतकार माना गया है। इनका काव्य छायावादाभास देता है।

उपर्युक्त कवियों के अतिरिक्त द्विवेदी युग के सहयोगियों में लोकमणि, सत्य शरण रतूड़ी, मन्नन द्विवेदी, पदुम लाल पुन्ना लाल बख्शी, शिव कुमार त्रिपाठी, पार्वती देवी, तोष कुमारी आदि भी उल्लेखनीय हैं, जिन्होंने तत्कालीन साहित्य की श्रीवृद्धि की है।

बालकृष्ण भट्‌ट

बालकृष्ण भट्‌ट आधुनिक हिन्दी साहित्य के शीर्ष निर्माताओं में से एक थे। आज की गद्य प्रधान कविता का जनक इन्हें माना जाता है। बालकृष्ण भट्‌ट एक सफल नाटककार, पत्रकार, उपन्यासकार और निबन्धकार थे। भट्‌ट जी ने निबन्ध,

उपन्यास और नाटकों की रचना करके हिन्दी को एक समर्थ शैली प्रदान की। ये पहले ऐसे निबन्धकार थे, जिन्होंने आत्मपरक शैली का प्रयोग किया था। बालकृष्ण भट्ट को हिन्दी, संस्कृत, अंग्रेजी, बंगला और फारसी आदि भाषाओं का अच्छा ज्ञान था। इन्होंने हिन्दी साहित्य की विविध रूपों में सेवा की। लगभग बत्तीस वर्षों तक 'हिन्दी प्रदीप' का संपादन कर भट्टजी अपने विचारों का व्यक्तिकरण करते रहे। ये 'भारतेन्दु युग' की देदीप्यमान मौन विभूति होने के साथ-साथ 'द्विवेदी युग' के लेखकों के मार्ग-दर्शक और प्रेरणा स्रोत भी रहे।

जन्म तथा शिक्षा

बालकृष्ण भट्ट जी का जन्म प्रयाग (आधुनिक इलाहाबाद), उत्तर प्रदेश में 3 जून, 1844 ई. में हुआ था। इनके पिता का नाम पंडित वेणी प्रसाद था। पंडित वेणी प्रसाद की शिक्षा की ओर विशेष रुचि रहती थी, साथ ही इनकी पत्नी भी एक विदुषी महिला थीं। अतः बालकृष्ण भट्ट की शिक्षा पर बाल्यकाल से ही विशेष ध्यान दिया गया। प्रारंभ में इन्हें घर पर ही संस्कृत की शिक्षा दी गयी और 15-16 वर्ष की अवस्था तक इनका यही क्रम रहा। इसके उपरान्त इन्होंने माता के आदेशानुसार स्थानीय मिशन के स्कूल में अंग्रेजी पढना प्रारंभ किया और दसवीं कक्षा तक अध्ययन किया। विद्यार्थी जीवन में इन्हें बाईबिल परीक्षा में कई बार पुरस्कार भी प्राप्त हुए। मिशन स्कूल छोड़ने के उपरान्त यह पुनः संस्कृत, व्याकरण और साहित्य का अध्ययन करने लगे।

व्यावसायिक जीवन

कुछ समय के लिए बालकृष्ण भट्ट 'जमुना मिशन स्कूल' में संस्कृत के अध्यापक भी रहे, पर अपने धार्मिक विचारों के कारण इन्हें पद त्याग करना पड़ा। विवाह हो जाने पर जब इन्हें अपनी बेकारी खलने लगी, तब यह व्यापार करने की इच्छा से कलकत्ता (वर्तमान कोलकाता) भी गए, परन्तु वहाँ से शीघ्र ही लौट आये और संस्कृत साहित्य के अध्ययन तथा हिन्दी साहित्य की सेवा में जुट गए। यह स्वतंत्र रूप से लेख लिखकर हिन्दी साप्ताहिक और मासिक पत्रों में भेजने लगे तथा कई वर्ष तक प्रयाग में संस्कृत के अध्यापक रहे। भट्टजी प्रयाग से 'हिन्दी प्रदीप' मासिक पत्र का निरंतर घाटा सहकर 32 वर्ष तक उसका सम्पादन करते रहे। 'हिन्दी प्रदीप' बंद होने के बाद 'हिन्दी शब्दसागर' का संपादन कार्य भी इन्होंने कुछ समय तक देखा, पर अस्वस्थता के कारण इन्हें यह कार्य छोड़ना पड़ा।

हिन्दी साहित्य में स्थान

बालकृष्ण भट्‌ट का हिन्दी के निबन्धकारों में महत्त्वपूर्ण स्थान है। निबन्धों के प्रारंभिक युग को नि:संकोच भाव से भट्‌ट युग के नाम से अभिहित किया जा सकता है। व्यंग्य विनोद संपन्न शीर्षकों और लेखों द्वारा एक ओर तो भट्‌टजी प्रताप नारायण मिश्र के निकट हैं और गंभीर विवेचन एवं विचारात्मक निबन्धों के लिए वे आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के निकट हैं। भट्‌टजी अपने युग के न केवल सर्वश्रेष्ठ निबन्धकार थे, अपितु इन्हें सम्पूर्ण हिन्दी साहित्य में प्रथम श्रेणी का निबन्ध लेखक माना जाता है। इन्होंने साहित्यिक, सामाजिक, राजनीतिक, धार्मिक, दार्शनिक, नैतिक और सामयिक आदि सभी विषयों पर विचार व्यक्त किये हैं। इन्होंने तीन सौ से अधिक निबन्ध लिखे हैं। इनके निबन्धों का कलेवर अत्यंत संक्षिप्त है तथा तीन पृष्ठों में ही समाप्त हो जाते हैं। इन्होंने मूलत: विचारात्मक निबन्ध ही लिखे हैं और इन विचारात्मक निबन्धों को चार श्रेणियों में विभाजित किया जा सकता है–

(i)व्यावहारिक जीवन से सम्बंधित।

(ii)साहित्यिक विषयों से समबन्धित।

(iii)सामयिक विषयों से सम्बंधित।

(iv)हृदय की वृत्तियों पर आधारित।

कृतियाँ

भट्‌टजी 'भारतेंदु युग' की देन थे और भारतेंदु मंडली के प्रधान सदस्य थे। प्रयाग में इन्होंने 'हिन्दी प्रवर्द्धिनी' नामक सभा की स्थापना की थी और 'हिन्दी प्रदीप' नामक पत्र प्रकाशित करते रहे। इसी पत्र में इनके अनेक निबन्ध दृष्टिगोचर होते हैं। 'हिन्दी साहित्य सम्मेलन' प्रयाग ने इनके कुछ निबन्धों का संग्रह 'निबन्धावली' नाम से प्रकाशित भी करवाया था।

निबन्ध संग्रह – साहित्य सुमन, भट्‌ट निबन्धावली।

उपन्यास – नूतन ब्रह्मचारी, सौ अजान एक सुजान।

नाटक – दमयंती स्वयंवर, बाल-विवाह, चंद्रसेन, रेल का विकट खेल।

अनुवाद – वेणीसंहार, मृच्छकटिक, पद्‌मावती।

भाषा

भाषा की दृष्टि से अपने समय के लेखकों में बालकृष्ण भट्‌ट का स्थान बहुत ऊँचा है। उन्होंने अपनी रचनाओं में यथाशक्ति शुद्ध हिन्दी का प्रयोग किया।

भावों के अनुकूल शब्दों का चुनाव करने में भट्ट जी बड़े कुशल थे। कहावतों और मुहावरों का प्रयोग भी उन्होंने सुंदर ढंग से किया है। भट्ट जी की भाषा में जहाँ तहाँ पूर्वीपन की झलक मिलती है, जैसे- समझा-बुझा के स्थान पर समझाय-बुझाय लिखा गया है। बालकृष्ण भट्ट की भाषा को दो कोटियों में रखा जा सकता है। प्रथम कोटि की भाषा तत्सम शब्दों से युक्त है। द्वितीय कोटि में आने वाली भाषा में संस्कृत के तत्सम शब्दों के साथ-साथ तत्कालीन उर्दू, अरबी, फारसी तथा आंग्ल भाषीय शब्दों का भी प्रयोग किया गया है। वह हिन्दी की परिधि का विस्तार करना चाहते थे, इसलिए उन्होंने भाषा को विषय एवं प्रसंग के अनुसार प्रचलित हिन्दीतर शब्दों से भी समन्वित किया है। बालकृष्ण भट्ट की भाषा जीवंत तथा चित्ताकर्षक है। इसमें यत्र-तत्र पूर्वी बोली के प्रयोगों के साथ-साथ मुहावरों का प्रयोग भी किया गया है, जिससे भाषा अत्यन्त रोचक और प्रवाहमयी बन गई है।

शैली

बालकृष्ण भट्ट की लेखन शैली को दो कोटियों में रखा जा सकता है। प्रथम कोटि की शैली को परिचयात्मक शैली कहा जा सकता है। इस शैली में उन्होंने कहानियाँ और उपन्यास लिखे हैं। द्वितीय कोटि में आने वाली शैली गूढ़ और गंभीर है। इस शैली में भट्ट जी को अधिक नैपुण्य प्राप्त है। उन्होंने 'आत्म-निर्भरता' तथा 'कल्पना' जैसे गम्भीर विषयों के अतिरिक्त, 'आँखश, 'नाक' तथा 'कान' आदि अति सामान्य विषयों पर भी सुन्दर निबन्ध लिखे हैं। आपके निबन्धों में विचारों की गहनता, विषय की विस्तृत विवेचना, गम्भीर चिन्तन के साथ एक अनूठापन भी है। यत्र-तत्र व्यंग्य एवं विनोद उनकी शैली को मनोरंजक बना देता है। उन्होंने हास्य आधारित लेख भी लिखे हैं, जो अत्यन्त शिक्षादायक हैं। भट्ट जी का गद्य, गद्य न होकर गद्यकाव्य-सा प्रतीत होता है। वस्तुतः आधुनिक कविता में पद्यात्मक शैली में गद्य लिखने की परंपरा का सूत्रपात बालकृष्ण भट्ट जी ने ही किया था।

वर्णनात्मक शैली

वर्णनात्मक शैली में बालकृष्ण भट्ट जी ने व्यावहारिक तथा सामाजिक विषयों पर निबन्ध लिखे हैं। जन साधारण के लिए भट्ट जी ने इसी शैली को अपनाया। उनके उपन्यास की शैली भी यही है, किंतु इसे उनकी प्रतिनिधि शैली

नहीं कहा जा सकता। इस शैली की भाषा सरल और मुहावरेदार है। वाक्य कहीं छोटे और कहीं बड़े हैं।

विचारात्मक शैली

भट्ट जी द्वारा गंभीर विषयों पर लिखे गए निबन्ध इसी शैली के अंतर्गत आते हैं। तर्क और विश्वास, ज्ञान और भक्ति, संभाषण आदि निबन्ध विचारात्मक शैली के उदाहरण हैं। इस शैली की भाषा में संस्कृत के शब्दों की अधिकता है।

भावात्मक शैली

इस शैली का प्रयोग बालकृष्ण भट्ट ने साहित्यिक निबन्धों में किया है। इसे भट्ट जी की प्रतिनिधि शैली कहा जा सकता है। इस शैली में शुद्ध हिन्दी का प्रयोग हुआ है। भाषा प्रवाहमयी, संयत और भावानुकूल है। इस शैली में उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा आदि अलंकारों का प्रयोग भी हुआ है। अलंकारों के प्रयोग से भाषा में विशेष सौंदर्य आ गया है। भावों और विचार के साथ कल्पना का भी सुंदर समन्वय हुआ है। इसमें गद्य काव्य जैसा आनंद होता है।

व्यंग्यात्मक शैली

इस शैली में हास्य और व्यंग्य की प्रधानता है। विषय के अनुसार कहीं व्यंग्य अत्यंत मार्मिक और तीखा हो गया है। इस शैली की भाषा में उर्दू शब्दों की अधिकता है और वाक्य छोटे-छोटे हैं।

निधन

बालकृष्ण भट्ट का निधन 20 जुलाई, 1914 ई. में हुआ। लेखकों में उनका सर्वोच्च स्थान है। भट्टजी ने नाटककार, निबन्धकार, लेखक, उपन्यासकार और अनुवादक आदि विभिन्न रूपों में हिन्दी की सेवा की और उसे धनी बनाया। साहित्य की दृष्टि से भट्ट जी के निबन्ध अत्यंत उच्च कोटि के हैं। इस दिशा में उनकी तुलना अंग्रेजी के प्रसिद्ध निबंधकार चार्ल्स लैंब से की जा सकती है। गद्य काव्य की रचना भी सर्वप्रथम भट्ट जी ने ही प्रारंभ की थी। इनसे पूर्व तक हिन्दी में गद्य काव्य का नितांत अभाव था।

3

प्रसाद-युगीन नाटक

प्रसाद का आगमन नाट्य रचना में व्याप्त गतिरोध को समाप्त करने वाले युग-विधायक व्यक्ति के रूप में हुआ। उन्होंने एक प्रवर्त्तक के रूप में कविता, नाटक तथा निबंध आदि सभी क्षेत्रों में युग का प्रतिनिधित्व किया। हिन्दी नाटक-साहित्य में प्रसाद जी का एक विशिष्ट स्थान है। इतिहास, पुराण-कथा और अर्द्धमिथकीय वस्तु के भीतर से प्रसाद ने राष्ट्रीय सुरक्षा के सवाल को पहली बार अपने नाटकों के माध्यम से उठाया। दरअसल उनके नाटक अतीत कथाचित्रों के द्वारा तत्कालीन राष्टीय संकट को पहचानने और सुलझाने का मार्ग प्रशस्त करते हैं। 'चन्द्रगुप्त' 'स्कन्दगुप्त' और 'ध्रुवस्वामिनी' का सत्ता-संघर्ष राष्ट्रीय सुरक्षा के प्रश्न से जुड़ा हुआ है।

प्रसाद ने अपने नाटकों की रचना द्वारा भारतेन्दुकालीन रंगमंच से बेहतर और संश्लिष्ट रंगमंच की माँग उठायी। उन्होंने नाटकों की अन्तर्वस्तु के महत्त्व को रेखांकित करते हुए रंगमंच को लिखित नाटक का अनुवर्ती बताया। इस तरह नाटक के पाठ्य होने के महत्त्व को उन्होंने नजर अन्दाज नहीं किया। नाट्य रचना और रंगकर्म के परस्पर सम्बन्ध के बारे में उनका यह निजी दृष्टिकोण काफी महत्त्वपूर्ण और मौलिक है।

प्रसाद जी के नाटक निश्चय ही एक नयी नाट्य भाषा के आलोक से चमचमाते हुए दिखते हैं। अभिनय, हरकत और एक गहरी काव्यमयता से परिपूर्ण रोमांसल भाषा प्रसाद की नाट्य-भाषा की विशेषताएँ हैं। इसी नाट्य-भाषा के

माध्यम से प्रसाद अपने नाटकों में राष्ट्रीय चिन्ता के संग प्रेम के कोमल संस्पर्श का कारुणिक संस्कार देते हैं।

डॉ. गुलाबराय का कहना है, 'प्रसाद जी स्वयं एक युग थे।' उन्होंने हिन्दी नाटकों में मौलिक क्रांति की। उनके नाटकों को पढ़कर लोग जितेन्द्र लाल के नाटकों को भूल गये। वर्तमान जगत के संघर्ष और कोलाहलमय जीवन से ऊबा हुआ उनका हृदयस्थ कवि उन्हें स्वर्णिम आभा से दीप्त दूरस्थ अतीत की ओर ले गया। उन्होंने अतीत के इतिवृत्त में भावना का मधु और दार्शनिकता का रसायन घोलकर समाज को एक ऐसा पौष्टिक अवलेह दिया जो ह्रास की मनोवृत्ति को दूर कर उसमें एक नई सांस्कृतिक चेतना का संचार कर सके। उनके नाटकों में द्विजेन्द्रलाल राय की सी ऐतिहासिकता और रवि बाबू की-सी दार्शनिकतापूर्ण भावुकता के दर्शन होते हैं।

प्रसाद की आरम्भिक नाट्य कृतियां : सज्जन (1910), 'कल्याणी परिणय (1912), प्रायश्चित (1912), करुणालय (1913) और राज्यश्री (1918), द्विवेदी-युग की सीमा के अंतर्गत आती हैं। प्रसाद के इन नाटकों में उनका परम्परागत रूप तथा प्रयोग में भटकती हुई नाट्य दृष्टि ही प्रमुखता से उभर कर सामने आती है। नाटक रचना का प्रारम्भिक काल होने के कारण इन कृतियों में प्रसाद की नाट्य कला का स्वरूप स्थिर नहीं हो पाया है, वह अपनी दिशा खोज रही है। यह दिशा उन्हें विशाख (1921), अजातशत्रु (1922), कामना (1927), जनमेजय का नागयज्ञ (1926) स्कन्दगुप्त (1928), एक घूँट (1930), चन्द्रगुप्त (1931) और ध्रुवस्वामिनी (1933) में प्राप्त हुई। इन नाटकों में प्रसाद जी ने अपनी गवेषणा शक्ति और सूक्ष्म दृष्टि का परिचय दिया।

'सज्जन' का कथानक महाभारत की एक घटना पर आधारित है। इस नाटक में प्रसाद जी ने परम्परागत मान्यताओं को स्वीकार करते हुए भारतेन्दु-कालीन नाट्य-प्रणाली को अपनाया है। 'कल्याणी : परिणय' भी प्रसाद का प्रारम्भिक प्रयास है, जिसका अंतर्भाव उन्होंने बाद में 'चन्द्रगुप्त' के चतुर्थ अंक के रूप में किया है। 'करुणालय' बंगला के 'अमित्राक्षर अरिल्ल छंद' की शैली पर लिखा गया गीति-नाट्य है। 'प्रायश्चित' हिन्दी का प्रथम दुखांत मौलिक रूपक है। शिल्प-विधान की दृष्टि से प्रसाद ने इसमें सर्वप्रथम पाश्चात्य नाट्य-शिल्प को अपनाने का प्रयास किया है। सही अर्थों में 'राज्यश्री' प्रसाद का प्रथम उत्कृष्ट ऐतिहासिक नाटक है। 'विशाख' प्रसाद की पूर्ववर्ती और परवर्ती नाटकों में एक विभेदक रेखा है। इनका कथानक साधारण होते हुए भी देश की तत्कालीन

राजनैतिक धार्मिक और सामाजिक समस्याओं की अभिव्यक्ति से ओतप्रोत है यद्यपि प्रसाद के अधिकांश नाटक ऐतिहासिक ही हैं, परन्तु इतिहास की पीठिका में वर्तमान की समस्याओं को वाणी देने का विचार प्रसाद ने सर्वप्रथम इसी नाटक में व्यक्त किया है। भूमिका में वे लिखते हैं मेरी इच्छा भारतीय इतिहास के अप्रकाशित अंश में से उन प्रकांड घटनाओं का दिग्दर्शन कराने की है, जिन्होंने हमारी वर्तमान स्थिति को बनाने में बहुत प्रयास किया है। और वह वर्तमान स्थिति परतंत्र भारत के राजनैतिक सामाजिक परिवेश से जुड़ी हुई थी। अपनी सत्ता को स्थानयी बनाये रखने के लिए ब्रिटिश शासन द्वारा भारतीयों में फूट डालने के लिए अपनाये गये साम्प्रदायिकता, प्रांतीयतावाद के हथकण्डे प्रसाद से छिपे नहीं थे। अत: इतिहास की पीठिका पर उन्होंने वर्तमान के इन प्रश्नों को यथार्थ की दृष्टि से उठाते हुए समन्वयवादी आदर्श समाधान प्रस्तुत किये। युगीन साम्प्रदायिक प्रभावों को आत्मसात करते हुए प्रसाद ने अपने नाटकों में ब्राह्मण-बौद्ध धार्मिक संघर्षों को रूपायित किया है। 'जनमेजय का नागयज्ञ' नाटक आर्यों और नागजति तथा आर्य-नाग-संघर्ष की पृष्ठभूमि में रचा गया है। 'अजातशत्रु' में आर्य जनपदों का पारस्परिक संघर्ष परोक्ष रूप में युगीनसाम्प्रदायिक संघर्षों का ही प्रतिरूप है। इस प्रकार अपनी इन प्रौढ़ कृतियों में प्रसाद ने जातीय, क्षेत्रीय तथा वैयक्तिक भेदों को मिटाकर व्यापक राष्ट्रीयता का आह्वान किया है। इस दृष्टि से 'स्कन्दगुप्त' और 'चन्द्रगुप्त' विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। 'कामना' और 'एक घूंट' भिन्न कोटि के नाटक हैं। इनकी कथावस्तु ऐतिहासिक नहीं है। कथ्य की दृष्टि से भी ये भिन्न हैं। इनमें प्रसाद ने भौतिक विलासिता का विरोध किया है। 'कामना' में विभिन्न भावों को पात्र रूप में प्रस्तुत किया गया है, इसलिए उसे प्रतीक नाटक कहा जा सकता है। 'एक घूट' एकांकी है और उसमें प्रसाद ने यथार्थ और आदर्श की स्थिति, जीवन का लक्ष्य और स्त्री-पुरुष की प्रेम-भावना के सामंजस्य को चित्रित किया है। 'ध्रुवस्वामिनी प्रसाद की अन्तिम कृति है। अन्य नाटकों में प्रसाद विशेष रूप से राजनैतिक प्रश्नों के यथार्थ से जूझते रहे हैं, परन्तु 'ध्रुवस्वामिनी' में सामाजिक जीवन की वर्तमान युगीन नारी समस्या पर बौद्धिक विचार विमर्श कर यथार्थ दृष्टि का परिचय दिया है। नारी-जीवन की इस सामाजिक समस्या के प्रति प्रसाद का आकर्षण वर्तमान नारी-आन्दोलन का ही परिणाम है। आज के समाज में नारी की स्थिति, दासता की शृंखला से उसकी मुक्ति, विशिष्ट परिस्थितियों में पुर्नविवाह की समस्या को बड़े साहस, संयम, तर्क और विचार एवं धर्म की पीठिका पर स्थित करके इस नाटक में सुलझाया गया है।

स्पष्ट है कि प्रसाद जी ने हिन्दी नाटक की प्रवाहमान् धारा को एक नए मोड़ पर लाकर खड़ा किया। वे एक सक्षम साहित्यकार थे। उनके हृदय में भारतीय संस्कृति के प्रति अगाध ममता थी। उन्हें विश्वास था कि भारतीय संस्कृति ही मानवता का पथ प्रशस्त कर सकती है। इसी कारण अपने नाटकों द्वारा प्रसाद जी ने भारतीय संस्कृति के भव्य रूप की झांकी दिखाकर राष्ट्रीय आन्दोलन के साथ-साथ अपने देश के अधुनातन निर्माण की पीठिका भी प्रस्तुत की है। भारतेन्दु ने अपने नाटकों में जिस प्राचीन भारतीय संस्कृति की स्मृति को भारत की सोई हुई जनता के हृदय में जगाया था, प्रसाद ने नाटकों में उसी संस्कृति के उदात्त और मानवीय रूप पर अपनी भावी संस्कृति के निर्माण की चेतना प्रदान की। पर यह समझना भी भूल होगी कि उन्होंने केवल भारतीय संस्कृति के गौरव-गान के लिए ही नाटकों की रचना की। वस्तुतः उनका नाट्य साहित्य ऐतिहासिक होते हुए भी सम-सामयिक जीवन के प्रति उदासीन नहीं है, वह प्रत्यक्ष को लेकर मुखर है और उनमें लोक-संग्रह का प्रयत्न है, राष्ट्र के उद्‌बोधन की आकांक्षा है।

प्रसाद से पूर्व साहित्यिक नाटकों का अभाव था। जिस समय भारतेन्दु ने नाटक-रचना की शुरुआत की, उनके सामने पहले से निश्चित, प्रतिष्ठित हिन्दी का कोई रंगमंच न था, अतः उन्होंने संस्कृत, लोकनाटक एवं पारसी रंगमंच शैली की विभिन्न रंगपरम्पराओं को सुधारवादी यथार्थ कथ्य के अनुरूप मोड़ देने का स्तुत्य प्रयास किया। प्रसाद के युग तक नाटकों में पारसी रंगशिल्प का स्वरूप निर्धारित हो चुका था, अतः पारसी रंगमंच की अतिरंजना, चमत्कार, फूहड़ता, शोखभाषा, चुलबुले संवाद, शेरोशायरी के घटियापन की प्रतिक्रिया में प्रसाद ने अपने ऐतिहासिक, राष्ट्रीय नाटकों की रचना की। दार्शनिकता, सांस्कृतिक बोध, उदात्त कल्पना, काव्यमय अलंकृति, दुरूह भाषा का विन्यास उनकी उपलब्धि था। फिर भी साहित्यिक और कलात्मक वैशिष्ट्य होते हुए भी प्रसाद में नाट्य शिल्प के अनेक दोष दिखाई देते हैं। एक तथ्य यह है कि प्रकारान्तर से उन्होंने अतिरंजना की रूढ़ि को किंचित परिवर्तन के साथ ग्रहण किया।

यह परिवर्तन प्रमुखतः शेक्सपीयर के जीवन-बोध, एवं रंगविधान के प्रभावस्वरूप ही आया था। शेक्सपीयर का रोमानी बोध एवं नियतिवाद संभवतः भारतीय युगीन परिवेश के कारण भी स्वतः उद्‌भूत होकर प्रसाद की चेतना पर छा गया था। इन्हीं कारणों से प्रसाद मूलतः कवि, दार्शनिक तथा संस्कृति के जागरूक समर्थक थे। जीवन दृष्टि के अनुरूप उन्होंने अपने नाटकों की रचना

स्वच्छन्दतावादी नाट्य-प्रणालियों को आधार बनाकर कल्पना, भावुकता, सौन्दर्य-प्रेम, अतीत के प्रति अनुराग, उच्चादर्शों के प्रति मोह तथा शैली शिल्प की स्वच्छन्दता आदि को ग्रहण किया। किन्तु ऐसे साहित्यिक नाटकों के अनुरूप रंगमंच हिन्दी में नहीं था इसलिए अन्य सभी दृष्टियों से सफल होते हुए भी प्रसाद के नाटक अभिनय की दृष्टि से सफल नही हो सके। इधर हिन्दी रंगमंच के क्षेत्र में नए प्रयोग हो रहे हैं, जिससे आज के रंगकम, प्रसाद के नाटकों को चुनौती के रूप में स्वीकार करने लगे हैं। उनके नाटकों को इसीलिए सर्वथा अभिनेय नही कहा जा सकता, क्योंकि उनमें से कुछ छुटपुट रूप से उनके जीवन काल में ही खेले गये थे। फिर भी आकार की विपुलता, दृश्यों की भरमार, चरित्र-बाहुल्य और विलक्षण दृश्य-योजना उनके नाटकों को रंगमंच के लिए अति कठिन बना देती है।

आधुनिक हिन्दी नाटक साहित्य के विकास में जयशंकर प्रसाद के बाद हरिकृष्ण प्रेमी को गौरवपूर्ण स्थान दिया जाता है। प्रसाद-युग में 'प्रेमी' ने 'स्वर्ण-विहान' (1930), 'रक्षाबन्धन' (1934), 'पाताल विजय' (1936), 'प्रतिशोध' (1937), 'शिवासाधना' (1937) आदि नाटक लिखे हैं। इनमें 'स्वर्ण विहान', गीतिनाट्य है और शेष गद्य नाटक। प्रसाद ने जहाँ प्राचीन भारत का चित्रण करते हुए सत्य, प्रेम, अहिंसा व त्याग का संदेश दिया, वहाँ प्रेमी जी ने मुस्लिम-युगीन भारत को नाट्य-विषय के रूप में ग्रहण करते हुए हिन्दू-मुस्लिम एकता स्थापित करने का प्रयत्न किया। देश के उत्थान और संगठन के लिए इनके नाटक राष्ट्रीय भावना का प्रचार करने वाले हैं। प्रेमी जी प्रसाद की परम्परा के अनुयायी हैं। परन्तु उन्होंने प्रसाद जी की भांति अपने नाटकों को साहित्यिक और पाठ्य ही न रखकर उनको रंगमंच के योग्य भी बनाया है। साहित्यिकता और रंगमंचीयता का समन्वय है उनके नाटकों की विशेषता है। उन्होंने संस्कृत नाट्य परम्परा का अनुसरण न करके पाश्चात्य नाट्यकला को अपनाया है। इन नाटकों के कथानक संक्षिप्त एवं सुगठित, चरित्र सरल एवं स्पष्ट, संवाद पात्रानुकूल एवं शैली सरल व स्वभाविक है।

उपर्युक्त प्रमुख नाट्य कृतियों के अतिरिक्त आलोच्य युग में धार्मिक-पौराणिक और ऐतिहासिक नाटकों की रचना अत्यधिक हुई। इन नाटकों में कलात्मक विकास विशेष रूप से नहीं हुआ, किन्तु युग की नवीन प्रवृत्तियों से प्रभावित होकर कई नाटककारों ने अपनी रचनाओं में नवीन दृष्टिकोण को अपनाया। धार्मिक नाट्यधाराके अन्तर्गत कृष्ण चरित-राम चरित, पौराणिक तथा अन्य सन्त

महात्माओं के चरित्रों को लेकर रचनाएं प्रस्तुत की गईं। इस धारा की उल्लेखनीय रचनाएं हैं : अम्बिकादत्त त्रिपाठी कृत 'सीय-स्वयंवर' (1918), रामचरित उपाध्याय-कृत 'देवी द्रौपदी' (1921), राम नरेश त्रिपाठीकृत 'सुभद्रा' (1924) तथा 'जयन्त' (1934), गंगाप्रसाद अरोड़ा-कृत 'सावित्री सत्यवान' गौरीशंकर प्रसाद-कृत- 'अजामिल चरित्र नाटक' (1926), पूरिपूर्णानन्द वर्मा-कृत 'वीर अभिमन्यु नाटक' (1927), वियोगी हरि-कृत (1925), 'छद्‌मयोगिनी' (1929) और 'प्रबुद्ध यामुन' अथवा 'यमुनाचार्य चरित्र' (1929), जगन्नाथ प्रसाद चतुर्वेदी-कृत 'तुलसीदास' (1934) लक्ष्मीनारायण गर्ग-कृत' श्री कृष्णावतार', किशोरी दास वायपेयी-कृत 'सुदामा' (1934), हरिऔध-कृत 'प्रद्युम्न विजय व्यायोग' (1939), सेठ गोविन्ददास-कृत 'कर्त्तव्य' (1936) आदि। राष्ट्रीय चेतना की प्रधानता होने के कारण धार्मिक नाटकों में भी राष्ट्रीयता का चित्रण हुआ। नाटकों में अति-नाटकीय और अति-मानवता का बहिष्कार किया गया है। प्राचीन रूढ़ियों और मान्यताओं को पूर्ण रूप से हटाने की चेष्टा की गयी है। इस प्रकार की रचनाओं में नाटककारों ने प्रायः कथावस्तु प्राचीन साहित्य से लेकर उसी पुराने ढांचे में नई बुद्धवादी धाराओं तथा विचारधाराओं के अनुसार आधुनिक युग की समस्याओं को उनमें फिट कर दिया है।

प्रसाद युग में इतिहास का आधार लेकर अनेक महत्त्वपूर्ण रचनाएं प्रस्तुत की गई। इस समय के नाटककारों की दृष्टि इतिहास की ओर विशेष रूप से गई क्योंकि यह युग पुनरुत्थान और नवजागरणवादी प्रवृत्तियों से अनुप्राणित था। फलतः जन साधारण में अपने गौरवपूर्ण इतिहास तथा अपनी महान सांस्कृतिक चेतना का संदेश देना इन नाटककारों ने अपना कर्त्तव्य समझा। इस काल की गौण ऐतिहासिक कृतियों में गणेशदत्त इन्द्र-कृत 'महाराणा संग्रामसिंह' (1911), भंवरलाल सोनी-कृत 'वीर कुमार छत्रसाल' (1923), चन्द्रराज भण्डारी-कृत 'सम्राट' अशोक (1923) ज्ञानचन्द्र शास्त्री-कृत 'जयश्री' (1924) प्रेमचन्द-कृत 'कर्बला' (1928), जिनेश्वर प्रसाद भायल-कृत 'भारत गौरव' अर्थात् 'सम्राट चन्द्रगुप्त' (1928) दशरथ ओझा-कृत 'चित्तौड़ की देवी' (1928) और प्रियदर्शी सम्राट अशोक (1935), जगन्नाथप्रसाद मिलिन्द-कृत 'प्रताप प्रतिज्ञा' (1929), चतुरसेन शास्त्री-कृत 'उपसर्ग' (1929) और 'अमर राठौर' (1933) उदयशंकर भट्ट-कृत 'विक्रमादित्य' (1929) और 'दाहर अथवा लसधपतन' (1943), द्वारिका प्रसाद मौर्य : कृत 'हैदर अली या मैसूर-पतन' (1934), धनीराम प्रेम-कृत 'वीरांगना पन्ना' (1933) जगदीश शास्त्री-कृत 'तक्षशिला'

(1937) उमाशंकर शर्मा-कृत 'महाराणा प्रताप' आदि को विशेष ख्याति प्राप्त हुई है।

इन नाटककारों ने आदर्शवादी प्रवृत्ति के बावजूद स्वभाविकता का बराबर ध्यान रखा और कल्पना और मनोविज्ञान की सहायता से प्राचीन काल की घटनाओं और चरित्रों को स्वाभाविकता के साथ चित्रित करने की चेष्टा की। पुरानी मान्यताओं तथा अतिलौकिक वर्णनों के स्थान पर वास्तविक कथा-वस्तु को प्रयोग में लाया गया है। इन चरित्रों में संघर्ष का भी समावेश हुआ। सारांश यह है कि इन नाटकों के कथानक महत् हैं, चरित्र सभी दार्शनिक और आदर्शवादी हैं, शैली कवित्वपूर्ण और अतिरंजित है और नाटकों का वातावरण संगीत और काव्यपूर्ण है। ये नाट्य-कृतियां हिन्दी नाट्य-कला विकास का एक महत्त्वपूर्ण चरण पूरा करती हैं।

इस युग में पौराणिक और ऐतिहासिक नाटकों की परम्परा का महत्त्वपूर्ण स्थान तो रहा ही है, इसके अतिरिक्त सामाजिक नाटकोंकी रचना भी बहुतायत से हुई है। सामाजिक नाटकों में विश्वम्भरनाथ शर्मा 'कौशिक' कृत 'अत्याचार का परिणाम' (1921) और 'हिन्द विधवा नाटक' (1935), 'प्रेमचन्द-कृत 'संग्राम' (1922) ईश्वरी प्रसाद शर्मा-कृत दुर्दशा (1922), सुदर्शन-कृत 'अंजना' (1923), 'आनरेरी मैजिस्ट्रेट' (1929), और 'भयानक' (1937), गोविन्दवल्लभ पन्त-कृत 'कंजूस की खोपड़ी' (1923) और 'अंगूर की बेटी' (1929), बैजनाथ चावला-कृत 'भारत का आधुनिक समाज' (1929), नर्मदेश्वरी प्रसाद 'राम'-कृत 'अछूतोद्धार' (1926), छविनाथ पांडेय-कृत 'समाज' (1929), केदारनाथ बजाज-कृत 'बिलखती 'विधवा' (1930), जमनादास मेहरा-कृत 'हिन्दू कन्या' (1932), महादेव प्रसाद शर्मा-कृत 'समय का फेर', बलदेव प्रसाद मिश्र-कृत 'विचित्र विवाह' (1932) और 'समाज सेवक' (1933) रघुनाथ चौधरी-कृत 'अछूत की लड़की या समाज की चिनगारी' (1934), महावीर बेनुवंश-कृत 'परदा' (1936), बेचन शर्मा 'उग्र'-कृत 'चुम्बन' (1937) और डिक्टेटर' (1937), रघुवीर स्वरूप भटनागर-कृत 'समाज की पुकार' (1937), अमर विशारद-कृत 'त्यागी युवक' (1937) चन्द्रिका प्रसाद सिंह-कृत 'कन्या विक्रय या लोभी पिता' (1937) आदि उल्लेखनीय हैं। इन नाटकों में सामाजिक विकृतियों : बाल विवाह, विधवा-विवाह का विरोध, नारी स्वतंत्रता आदि का चित्रण करते हुए उनके उन्मूलन का प्रयास दृष्टिगोचर होता है। इन नाटकों में समुन्नत समाज की

स्थापना का प्रयास किया गया है, भले ही नाट्यकला की दृष्टि से ये नाटक उच्चकोटि के नहीं हैं।

आलोच्य युग में श्रृंगार-प्रधान नाटकों का प्रायः ह्रास हो गया था। थोड़ी बहुत प्रतीकवादी परम्परा चल रही थी, किन्तु उसकी गति बहुत धीमी थी। प्रतीक का महत्व वस्तुतः सांकेतिक अर्थ में है। इस अवधि में प्रसाद की 'कामना' के पश्चात् सुमित्रानन्दन पन्त-कृत ज्योत्स्ना' (1934) इस शैली की उल्लेखनीय रचना है। इसमें पंत की रंगीन कल्पनामयी झांकी का मनोरम स्वरूप व्यक्त होता है। इसके अतिरिक्त एक नाट्य-धारा व्यंग्य-विनोद प्रधान नाटकों को लेकर थी। इसको प्रमुख रूप से समाज की त्रुटियों, रूढ़िगत विचारों अथवा किसी व्यक्ति विशेष की विलक्षण प्रवृत्तियों पर चोट करने के लिए प्रस्तुत किया जाता है। इस प्रकार से किसी भी समस्या पर किया हुआ प्रहार ऊपर से तो साधारण सा प्रतीत होता है। किन्तु तनिक भी ध्यान देने पर उसके पीछे छिपा हुआ अर्थ-गाम्भीर्य स्पष्ट हो जाता है। हास्य-व्यंग्य प्रधान नाटकों में जी.पी. श्रीवास्तव का 'दुमदार आदमी' (1919) गड़बड़ झाला (1919), नाक में दम उर्फ जवानी बनाम बुढ़ापा उर्फ मियां का जूता मियां के सर (1926) भूलचूक (1928), चोर के घर छिछोर (1933) चाल बेढव (1934), साहित्य का सपूत (1934), स्वामी चौखटानन्द (1936) आदि प्रसिद्ध हैं। जनता में इन नाटकों का खूब प्रचार हुआ परन्तु रस और कला की दृष्टि से ये निम्नकोटि की रचनाएं हैं। इस युग में कतिपय गीति-नाटकों की भी रचना हुई। इसमें प्रमुख हैं : मैथिलीशरण गुप्त का 'अनघ' (1928) हरिकृष्ण प्रेमी-कृत 'स्वर्ण विहान' (1937) भगवतीचरण वर्मा-कृत 'तारा', उदयशंकर भट्ट का मत्स्यगंधा (1937) और विश्वमित्र (1938) आदि उल्लेखनीय है। 'स्वर्ण विहान' में जीवन की बहिरंग व्यवस्था की ओर अधिक ध्यान दिया गया है और अन्य में आन्तरिक क्रिया-व्यापारों का चित्रण है। भाव प्रधान होने के कारण इन नाटकों में कार्य-व्यापार तथा घटना चक्र की कमी मिलती है। भावातिरेक ही भाव-नाट्यों की प्राणभूत विशेषता है।

इस प्रकार प्रसाद-युग हिन्दी नाटकों के क्षेत्र में नवीन क्रांति लेकर आया। इस युग के नाटकों में राष्ट्रीय जागरण एवं सांस्कृतिक चेतना का सजीव चित्रण हुआ है, किन्तु रंगमंच से लोगों की दृष्टि हट गयी थी। जो नाटक इस युग में रचे गये उनमें इतिहास तत्त्व प्रमुख था और रंगमंच से कट जाने के कारण वे मात्र पाठ्य नाटक बनकर रह गए। कथ्य के स्तर पर वे देश की तत्कालीन समस्याओं की ओर अवश्य लिखे गये किन्तु उनमें आदर्श का स्वर ही प्रमुख रहा। फिर भी

इतिहास के माध्यम से अपने युग की यथार्थ समस्याओं को अंकित करने में वे पीछे नहीं रहे।

1907 ई. से लेकर 1933 ई की जिस अवधि में जयशंकर प्रसाद के नाटक लिखे गये हैं वह भारतीय इतिहास का सबसे अधिक उधेड़बुन का समय है। उस युग को विवेकानन्द, रामकृष्ण परमहंस, सिस्टर निवेदिता, अरविन्द, दयानन्द सरस्वती, महात्मा गाँधी, रवीन्द्रनाथ टैगोर, तिलक, महात्मा फुले, मदनमोहन मालवीय आदि इस रूप में परिभाषित कर रहे थे कि हर क्रिया, निश्चय, आन्दोलन, सत्याग्रह, सिविल नाफरमनी, स्वदेशी आन्दोलन आदि एक तरफ और स्वाधीनता, स्वतन्त्रता, स्वराज्य, पराधीनता, आत्मगौरव, और स्वदेश प्रेम आदि अवधारणाएँ दूसरी तरफ साथ ही साथ आधायत्मिक, राजनैतिक नैतिक और काल्पनिक अर्थ देती थी न केवल अर्थ की दृष्टि से बल्कि स्वरूप की दृष्टि से भी। साही ने लिखा है कि 'छायावाद की हर रचना एक ही साथ नैतिक भी है और कल्पनात्मक भी और राजनैतिक भी।' (छठवाँ दशक-275) साहित्य में भारतेन्दु हरिशचन्द्र और अध्यात्म में विवेकानन्द का एक स्वर से आर्य साम्राज्य की एकता और आर्य संस्कृति को नष्ट होने से बचाने का, उसके विभिन्न गणों समाजों और जातीयताओं को एक सूत्र में पिरोने का विवेकावादी और आनन्दवादी दोनों प्रयत्न चल रहा था। प्रसाद के नाटकों में 'प्रायश्चित' से यह चेतना जिस मुखर रूप में हो आती है उसकी युगभूमि के लिए दो सन्दर्भ पर्याप्त होंगे।

''अब महाघोर काल उपस्थित है। चारों ओर आग लगी हुई है। दरिद्रता के मारे देश जला जाता है। अंगरेजों से जो नौकरी बच जाती है उन पर मुसलमान आदि विधर्मी भरती होते जाते हैं। आमदनी वाणिज्य की थी ही नहीं, केवल नौकरी की थी सो भी धीरे-धीरे खिसकी। तो अब कैसे काम चलेगा। कदाचित ब्राह्मण और गोसाई लोग कहैं कि हमको तो मुफ्त का मिलता है, हमको क्या ? इस पर हम कहते हैं कि विशेष उन्हीं का रोना है। जो कराल काल चला आता है उसको आँख खोलकर देखो। कुछ दिन पीछे आप लोगों के मानने वाले बहुत थोड़े ही रहेंगें। अब-सब लोग एकत्र हो। हिन्दू नाम धारी वेद से लेकर तन्त्र वरंच भाषा ग्रन्थ मानने वाले तक सब एक होकर अब अपना परम धर्म यह रखो कि आर्य जाति में एका हो। इसी में धर्म की रक्षा है। भीतर तुम्हारे चाहे जो भाव और जैसी उपासना हो ऊपर से सब आर्य मात्र एक रहो। धर्म सम्बन्धी उपाधियों को छोड़कर प्रमुख धर्म की उन्नति करो।''

(भारतेन्दु समग्र 976)।–भारतेन्दु

''भारतवर्ष में हमारे दो बड़े विघ्न हैं–एक है पुरानी धार्मिक कट्‌टरता और दूसरा है वर्तमान योरोपीय सभ्यता''–विवेकानन्द।

जयशंकर प्रसाद के लिखना शुरू करने के पहले ही गाँधी की हिन्द स्वराज्य की अवधारणा अवतार ले चुकी थी और सिस्टर निवेदिता तथा अरविन्द आदि स्वाधीनता तथा स्वराज्य पर मार्डनरिव्यू नारायण आदि पत्रिकाओं में लेख लिख रहे थे। छायावाद की मनोभूमि की बनावट के तत्त्वों का रेखांकन करते हुए विजय देव नारायण साही ने, इसीलिए दार्शनिक मुद्रा, विराट नाटकीयता तथा नैतिक और कल्पनात्मक स्वप्न लोकों का विशिष्ट अनुपात में सम्मिश्रण और भाषा समस्या जो संस्कृत शब्दावली के माध्यम से मनोभूमि को क्लैसिकल और एब्स्ट्रैक्ट बनाने का कार्य करती रही है का उल्लेख किया है।

इस मनोभूमि के निर्माण में श्रीधर पाठक, माधव शुक्ल, अयोध्या सिंह उपाध्याय हरिऔध, हितैषी, रामनरेश त्रिपाठी, माखन लाल चतुर्वेदी, गयाप्रसाद शुक्ल सनेही, रूप नारायण पाण्डेय और मैथिलीशरण गुप्त की कृतियों की भी मूमिका रही है। इस युग की रचनाओं में 'लोकसेवा', 'लोकधर्म', 'लोकमर्यादा', 'लोक हृदय की पहचान', 'लोकमंगल', 'लोकाग्नि', 'लोकनीति', 'लोककल्याण', 'लोकवाद' शब्द कैनन की तरह प्रयुक्त मिलते हैं। देश की मिट्‌टी पेड़-पौधे, पशु-पक्षी, कीड़े-मकोड़े वनस्पतियाँ, नदी-नाले, पर्वत-समुद्र, फल-फूल, स्त्री-पुरुष सबको खड़ी बोली पद्य के प्रारम्भिक संघर्षकालीन दौर में सर्जनात्मकता का विषय बनाकर लेखकों और रचनाकारों ने 'देश वत्सलता' और स्वदेशानुराग का आकर्षक व्यवस्थित ढाँचा खड़ा कर दिया था। छायावाद ने इस ढाँचे में मनुष्यता का रंग भर सबको मानव बना दिया–मानवीकृत कर दिया। भक्ति काल में जैसे सब कुछ राधाकृष्णमय हो गया था वैसे ही, प्रसाद के समय में सब कुछ मानवमय, और चिन्मय हो गया। कार्नेलिया का 'कल्याणी' में पेड़-पौधों को याद करना भारतवासियों को धिक्का और प्रेरित करना दोनों है।

प्रसाद जी के समय में 'भारतेन्दु द्वारा विकसित हिन्दी रंगमंच की स्वतन्त्र चेतना' क्रमशः क्षीण हो चुकी थी माधवशुक्ल जैसे लोग नाटय समितियों और राम लीला मंडलियों को जीवित किए हुए थे परन्तु वह भी प्रयाग और कलकत्ता में ही। उनके समय में जैसा कि प्रसादजी ने लिखा है कि तीस बरस पहले (संभवत) 1906 ई. में। जब काशी में पारसी रंगमंच की प्रबलता थी तब भी मैंने किसी दक्षिणी नाटक मंडली द्वारा संस्कृत मृच्छकटिक का अभिनय देखा था

उसकी भारतीय विशेषता अभी मुझे भूली नहीं है'' (दे. रंगमंच)। रामलीला, रासलीला, यात्रा, भाँड़ की परिहास लीला, नौटंकी, कथकली आदि भाव मुद्राओं वाले नृत्यों आदि ने उत्तर भारत में अभिनयात्मक]ास के युग में चलते-फिरते रंगमंचों और विमानों की रक्षा की यह भी उनका मानना है, जो पारसी थियेटर से भिन्न परम्परा की लोक स्वीकृति का भी प्रमाण है। प्रसाद जी ने यह भी लिखा है कि पारसी व्यवसायियों ने पहले-पहल नये रंगमंच की आयोजना की। भाषा मिश्रित थी। इन्द्र सभा, चित्र बकावली, चन्द्रवली हरिशचन्द्र आदि के अभिनय होते थे, अनुकरण होता था रंगमंच में शेक्सपीरियन स्टेज' का'' (दे. प्रसाद वांग्मय भाग 4 रंगमंच)। पारसी थियेटर के द्वारा एक प्रकार की विकृत रुचि और भोंडेपन का प्रचार किया जा रहा था।

उसमें परिवर्तन करके भिन्न-भिन्न रुचि वाले लोगों के लिए सभी कलाओं के योग से अभिनीत नाटक ही एक विद्या या माध्यम से रूप में उन्हें स्वीकार था। उपदेश और मनोरंजन से भी वे उसे बचाना चाहते थे। वे यथार्थवाद के इब्सनीय रूप से परिचित थे और उसके आधार पर भाषा तथा सामाजिक चेतना के छिन्न-भिन्न होकर बिखरने के कारण वेदना की वृत्ति की प्रस्तुति को पश्चिम की नकल से विकसित यथार्थ के कारण आवश्यक नहीं मानते थे। उनको विश्वास था कि अतीत और वर्तमान के आधार पर ही भविष्य का निर्माण सम्भव है। उन्होंने लिखा कि कुछ लोग कहते हैं साहित्यकार को आदर्शवादी होना ही चाहिए और सिद्धांत से ही आदर्शवादी धार्मिक प्रवचनकर्ता बन जाता है। वह समाज को कैसा होना चाहिए, यही आदेश करता है। और यथार्थवादी सिद्धांत से ही इतिहासकार से अधिक कुछ नहीं ठहरता क्योंकि यथार्थवाद इतिहास की संपत्ति है। वह चित्रित करता है कि समाज कैसा है या था किंतु साहित्यकार न तो इतिहास कर्ता है और न धर्मशास्त्र प्रणेता। इन दोनों के कर्त्तव्य स्वतंत्र हैं। साहित्य इन दोनों की कमी को पूरा करने का काम करता है-''उनके अनुसार साहित्य समय की वास्तविक स्थिति क्या है, इसको दिखाते हुए भी उसमें आदर्शवाद का सामंजस्य स्थिर करता है। दु:ख दग्ध जगत और आनंदपूर्ण स्वर्ग का एकीकरण साहित्य है। इसीलिए असत्य अघटित घटना पर कल्पना को वाणी महत्त्वपूर्ण स्थान देती है, जो निजी सौन्दर्य के कारण सत्य पथ पर प्रतिष्ठित होती है उसमें विश्वमंगल की भावना ओतप्रोत रहती है। (प्रसाद वांग्मय भाग 4)।

इन उद्धरणों में व्याप्त विश्वदृष्टि या दार्शनिक मुद्रा तथा नैतिक और कल्पनात्मक विजन का समन्वय उनकी समस्त रचनाओं में अन्त प्रवाहित रक्त की

तरह है। पौरुष, आनन्द उल्लास और श्रेयमयी प्रेय दृष्टि उनके नाटकों में स्वतंत्रता की कामना के साथ ही अनुस्यूत है। उनके निबन्ध एक प्रकार से उनकी सर्जनात्मकता के व्याख्यान हैं। लगता है जैसे वे उनके नाटकों, काव्य ग्रंथों और उपन्यास, कहानियों में व्याप्त आत्मा की संकल्पनात्मकता को आलोचना की भाषा में रूपान्तरित करते हैं। उनके अन्तिम अधूरे नाटक अग्निमित्र और अधूरे उपन्यास इरावती में उनके निबंध 'रहस्यवाद', 'यथार्थवाद' और 'छायावाद', काव्य और कला, और 'रंगमंच' की अनेक स्थापनाओं को अग्रगामिता प्रदान हुई है। जीवन का विकास इस दु:ख पूर्ण बुद्धिवाद के बन्दोगृह में अवरुद्ध है। उसे आनंद पथ पर ले चलने की क्षमता तुममें अन्तर्निहित है। दु:खवाद की निद्रा छोड़कर आनन्द की जागृति के लिए मानवता चंचल हो रही है। यह सब उसी के क्षुद्र उपसर्ग हैं, तुम मंगलपूर्ण सृष्टि स्थिति संहार तिरोभाव और अनुग्रह के पंच कृत्य करने में कुशल चिदानंदमयी आत्मसत्ता में विश्वास करो।'' (प्रसाद वांग्मय भाग 4, पृ. 790)

अपने समय की दु:खदग्धता के नरक की पहचान करके उस जगत को श्रद्धा सर्ग की कल्पना में रुपान्तरित करने की संकल्पनत्मक अनुभूति की 'राज्यश्री' के 'लोकसेवा' व्रत या कामायनी के आनन्दसर्ग की समरस स्थिति में, एक स्मितरेखा आलोक मयी मूर्ति की तरह व्याप्त है। अभिनय, सूत्रधार, नियतिनटी, रंगमंच आदि शब्द प्रसाद के जीवन दर्शन के बीज शब्द है जो नाटक को 'लीला' का अर्थ देकर रचनाओं का आत्मसाक्षात्कार या आत्मोपलब्धि का पर्याय भी बना देते हैं। दूसरी ओर महाशक्ति के माध्यम से आनन्द की प्रतीति के लिए 'नाटक' लिखना और सृष्टि के विधान या क्रम को एक नाटक के रूप में देखना, एक से अपने समय की पराधीनता से मुक्ति का उपाय खोजना, स्वतंत्रता प्राप्त करना और दूसरे से स्वतंत्रता प्राप्त करना, एक से स्वराज्य और दूसरे से स्वराज्य में विचरने का संकल्प कितना महत्त्वपूर्ण और कितना परस्पर विरुद्ध दिखता है। काल और कालातीत की एक साथ उपलब्धि ऋजुरेखीय काल के स्वीकार के साथ ही काल के अतिक्रमण की इच्छा और अन्तत: कामना, स्कंदगुप्त, चन्द्रगुप्त, एक घूँट, विशाख आदि में उस अतिक्रमण का प्रसादान्त सकेत प्रसाद से नाटकों को इतिहास और समकालीन अतीत और वर्तमान दोनों बना देते हैं। एक ही साथ इतिहास और नाटक का रचनात्मक निर्वाह भी अन्तत: एक प्रकार के विरुद्धों का सामंजस्य है।

अतीत प्रसाद के लिए प्रदत्त या पुरातत्त्व की दृष्टि से खोदकर निकाला गया मात्र ही नहीं है वह साम्राज्यवाद के दौर में हत दर्प जाति के लिए सांस्कृतिक

स्तर पर उत्तेजना और प्रेरणा का भी विषय है। प्रसाद के नाटकों में 'भारत-भारती' का आभ्यंतरित रूप ही नहीं मिलता है, वर्तमान राष्ट्रीय शक्ति का एक हद तक मानवीय समस्याओं के संघर्ष में परम्परा की खोज मिलती है। शक्ति के विद्युत्कणों की तलाश और समन्वय की समकालीन दृष्टि का अतीत में प्रेक्षपण ही स्कंदगुप्त, सिंहरण, अलका, देवसेवा, कार्नेलिया, मन्दाकिनी, चाणक्य, चन्द्रगुप्त, हर्ष, ध्रुवस्वामिनी आदि चरित्रों की सृष्टि करवाता है। सृष्टि इसलिए कि इतिहास के अन्तर्गत ये रहे होंगे।

लेकिन इस रूप में ये इन नाटकों की नैतिकता पर चढ़े हुए अग्निवाण ही हैं, जिसे प्रसाद ने निर्भित किया है-विशेष संकेत के रूप में। इतिहास सन्दर्भ और सामग्री दोनों हैं। वह उपादान है निमित्त नहीं, निमित्त तो मूलतः तत्कालीन स्वाधीनता की आकांक्षा और आत्म गौरव की प्राप्ति है। अजातशत्रु के कथा प्रसंग और 'कामायनी' के आमुख में प्रसाद ने अपनी इतिहास दृष्टि का संकेत किया है। वे इतिहास को इतिहास सृष्टि के लिए प्रयोग करना चाहते हैं और नाटकों में समन्वित इच्छा शक्ति का, आत्माओं की संकल्पनात्मक अनुभूति का, विश्वात्मा की इच्छा का अनेक स्तरों पर पाठक और श्रोता के सामने घटित को घटमान के रूप में प्रयुक्त करते हैं। इतिहास की यह द्वन्द्वात्मक चेतना हेगेल के डायलेक्टिक और शैवागमदर्शन के द्वन्द्व से मिलकर बनी है। इसके मूल में काल की चक्रीय या सनातन दृष्टि भी है, परन्तु वह सनातनता कर्म की साधना का निषेध नहीं करती है बल्कि संकल्पात्मक बनाती है। द्वन्द्वात्मकता के कोष में संकल्पात्कता का यह वैचारिक बीजारोपण प्रसाद के लिए ही संभव था। अजातशत्रु के कथाप्रसंग का यह उद्धरण 'कामायानी' के 'आमुख' के साथ मिलाकर देखने पर ऐतिहासिक नाटकों की अर्थगर्भ संकेतात्मकता और इतिहास दृष्टि या कालचेतना के लिए काफी संकेतात्मक है।

''इतिहास में घटनाओं की प्रायः पुनरावृत्ति होते देखी जाती हैं। इसका तात्पर्य यह नहीं कि इसमें कोई नयी घटना होती ही नहीं किन्तु असाधारण नयी घटना भी भविष्यत में फिर होने की आशा रखती है। मानव समाज की कल्पना का भंडार अक्षय है क्योंकि वह इच्छा शक्ति का विकास है। इन कल्पनाओं और इच्छाओं का मूल सूत्र बहुत ही सूक्ष्म और अपरिस्फुट होता है। जब वह इच्छा शक्ति किसी व्यक्ति या जाति में केन्द्रीभूत होकर अपना सफल या विकसित रूप धारण करती है तभी इतिहास की सृष्टि होती है। विश्व में जब तक कल्पना इयत्ता को नहीं प्राप्त होती तब तक वह रूप परिवर्तन करती हुई, पुनरावृत्ति करती ही

जाती है। समाज की अभिलाषा अनंत स्रोतवाली है। पूर्व कल्पना के पूर्ण होते होते एक नयी कल्पना उसका विरोध करने लगती है और पूर्व कल्पना कुछ काल तक ठहर कर फिर होने के लिये अपना क्षेत्र प्रस्तुत करती है उधर इतिहास का नवीन अध्याय खुलने लगता है। मानव समाज के इतिहास का इसी प्रकार संकलन होता है।'' अजातशत्रु कथा प्रसंग

''आज के मनुष्य के समीप तो उसकी वर्तमान संस्कृति का क्रमपूर्ण इतिहास ही होता है, परन्तु उसके इतिहास की सीमा जहाँ से प्रारम्भ होती है ठीक उसी के पहिले सामूहिक चेतना की दृढ़ और गहरे रंगों की रेखाओं से, बीती हुई और भी पहले की बातों का उल्लेख स्मृति पट पर अमिट रहता है, परन्तु कुछ अतिरंजित सा। वे घटनाएँ आज विचित्रता से पूर्ण जान पड़ती हैं संभवतः इसीलिए हमको अपनी प्राचीन श्रुतियों का निरुक्त के द्वारा अर्थ करना पड़ता है, जिससे कि उन अर्थों का अपनी वर्तमान रुचि से सामंजस्य किया जाय'' आज हम सत्य का अर्थ घटना कर लेते हैं। तब भी उसके तिथि क्रम मात्र के सन्तुष्ट न होकर मनोवैज्ञानिक अन्वेषण के द्वारा इतिहास की घटना के भीतर कुछ देखना चाहते हैं। उसके मूल में क्या रहस्य है? आत्मा की अनुभूति ! हाँ उसी भाव के रूपग्रहण की चेष्टा सत्य या घटना बन कर प्रत्यक्ष होती है। फिर वे सत्य घटनाएँ स्थूल और क्षणिक होकर मिथ्या और अभाव में परिणति हो जाती हैं। किन्तु सूक्ष्म अनुभूति या भाव, चिरंतन सत्य के रूप में प्रतिष्ठित रहता है, जिसके द्वारा युग युग के पुरुषों की और पुरुषार्थों की अभिव्यक्ति होती रहती है।'' कामायनी–आमुख।

प्रसाद के इतिहास की यह समकालीनता एक प्रकार का सनातनत्व भी लिये है। पुराणों से ली गई कथाओं के भाव के रूप ग्रहण की चेष्टा, जो शुद्ध वर्तमान में होती है सत्य के रूप ग्रहण करने के क्रम में रूपक का अर्थ ले लेती है। 'जनमेजय के नागयज्ञ' में जिसे मैं नाटकीयता की दृष्टि से काफी अर्थगर्भ और महत्त्वपूर्ण नाटक मानता हूँ, में यह रूपकत्व देवासुर संग्राम के अन्तर्निहित रूपकत्व जैसा ही अर्थवान है। यह रूपकत्व उनके सभी नाटकों के इतिहास की घटना के अर्थ को वर्तमान में अन्तरित करने या संकेतिक करने के कारण विद्यमान है वैसे रूपक तो यह है ही।

प्रसाद इतिहास और वर्तमान का प्रयोग 'पितृच्छाया' (दे. जायसी–साही) अलंकार की तरह करते हैं। जैसे अपने सामने रखे हुए दो दर्पण हों लगभग। जायसी के पद्‌मावत की तरह, जिसका प्रसाद बहुत सम्मान के साथ गाला के प्रसंग में उल्लेख करते हैं और यह प्रसाद की इतिहास दृष्टि को विशेषकर

ऐतिहासिक नाटकों के लोक और अलोक, इतिहास और स्वप्नलोक के समान ही रचते हैं। अलाउद्दीन के द्वारा राख के हाथ में उठाने का उल्लेख वे 'संकेत' के रूप में करते हैं।

जयशंकर प्रसाद की इस गहरी चिन्तनशीला ने हिन्दी नाटकों को पहली बार बौद्धिक, अर्थवत्ता प्रदान की। उनके नाटकों की भूमिकाएँ जहाँ एक ओर उनकी अनुसंधान परक तथ्यान्वेषी दृष्टि का संकेत करती हैं वहीं इतिहास को एक अंगरखा भी संधान परक तथ्यान्वेषों दृष्टि का संकेत करती हैं वहीं इतिहास को एक अंगरखा भी पहनाती है। यद्यपि जयशंकर प्रसाद जी ने स्कंदगुप्त की भूमिका में लिखा है कि ''पात्रों की ऐतिहासिकता के विरुद्ध चरित्र की सृष्टि, जहाँ तक सम्भव हो सका। नहीं होने दी गई है। फिर भी कल्पना का अवलम्ब लेना ही पड़ा है केवल घटना की परम्परा ठीक करने के लिए।'' उन्होंने भूमिकाओं में अनेक स्रोतों के द्वारा अपने समकालीन सामाजिक राजनैतिक यथार्थ का समरूपी खोजने का संभव प्रयत्न किया। पराधीनता और पराधीनता से मुक्ति के ही समरूपी न केवल अतीत में खोजे गए बल्कि सांस्कृतिक पराधीनता के अनेक कारणों के भी समरूपी और समस्थानिकों की पहचान करके उन्हें वर्तमान के लिये, आँखें खोलने वाले, 'शक्ति संचारक के रूप में प्रस्तुत किया गया। चन्द्रगुप्त की भूमिका, जो चन्द्रगुप्त नाटक की तरह, जैसा की प्रो.रामस्वरूप चतुर्वेदी ने उल्लेख किया है कई बार लिखी गयी है, इस संदर्भ में अधिक महत्त्वपूर्ण है। प्रायश्चित, विशाख, जनमेजय का नागयज्ञ, आदि नाटकों के परिचय और प्राक्कथनों का इस दृष्टि से भी विशेष महत्त्व है। धार्मिक मतवाद, जाति उपजातियों के झगड़े, सांप्रदायिक समस्यायें, धर्मोन्माद, देश के छोटे-छोटे टुकड़ों में विभाजन की प्रवृत्तियों के बहुपक्षीय समाधान नाटकों में खोजने का प्रयत्न उनकी विशेषता है।

अपने समय को परिभाषित करने के क्रम में अपने अतीत के प्राणतत्त्व को आत्मसात करते चलना उनका स्वभाव था। विचार, भाषा, शिल्प, यथार्थवाद को आत्मसात करते चलना उनका मानवीय चेतना, दार्शनिकता, रंगमंचीयता आदि की दृष्टि से वे सतत जागरूक रचनाकार हैं। उर्वशी चम्पू से लेकर ध्रुस्वामिनी तक की यात्रा नाटक की दृष्टि से अनवरत विकास और सतत जागरूकता की यात्रा है। 1909 ई. में प्रकाशित उर्वशी चम्पू को उन्होंने 'बाल्य रचना' मानते हुए पद्य के ब्रज भाषा में होने पर प्रकारान्तर से एक हिचक और कमी का अनुभव किया है। रचना में भी प्रेमतत्त्व का सम्प्रेषण है। कुछ कल्पित प्रसंगों के अलावा चम्पू

में वैचारिकता और समकालीनता का अभाव है नाटकीयता के तत्त्व भी कम हैं। सज्जन पाँच दृश्यों का नाट्य प्रयत्न है, जिसमें संस्कृत और पारसी थियेटर की नाट्य रूढ़ियों का प्रयोग किया गया है।

प्रारम्भ नान्दा पाठ नट का प्रयोग, भरत वाक्य और पारसी थियेटर की तरह से गानेवालियों का प्रथम दृश्य में उपयोग तथा गीतों का संगीतात्मक प्रयोग मिलता है। पंचम दृश्य में द्रोपदी युधिष्ठिर के काव्यात्मक संवाद केशव की याद दिलाते हैं, नाटक के प्रारम्भ और अन्त दोनों में सत्कविता और सज्जनता के सम्बन्धों को रेखांकित किया गया है। युधिष्ठिर की धर्मनिष्ठा और सज्जनता को एक मूल्य के रूप में प्रस्तुत करना लेखक का लक्ष्य रहा है। 'कल्याणी परिणय' 1912 ई. में नागरी प्रचारिणी पत्रिका में प्रकाशित हुआ था बाद में 1931 में कुछ संशोधनों के साथ चन्द्रगुप्त में समायोजित कर लिया गया। इस नाटक में पहली बार पहले दृश्य में ही 'चाणक्य अन्धकार हट रहा जगत जागृत हुआ' के द्वारा प्रकृति और जागरण दोनों का संकेत किया गया है। गीत साभिप्राय प्रयुक्त है। चाणक्य का स्मरण भी भारत के गौरवमय अतीत का स्मरण है, जिसमें क्या से क्या हो गया की ध्वनि है।

इतना था सौहार्द सभी हम एक थे।
एक अकेले हमीं रहे, न अनेक थे॥
करुणा का था राज्य, प्रेम ही धर्म था
युद्धानन्द विनोद एक ही कर्म था
न था किसी में मोह, कभी न विवाद था
मिलता अविरत स्वच्छ सुधा का स्वाद था
भीत शीत की भी न मार्ग की मन्त्रणा
यह कुचक्र मय चाल न थी, न कुमन्त्रणा

प्रसाद ने इसी नाटक में कार्नेलिया–एक विदेशी महिला–के मुख से 'भारत भूमि की प्रशंसा करवाई है। 'चन्द्रगुप्त' में यह अधिक सर्जनात्मक और आत्मीयता युक्त है। इसमें प्रयुक्त यह वाक्य कि भारत की पवित्र भूमि केवल हत्या, लूट, रक्त और युद्ध से वीभत्स बनायी जा रही है। वाह कैसा सुन्दर देश है। मुझे इस भूमि से जन्म भूमि सा प्रेम होता जा रहा है'' स्वदेशानुराग की वृद्धि की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है नाटक में चरित्रांकन व्यक्तित्त्व के अनुकूल नहीं है। प्रायश्चित जो 1914 में इन्दु में प्रकाशित हुआ था एक दृष्टि से जयशंकर प्रसाद के प्रारम्भिक रुझानों से भी प्रायश्चित है। यह नाटक प्रसाद जी का जिसमें राष्ट्र प्रेम को मूल्य

मानकर देशद्रोह का प्रायश्चित आत्मवध माना गया है। इसमें भावना का एकांगीपन अधिक है, नाटक में उस प्रकार की बौद्धिकता नहीं है। जैसे स्कन्धगुप्त, चन्द्रगुप्त आदि में मिलता है। चरित्रों में अन्तर्द्वन्द्व और आत्मसंघर्ष की शुरुआत अवश्य है। पात्र भी अधिक नहीं है यद्यपि कि क्रिया व्यापार और वस्तु विन्यास बिखरा हुआ है। कुल छः दृश्यों का नाटक है।

प्रायश्चित में प्रारम्भ में दो विद्या धारियाँ आती हैं जो लगभग पारसी थियेटर की शैली में नाटक के कार्य व्यापार की सूचना देने के साथ ही साथ हिन्दू साम्राज्य के सूर्य के अस्त होने और आर्य साम्राज्य के नाश के कारणों का उल्लखे करती हुई यह भी कहती हैं कि क्या यह किसी नीच भारतवासी का कार्य है।' नाटक के प्रारंभ के इस संवाद का निम्नलिखित अंश महत्त्वपूर्ण है जो एक प्रकार से नाटक का संदेश भरी है। प्रतिहिंसा का प्रसाद बाद के नाटकों में अच्छा नहीं मानते हैं, परन्तु अहिंसा को वे गुलामी का कारण अवश्य मानते हैं। उनके उपन्यासों और प्रारम्भिक काव्यों से भी ऐसे तरुण संघों के समर्थन का भाव मिलता है जो देश को राजनैतिक और सांस्कृतिक दृष्टि से सम्पन्न करना चाहते हैं स्कन्दगुप्त, चाणक्य और चन्द्रगुप्त में ही नहीं कंकाल तितली और इरावती में भी इसके प्रयत्न है।

पं. सखी ! हिंसा कैसी बुरी वस्तु है। देख इसने कैसा भयंकर कार्य किया।''

दू.सीधी। इस रही सही 'प्रतिहिंसा' को भी भारतवासियों के लिये ईश्वर की दया समझ। जिस दिन इसका लोप होगा उस दिन से तो इनके भाग्य में दासत्य करना लिखा है।''

प्रसाद-युगीन समीक्षा

भारतेन्दुकाल में खेले जाने वाले नाटकों का कथ्य प्रायः पौराणिक सामाजिक विषयों से सम्बद्ध था परन्तु कई स्थानों पर राजनीतिक समस्याओं की ओर भी संकेत कर दिया जाता था जैसे "सीता स्वयंवर" नाटक में ब्रिटिश कूटनीति के समान कठोर शिवधनुष को टस से मस नहीं किया जा सकता" कहा गया। इस प्रकार संवादों के माध्यम से ही जन-जागृति उत्पन्न करने का उपक्रम किया जाता था। ऐसे आयोजन कहीं-कहीं प्रतिबन्धित भी कर दिये जाते थे। इस प्रकार इस युग में राजनैतिक संकेत प्रतीकात्मक रूप में प्रेषित किए जाने लगे।

सार्वजनिक स्थल पर मंच-निर्माण, घरों में नाट्य प्रदर्शन, नाट्य पुनरावृत्ति, पूर्वाभ्यास, भडकीली पोशाकें, ट्रान्सफर सीन, दर्शक श्रेणियाँ, कुलीन वर्ग आदि का कला प्रेम, आमंत्रण पत्रों का चलन, चमत्कार प्रयोग आदि के संकेत मिलते हैं। द्विवेदीयुगीन अभिनय कला आदि अतिनाटकीयता से प्रेरित कही गई है, परन्तु इन सबसे बड़ी बात तो यह है कि इस युग में रंगमंचीय समीक्षाओं का भी प्रचलन हो चुका था।

समीक्षाओं का रूप कैसा था, यह बतलाना कठिन है। 1920-1930 तक साहित्यिक नाटकों के साथ-साथ पारसी रंगमंचीय नाटकों की धारा चलती रही थी। सभी नाटकों में अतिनाटकीयता प्रसंगों, दैवीशक्ति, कौतुहल चमत्कार, शोखी और छेड़छाड़ प्रेम सम्बन्धी सस्ते गाने, रोमांचकारी घटनाओं, कुरुचिपूर्ण हास्य आदि की प्रधानता थी। इन व्यावसायिक रंगमंचीय नाटकों ने जनरुचि को इतना विकृत कर दिया कि आधुनिक काल में भी नाटककारों को साहित्यिक नाटकों के अनुसार, गीत, गजल का प्रयोग अनिवार्य करना पडा। इसलिए जयशंकर प्रसाद पर भी रचनागत शिथिलता, अराजकता, बहुउद्देशीयता, घटना प्रधानता का दोषारोपण किया गया है, परन्तु ऐसा लगता है कि उस युग में कुछ लेखकों ने कटु आलोचना करना ही अपना ध्येय बना लिया था। चाहे वे सही हो या गलत लेकिन आलोचक को अध्येता होने के साथ-साथ प्रस्तुति के काल, पात्र और वस्तुस्थिति से भी पूर्ण परिचित होना चाहिए अन्यथा किसी के दोषी ठहराने के पूर्वाग्रह के आक्षेप से वह स्वयं को बचा नहीं सकेगा क्योंकि समीक्षा के दौरान कभी-कभी भारी भूलें रह जाती हैं। इसी परिप्रेक्ष्य में यदि हम प्रसाद जी की इस उक्ति की ओर ध्यान दें - "मैंने उन कम्पनियों के लिए नाटक नहीं लिखे हैं जो चार चलते अभिनेताओं को एकत्र कर कुछ पैसा जुटाकर चार पर्दे मँगनी माँग लेती हैं और दुअन्नी-अठन्नी के टिकिट पर फेरीवालो, खोमचेवालो और दुकानदारों को बटोर कर जगह-जगह प्रहसन करती फिरती हैं। उत्तर रामचरित, शकुन्तला और मुद्राराक्षस कभी न ऐसे अभिनेताओं द्वारा अभिनीत हो सकते हैं और न जन साधारण में वे रसोद्रेक का कारण बन सकते हैं।" तो प्रसाद जी पर किया गया दोषारोपण विद्वजनों के प्रति ईर्ष्या का द्योतक लगने लगता है।

प्रसाद काल में कुछ नए रूप सामने आए वे हैं - नेपथ्य में गान, कोलाहल और रणवाद्य आदि। बहुत कम अवसर ऐसे होते हैं जब लेखक स्वयं पूर्वाभ्यास के समय कलाकारों के मध्य बैठकर अपनी लिखित भावधारा के मूर्त रूप का रसास्वादन करता है और उसमें कहीं अर्थ का अनर्थ हो रहा हो तो सुधार भी

करवा देता है। काशी में प्रसाद जी पूर्वाभ्यास के समय कलाकारों के मध्य बैठा करते थे।

समीक्षाएँ नाटक क्षेत्र में एक महत्त्वपूर्ण कार्य करती हैं - वे नाट्य जगत् की अथवा साहित्य के विविध विधाओं की प्रस्तुति का बोध कराती हैं, जिससे कला का और विकास होता है और युग का बोध। प्रसाद युग में समीक्षात्मक माध्यम का पूर्ण अभाव प्रतीत होता है यही कारण है कि रंगमंच की दृष्टि से इस युग को मात्र एक कड़ी समझा गया है, यद्यपि समीक्षाओं का अपेक्षाकृत रूप तात्कालिक 'जागरण', 'इन्दु', 'सरस्वती', 'माधुरी', 'प्रभा', 'आज' आदि पत्र-पत्रिकाओं में द्रष्टव्य बतलाया गया है पर यह सब अप्राप्य होने के कारण ही इस युग के समीक्षात्मक रूप को उभारने में असमर्थता प्रतीत होती है। इस प्रकार हम देखते हैं कि समीक्षा का आदिकाल कुछ बिखरे-बिखरे सूत्रों में दिखाई देता है।

जयशंकर प्रसाद की साहित्य दृष्टि

जयशंकर प्रसाद हिन्दी कवि, नाटकार, कथाकार, उपन्यासकार तथा निबन्धकार थे। वे हिन्दी के छायावादी युग के चार प्रमुख स्तंभों में से एक हैं। उन्होंने हिन्दी काव्य में छायावाद की स्थापना की जिसके द्वारा खड़ी बोली के काव्य में कमनीय माधुर्य की रससिद्ध धारा प्रवाहित हुई और वह काव्य की सिद्ध भाषा बन गई।

आधुनिक हिन्दी साहित्य के इतिहास में इनके कृतित्त्व का गौरव अक्षुण्ण है। वे एक युगप्रवर्तक लेखक थे जिन्होंने एक ही साथ कविता, नाटक, कहानी और उपन्यास के क्षेत्र में हिन्दी को गौरव करने लायक कृतियाँ दीं। कवि के रूप में वे निराला, पन्त, महादेवी के साथ छायावाद के चौथे स्तंभ के रूप में प्रतिष्ठित हुए है, नाटक लेखन में भारतेंदु के बाद वे एक अलग धारा बहाने वाले युगप्रवर्तक नाटककार रहे जिनके नाटक आज भी पाठक चाव से पढते हैं। इसके अलावा कहानी और उपन्यास के क्षेत्र में भी उन्होंने कई यादगार कृतियाँ दीं। विविध रचनाओं के माध्यम से मानवीय करूणा और भारतीय मनीषा के अनेकानेक गौरवपूर्ण पक्षों का उद्घाटन, 48 वर्षो के छोटे से जीवन में कविता, कहानी, नाटक, उपन्यास और आलोचनात्मक निबंध आदि विभिन्न विधाओं में रचनाएं कीं।

उन्हें 'कामायनी' पर मंगलाप्रसाद पारितोषिक प्राप्त हुआ था। उन्होंने जीवन में कभी साहित्य को अर्जन का माध्यम नहीं बनाया, अपितु वे साधना समझकर ही साहित्य की रचना करते रहे। कुल मिलाकर ऐसी विविध प्रतिभा का साहित्यकार हिन्दी में कम ही मिलेगा जिसने साहित्य के सभी अंगों को अपनी कृतियों से समृद्ध किया हो।

प्रसाद जी का जन्म माघ शुक्ल 10, संवत् 1946 वि. (तदनुसार 30जनवरी 1890ई. दिन-गुरुवार) को काशी के सरायगोवर्धन में हुआ। इनके पितामह बाबू शिवरतन साहू दान देने में प्रसिद्ध थे और इनके पिता बाबू देवीप्रसाद जी कलाकारों का आदर करने के लिये विख्यात थे। इनका काशी में बड़ा सम्मान था और काशी की जनता काशीनरेश के बाद 'हर हर महादेव' से बाबू देवीप्रसाद का ही स्वागत करती थी। किशोरावस्था के पूर्व ही माता और बड़े भाई का देहावसान हो जाने के कारण 17 वर्ष की उम्र में ही प्रसाद जी पर आपदाओं का पहाड़ टूट पड़ा। कच्ची गृहस्थी, घर में सहारे के रूप में केवल विधवा भाभी, कुटुंबियों, परिवार से संबद्ध अन्य लोगों का संपत्ति हड़पने का षड्‌यंत्र, इन सबका सामना उन्होंने धीरता और गंभीरता के साथ किया। प्रसाद जी की प्रारंभिक शिक्षा काशी में क्वींस कालेज में हुई, किंतु बाद में घर पर इनकी शिक्षा का व्यापक प्रबंध किया गया, जहाँ संस्कृत, हिन्दी, उर्दू, तथा फारसी का अध्ययन इन्होंने किया। दीनबंधु ब्रह्मचारी जैसे विद्वान् इनके संस्कृत के अध्यापक थे। इनके गुरुओं में 'रसमय सिद्ध' की भी चर्चा की जाती है।

घर के वातावरण के कारण साहित्य और कला के प्रति उनमें प्रारंभ से ही रुचि थी और कहा जाता है कि नौ वर्ष की उम्र में ही उन्होंने 'कलाधर' के नाम से ब्रजभाषा में एक सवैया लिखकर 'रसमय सिद्ध' को दिखाया था। उन्होंने वेद, इतिहास, पुराण तथा साहित्य शास्त्र का अत्यंत गंभीर अध्ययन किया था। वे बाग-बगीचे तथा भोजन बनाने के शौकीन थे और शतरंज के खिलाड़ी भी थे। वे नियमित व्यायाम करने वाले, सात्विक खान पान एवं गंभीर प्रकृति के व्यक्ति थे। वे नागरीप्रचारिणी सभा के उपाध्यक्ष भी थे। क्षय रोग से नवम्बर 15, 1937 (दिन-सोमवार) को प्रातःकाल (उम्र 48) उनका देहांत काशी में हुआ।

प्रसाद जी के जीवनकाल में ऐसे साहित्यकार काशी में वर्तमान थे जिन्होंने अपनी कृतियों द्वारा हिन्दी साहित्य की श्रीवृद्धि की। उनके बीच रहकर प्रसाद ने भी अनन्य गौरवशाली साहित्य की सृष्टि की। कविता, कहानी, उपन्यास, नाटक ओर निबंध, साहित्य की प्रायः सभी विधाओं में उन्होंने ऐतिहासिक महत्व

की रचनाएँ कीं तथा खड़ी बोली की श्रीसंपदा को महान् और मौलिक दान से समृद्ध किया।

प्रसाद ने काव्यरचना ब्रजभाषा में आरंभ की और धीर-धीरे खड़ी बोली को अपनाते हुए इस भाँति अग्रसर हुए कि खड़ी बोली के मूर्धन्य कवियों में उनकी गणना की जाने लगी और वे युगवर्तक कवि के रूप में प्रतिष्ठित हुए।

उनकी काव्य रचनाएँ दो वर्गो में विभक्त है : काव्यपथ अनुसंधान की रचनाएँ और रससिद्ध रचनाएँ। आँसू, लहर तथा कामायनी दूसरे वर्ग की रचनाएँ हैं। इस समस्त रचनाओं की विशेषताओं का आकलन करने पर हिन्दी काव्य को प्रसाद जी की निम्नांकित देन मानी जा सकती है।

उन्होंने हिन्दी काव्य में छायावाद की स्थापना की, जिसके द्वारा खड़ी बोली के काव्य में कमनीय माधुर्य की रससिद्ध धारा प्रवाहित हुई और वह काव्य की सिद्ध भाषा बन गई। उनकी सर्वप्रथम छायावादी रचना 'खोलो द्वार' 1914 ई. में इंदु में प्रकाशित हुई। वे छायावाद के प्रतिष्ठापक ही नहीं अपितु छायावादी पद्धति पर सरस संगीतमय गीतों के लिखनेवाले श्रेष्ठ कवि भी हैं। उन्होंने हिन्दी में'करुणालय' द्वारा गीत नाट्य का भी आरंभ किया। उन्होंने भिन्न तुकांत काव्य लिखने के लिये मौलिक छंदचयन किया और अनेक छंद का संभवत: उन्होंने सबसे पहले प्रयोग किया। उन्होंने नाटकीय ढंग पर काव्य-कथा-शैली का मनोवैज्ञानिक पथ पर विकास किया। साथ ही कहानी कला की नई टेकनीक का संयोग काव्यकथा से कराया। प्रगीतों की ओर विशेष रूप से उन्होंने गद्य साहित्य को संपुष्ट किया और नीरस इतिवृत्तात्मक काव्यपद्धति को भावपद्धति के सिंहासन पर स्थापित किया।

काव्यक्षेत्र में प्रसाद की कीर्ति का मूलाधार 'कामायनी' है। खड़ी बोली का यह अद्वितीय महाकव्य मनु और श्रद्धा को आधार बनाकर रचित मानवता को विजयिनी बनाने का संदेश देता है। यह रूपक कथाकाव्य भी है, जिसमें मन, श्रद्धा और इड़ा (बुद्धि) के योग से अखंड आनंद की उपलब्धि का रूपक प्रत्यभिज्ञा दर्शन के आधार पर संयोजित किया गया है। उनकी यह कृति छायावाद ओर खड़ी बोली की काव्यगरिमा का ज्वलंत उदाहरण है। सुमित्रानंदन पंत इसे 'हिन्दी में ताजमहल के समान' मानते हैं। शिल्पविधि, भाषासौष्ठव एवं भावाभिव्यक्ति की दृष्टि से इसकी तुलना खड़ी बोली के किसी भी काव्य से नहीं की जा सकती है।

कथा के क्षेत्र में प्रसाद जी आधुनिक ढंग की कहानियों के आरंभयिता माने जाते हैं। सन् 1912 ई. में 'इंदु' में उनकी पहली कहानी 'ग्राम' प्रकाशित हुई। प्राय: तभी से गतिपूर्वक आधुनिक कहानियों की रचना हिन्दी में आरंभ हुई। प्रसाद जी ने कुल 72 कहानियाँ लिखी हैं। उनकी अधिकतर कहानियों में भावना की प्रधानता है किंतु उन्होंने यथार्थ की दृष्टि से भी कुछ श्रेष्ठ कहानियाँ लिखी हैं। उनकी वातावरणप्रधान कहानियाँ अत्यंत सफल हुई हैं। उन्होंने ऐतिहासिक, प्रागैतिहासिक एवं पौराणिक कथानकों पर मौलिक एवं कलात्मक कहानियाँ लिखी हैं। भावना-प्रधान प्रेमकथाएँ, समस्यामूलक कहानियाँ लिखी हैं। भावना प्रधान प्रेमकथाएँ, समस्यामूलक कहानियाँ, रहस्यवादी, प्रतीकात्मक और आदर्शोन्मुख यथार्थवादी उत्तम कहानियाँ, भी उन्होंने लिखी हैं। ये कहानियाँ भावनाओं की मिठास तथा कवित्व से पूर्ण हैं।

प्रसाद जी भारत के उन्नत अतीत का जीवित वातावरण प्रस्तुत करने में सिद्धहस्त थे। उनकी कितनी ही कहानियाँ ऐसी हैं, जिनमें आदि से अंत तक भारतीय संस्कृति एवं आदर्शो की रक्षा का सफल प्रयास किया गया है। उनकी कुछ श्रेष्ठ कहानियों के नाम हैं : आकाशदीप, गुंडा, पुरस्कार, सालवती, स्वर्ग के खंडहर में आँधी, इंद्रजाल, छोटा जादूगर, बिसाती, मधुआ, विरामचिह्न, समुद्रसंतरण। अपनी कहानियों में जिन अमर चरित्रों की उन्होंने सृष्टि की है, उनमें से कुछ हैं चंपा, मधुलिका, लैला, इरावती, सालवती और मधुआ का शराबी, गुंडा का नन्हकूसिंह और घीसू जो अपने अमिट प्रभाव छोड़ जाते हैं।

प्रसाद ने तीन उपन्यास लिखे हैं। 'कंकाल', में नागरिक सभ्यता का अंतर यथार्थ उद्‌घाटित किया गया है। 'तितली' में ग्रामीण जीवन के सुधार के संकेत हैं। प्रथम यथार्थवादी उपन्यास हैं, दूसरे में आदर्शोन्मुख यथार्थ है। इन उपन्यासों के द्वारा प्रसाद जी हिन्दी में यथार्थवादी उपन्यास लेखन के क्षेत्र में अपनी गरिमा स्थापित करते हैं। इरावती ऐतिहासिक पृष्ठभूमि पर लिखा गया इनका अधूरा उपन्यास है जो रोमांस के कारण ऐतिहासिक रोमांस के उपन्यासों में विशेष आदर का पात्र है। इन्होंने अपने उपन्यासों में ग्राम, नगर, प्रकृति और जीवन का मार्मिक चित्रण किया है जो भावुकता और कवित्व से पूर्ण होते हुए भी प्रौढ़ लोगों की शैल्पिक जिज्ञासा का समाधान करता है।

प्रसाद ने आठ ऐतिहासिक, तीन पौराणिक और दो भावात्मक, कुल 13 नाटकों की सर्जना की। 'कामना' और 'एक घूँट' को छोड़कर ये नाटक मूलत: इतिहास पर आधृत हैं। इनमें महाभारत से लेकर हर्ष के समय तक के इतिहास

से सामग्री ली गई है। वे हिन्दी के सर्वश्रेष्ठ नाटककार हैं। उनके नाटकों में सांस्कृतिक और राष्ट्रीय चेतना इतिहास की भित्ति पर संस्थित है।

जयशंकर प्रसाद ने अपने दौर के पारसी रंगमंच की परंपरा को अस्वीकारते हुए भारत के गौरवमय अतीत के अनमोल चरित्रों को सामने लाते हुए अविस्मरणीय नाटकों की रचना की। उनके नाटक स्कंदगुप्त, चंद्रगुप्त आदि में स्वर्णिम अतीत को सामने रखकर मानों एक सोये हुए देश को जागने की प्रेरणा दी जा रही थी। उनके नाटकों में देशप्रेम का स्वर अत्यंत दर्शनीय है और इन नाटकों में कई अत्यंत सुंदर और प्रसिद्ध गीत मिलते हैं। 'हिमाद्रि तुंग शृंग से','अरुण यह मधुमय देश हमारा' जैसे उनके नाटकों के गीत सुप्रसिद्ध रहे हैं।

इनके नाटकों पर अभिनेय न होने का आरोप है। आक्षेप लगता रहा है कि वे रंगमंच के हिसाब से नहीं लिखे गए है, जिसका कारण यह बताया जाता है कि इनमे काव्यतत्त्व की प्रधानता, स्वगत कथनों का विस्तार, गायन का बीच बीच में प्रयोग तथा दृश्यों का त्रुटिपूर्ण संयोजन है। किंतु उनके अनेक नाटक सफलतापूर्वक अभिनीत हो चुके हैं। उनके नाटकों में प्राचीन वस्तुविन्यास और रसवादी भारतीय परंपरा तो है ही, साथ ही पारसी नाटक कंपनियों, बँगला तथा भारतेंदुयुगीन नाटकों एवं शेक्सपियर की नाटकीय शिल्पविधि के योग से उन्होंने नवीन मार्ग ग्रहण किया है। उनके नाटकों के आरंभ और अंत में उनका अपना मौलिक शिल्प है जो अत्यंत कलात्मक है। उनके नायक और प्रतिनायक दोनों चारित्रिक दृष्टि के गठन से अपनी विशेषता से मंडित हैं। इनकी नायिकाएँ भी नारीसुलभ गुणों से, प्रेम, त्याग, उत्सर्ग, भावुक उदारता से पूर्ण हैं। उन्होंने अपने नाटकों में जहाँ राजा, आचार्य, सैनिक, वीर और कूटनीतिज्ञ का चित्रण किया है वहीं ओजस्वी, महिमाशाली स्त्रियों और विलासिनी, वासनामयी तथा उग्र नायिकाओं का भी चित्रण किया है। चरित्रचित्रण उनके अत्यंत सफल हैं। चरित्रचित्रण की दृष्टि से उन्होंने नाटकों में राजश्री एवं चाणक्य को अमर कर दिया है। नाटकों में इतिहास के आधार पर वर्तमान समस्याओं के समाधान का मार्ग प्रस्तुत करते हुए वे मिलते हैं। किंतु गंभीर चिंतन के साथ स्वच्छंद काव्यात्मक दृष्टि उनके समाधान के मूल में है। कथोपकथन स्वाभाविक है किंतु उनकी भाषा संस्कृतगर्भित है। नाटकों में दार्शनिक गंभीतरता का बाहुल्य है पर वह गद्यात्मक न होकर सरस है। उन्होंने कुछ नाटकों में स्वगत का भी प्रयोग किया है किंतु ऐसे नाटक केवल चार हैं। भारतीय नाट्य परंपरा में विश्वास करने के कारण उन्होंने नाट्यरूपक'कामना' के रूप में प्रस्तुत किया। ये नाटक प्रभाव

की एकता लाने में पूर्ण सफल हैं। अपनी कुछ त्रुटियों के बावजूद प्रसाद जी नाटककार के रूप में हिन्दी में अप्रतिम हैं।

भारतेन्दु के उपरांत जयशंकर प्रसाद की प्रतिभा ने साहित्य के अनेक क्षेत्रों को एक साथ स्पर्श किया है। करूण मधुर गीत, अतुकान्त रचनाएं, मुक्त छंद, खंडकाव्य सभी उनके काव्य के बहुमुखी प्रसाद के अंतर्गत है। लघुकथा के वैचित्र्य से लंबी कहानियों की विविधता तक उनका कथा साहित्य फैला है। नागरिक यथार्थ पर आधारित उपन्यास 'कंकाल' से लेकर भावात्मक ग्रामीणता पर आधारित उपन्यास 'तितली' तक उनकी औपन्यासिक प्रतिभा का विस्तार है। एंकाकी, प्रतीक रूपक, गीतिनाट्य ऐतिहासिक नाटक आदि में उन्होंने नाटकीय स्थिति का संचयन किया है। उनका निबंध साहित्य किसी भी गंभीर दार्शनिक चिन्तन को गौरव देने में समर्थ है।

महादेवी वर्मा ने 'पथ के साथी' में जयशंकर प्रसाद के संबंध में लिखा है कि ''बुद्धि के आधिक्य से पीड़ित हमारे युग को, प्रसाद का सबसे महत्वपूर्ण दान 'कामायनी' है।"

'कामायनी' जैसे महाकाव्य के रचियता जयशंकर प्रसाद की रचनाओं में अंतर्द्वंद्व का जो रूप दिखाई देता है वह प्रसादजी के लेखनी का मौलिक गुण है। अंतर्द्वंद्व को आपके अन्य काव्यों यथा 'प्रेमपथिक, 'काननकुसुम', 'चित्राधार', 'झरना', 'आंसू', 'करूणालय', 'महाराणा का महत्व' एवं 'लहर' में भी दृष्टिगोचर होता है। आपके नाटकों यथा 'चंद्रगुप्त', ध्रुवस्वामिनी', 'राज्यश्री', 'प्रायश्चित', 'सज्जन', 'कल्याणी परिणय', विशाख', 'कामना', 'स्कंदगुप्त', 'एक घूंट', 'जनमेजय का नागयज्ञ' तथा कहानियों का संकलन यथा 'छाया', 'प्रतिध्वनी', 'इंद्रजाल', 'आंधी', 'आकाशद्वीप' में भी अंतर्द्वंद्व गहन संवेदना के स्तर पर उपस्थित है। आपके उपन्यास यथा' कंकाल, तितली व अधूरी इरावती में भी अंतर्द्वंद्व की स्पष्ट रेखा इंगित होती है। 'चंद्रगुप्त के आरंभिक दृश्य में अलका सिंहरण से कहती है, ''देखती हूँ कि प्रायः मनुष्य दूसरों को अपने मार्ग पर चलाने के लिए रूक जाता है और अपना चलना बंद कर देता है।'' सूत्र शैली में कहा गया यह वाक्य एक बड़े अंतविरोध को अपने में समाहित किए हुए है और इस द्वंद्व प्रक्रिया में अर्थ की अनेक परतें उघारता है। प्रसादजी का सर्जनात्मक गद्य यहां अपने पूरे वैभव पर है।

जयशंकर प्रसाद की अधिकांश रचनाएं कल्पना तथा इतिहास के सुंदर समन्वय पर आधारित है तथा प्रत्येक काल में यथार्थ को गहरे स्तर पर संवेदना

की भावभूमि पर प्रस्तुत करती है। आपकी रचनाओं में शिल्प के स्तर पर भी मौलिकता दृष्टिगोचर होती है, जिसके भाषा की संस्कृतनिष्ठता तथा प्रांजलता विशिष्ठ गुण है। आपकी अनुभूति और चिंतन के दर्शन आपके चित्रात्मक वस्तु-विवरण से संपृक्त रचनाओं में भली भांति होता है। जयशंकर प्रसाद हिन्दी साहित्य की सभी महत्वपूर्ण विद्याओं में रचनाओं का सृजन किया जो उनकी प्रखर सृजनशीलता का प्रभाव है एवं हिन्दी साहित्य की अमूल्य थाती है। हिन्दी साहित्य में छायावाद के आधार स्तंभ रहे प्रसादजी साहित्याकाश में अनवरत चमकने वाले नक्षत्र माने जाते है। महादेवी वर्मा ने ठीक ही कहा है कि ''छायावाद युग में भाव में जिस ज्वार ने जीवन को सब ओर से प्लावित कर दिया था उसके तट और गन्तव्य के संबंध में जिज्ञासा स्वाभाविक थी और इस जिज्ञासा का उत्तर कामायनी ने दिया। प्रसाद को आनंदवादी कहने की भी एक परम्परा बनती जा रही है पर कोई महान कवि विशुद्ध आनन्दवादी दर्शन नहीं स्वीकार करता क्योंकि अधिक और अधिक सामाणजस्य की पूकार ही उसके सृजन की प्रेरणा है और वह निरंतर असंतोष का दूसरा नाम है। 'आनंद अंखड़ घना था' विश्व जीवन का चरम लक्ष्य हो सकता है परंतु उसे चरम सिद्ध तक पहुंचाने के लिए कवि को तो निरन्तर साधक ही बना रहना पड़ता है। सितार यदि समरसता पा ले तो फिर झंकार के जन्म का प्रश्न ही नहीं उठता क्योंकि वह तो हर चोट के उत्तर में उठती है और सम विषम स्वरों को एक विशेष क्रम में रखकर दूसरों के निकट संगीत बना देती है। यदि आघात या आघात का अभाव दोनों एक मौन या एक स्वर बन गए है तब फिर संगीत का सृजन और लय संभव नहीं। प्रसाद का जीवन, बौद्ध विचारधारा की ओर उनका झुकाव, चरम त्याग, बलिदान वाले करूण कोमल पात्रों की सृष्टि उनके साहित्य में बार-बार अनुगुंजित करूणा का स्वर आदि प्रमाणित करेंगे कि उनके जीवन के तार इतने सधे और खिंचे हुए थे कि हल्की सी कंपन भी उनमें अपनी प्रतिध्वनि पा लेती थी।''

जयशंकर प्रसाद की प्रारंभिक शिक्षा घर पर ही हुई, बाद में वाराणसी के क्वीन्स इंटर कॉलेज में अध्ययन किया, परंतु इनका विपुल ज्ञान इनकी स्वाध्याय की प्रवृति से हासिल हुई तथा अपने अध्यवसायी गुण के कारण छायावाद के महत्वपूर्ण स्तंभ बने एवं हिन्दी साहित्य को अपनी रचनाओं के रूप में कई अनमोल रत्न प्रदान किए। सत्रह वर्ष के उम्र में ही अपने माता-पिता एवं बड़े भाई के देहावसान के कारण गृहस्थी का बोझा आपके कंधे पर आ गया। गृह कलह

में खानदानी समृद्धि जाती रही परंतु आभाव में एवं गरीबी क परिस्थितियां आपमें कवि व्यक्तित्त्व को उभारा। नौ वर्ष की उम्र में आपने कलाधर उपनाम से ब्रजभाषा में एक सवैया लिखा था। आरंभिक रचनाएं ब्रजभाषा में लिखी जिसे छोड़कर बाद में हिन्दी में आ गये। जयशंकर प्रसाद के मामा अम्बिका प्रसाद गुप्त द्वारा संपादित 'इन्दु' पत्रिका में आपकी प्रथम रचना प्रकाशित हुई थी। प्रसादजी का पहला संग्रह 'चित्राधार' है तथा 'कानन कुसुम' आपकी खड़ी बोली का प्रथम संस्करण है। 'कानन कुसुम' में प्रसादजी अनुभूति और अभिव्यक्ति की नयी दिशा तलाशने की चेष्टा की है। 'प्रेमपथिक' का ब्रजभाषा स्वरूप सर्वप्रथम 'इन्दु' पत्रिका में छपा जिसे बाद में कवि ने खुद खड़ी बोली में रूपान्तरित किया था। प्रेमपथिक एक भाव मूलक कथा है, जिसके माध्यम से आदर्श प्रेम की व्यंजना की गयी है। 'करूणालय' की रचना गीति नाट्य के आधार पर हुई है। 'महाराणा का महत्व' 1914 ई. में 'इन्दु' पत्रिका में प्रकाशित हुई थी। 'झरना' का प्रथम प्रकाशन 1918 ई. में हुआ था। इसमें आधुनिक काव्य की प्रवृतियां को अधिक उजागर देखा जा सकता है। कवि के व्यक्तित्त्व को पहली बार स्पष्ट रूप से 'झरना' में देखा जा सकता है, जिसमें कवि ने छायावाद को प्रतिष्ठित किया। 'आंसू' प्रसादजी की एक विशिष्ठ रचना है, जिसका प्रथम संस्करण 1925 ई. में छापा गया था। 'आंसू' को एक श्रेष्ठ गीतिकाव्य कहा जाता है, जिसमें कवि की प्रेमानुभूति व्यंजित है। इसका मूल स्वर विषाद का है पर अन्ततः इसमें आशा और विश्वास के स्वर है। 'लहर' प्रसादजी की सर्वोत्तम कविताएं संकलित है। बाल्यावस्था से ही प्रसादजी का संपर्क कलाविदों, कवियों और संगीतज्ञों से रहा, जो आपके कवि प्रतिभा को विकसित होने का प्रचुर वातावरण दिया। कवि समाज में समस्या पूर्तियों से अपनी कविता का आरंभ किया। वेद उपनिषदों के गहन अध्ययन ने प्रसादजी को चिन्तनशील और दार्शनिक बना दिया तथा बौद्ध धर्म का प्रभाव के कारण आपके काव्य में करूणा की भावना का समावेश पाया जाता है। शिव भक्त होने के कारण 'कामायनी' महाकाव्य के रहस्य और आनंद सर्ग शैव दर्शन से पूर्ण रूप से प्रभावित है। प्रसादजी छायावादी काव्य के जनक और पोषक होने के साथ ही आधुनिक काव्यधारा का गौरवमय प्रतिनिधित्व करते है। प्रसादजी का सबसे बड़ा हिन्दी साहित्य को योगदान यह है कि आपने जहां रीतिकालीन को अफीमची श्रृंगारिकता से कविता-कामिनी को निकाला वहीं आपने द्विवेदी युग के इतिवृत्तात्मकता के नीरसता के शुष्क रेगिस्तान में उसके सूखते हुए कंठ को मधुर रस धारा प्रदान किया।

उपन्यास के क्षेत्र में प्रेमचंद के सहयोगी जयशंकर प्रसाद थे। काव्य में जीवन के चरम आदर्श आनंद को रूपायित करने वाले कवि प्रसाद अपने तीन उपन्यासों, दो पूर्ण, 'कंकाल' एवं 'तितली' और एक अपूर्ण 'इरावती' में सामाजिक यथार्थ का चित्रण ही चुनते है और इसके लिए कंकाल और तितली में आपका गद्य-विधान भी कम-बढ़ प्रेमचंद की तरह ही रहता है। अपने अंतिम अधूरे उपन्यास 'इरावती' में अवश्य आप एक भिन्न भाषिक स्तर पर रचना करते है। यहां कथानक शुंगकालीन है और रचना समस्या भी सामाजिक यथार्थ के बीच से लेखक की प्रिय जीवन साधना आनंद की भाव भूमि तक पहुंचने की है तब स्वभावत भाषा का रूप, उनके नाटकों की तरह, तत्सम शब्दावली पर आधारित काव्यात्मक लक्षणा के निकट है। प्रसादजी की इस अंतिम अधूरी रचना में जैसे आपकी कविता, नाटक और उपन्यास तीनों रचना पक्षों का एक विराट समागम हुआ हो और 'इरावती' के अधूरेपन ने तो शायद उसकी कलात्मकता और उन्मुकता को कुछ बढ़ाया ही है। प्रसाद के आधे गाए गान के प्रिय बिंब की तरह। 'इरावती' के गद्य का कुछ अंश उदाहरणार्थ प्रस्तुत है - ''इरावती ने कहा - क्या बिना मुझसे पूछे तुम रह नहीं सकते ? अग्नि ! मैं जीवन-रागिनी में वर्जित स्वर हूँ। मुझे छेड़कर तुम सुखी न हो सकोगे। मुझसे मिल मुझे बचाना चाहते हो। यह तुम्हारी अनुकम्पा है। परंतु मेरे उपर मेरा भी कुछ ऋण है। मैंने भी अपने को इतने दिनों से संसा से सार लेकर, भीख मांग कर, अनुग्रह से अनुरोध से जुटा कर कैसा कुछ खड़ा कर दिया है। उस मूर्ति को क्यों बिगाडूं ? स्त्री के लिए जब देखा कि स्वावलम्ब का उपाय कला के अतिरिक्त दूसरा नहीं, तब उसी का आश्रय लेकर जी रही हूँ । मुझे अपने में जीने दो।''

प्रेमचंद से कुछ अलग, प्रसादजी कहानी गद्य में था। प्रसादजी की ऐतिहासिक कहानियों में वैभवपूर्ण गद्य और सामाजिक कहानियों में निरीह जैसा गद्य, दोनों प्रेमचंद के सम से अलग है, जिनके यहां आरोह-अवरोह का वैविध्य अपेक्षकृत कम है। प्रसादजी के तत्समाग्रही गद्य का प्रवाह देश-काल परिस्थिति के संयोग से बनता है, इतिहास और दर्शन दोनों रूपों में जिसका बड़ा सघन अध्ययन नाटकार ने कर रखा था जैसा कि उनकी नाट्य भूमिकाओं और कुछ स्वतंत्र निबंधों से भी प्रकट होता है। सभी साहित्यों के इतिहास में नाटक का माध्यम अंशत और कभी पूर्णत कविता रही है। समूचे नाटक का लेखन गद्य में स्पष्ट ही बहुत बाद का विकास क्रम है। प्रसादजी का अन्य नाटकों, 'एक घूंट' को छोड़कर, का गद्य लेखन न सिर्फ आपके समकालीनों से बल्कि आपके अपने

अन्य गद्य लेखन से अलग है। प्रसादजी का नाटकों में जनमेजय परीक्षित से लेकर बौद्ध, मौर्य काल होते हुए गुप्त और हर्षबर्धन तक का संसार को देखा जा सकता है परंतु नाटकों के माध्यम से प्रसादजी सिर्फ गड़े मुर्देनही उखाड़ते अपितु अपने कथा संकेतों और चरित्रों के माध्यम से वर्त्तमान से जोड़ते है। इन नाटकों की भाषा अतीत और वर्त्तमान को जोड़ते चलती है और इस क्रम में जातीय-प्रादेशिक-सांप्रदायिक द्वन्द्वों के उपर राष्ट्रीय भाव बोध को स्थापित करती है। इस रूप में प्रसादजी का नाट्य-गद्य हिन्दी साहित्य के लिए एक विलक्षण उपलब्धि है। प्रसादजी के नाटकों की भाषा यदि ग्रहीता के मन में ऐतिहासिकता अंतराल को जन्म देती है तो कथा-भाषा आत्मीयता की अनुभूति उत्पन्न करती है। 'अजातशत्रु', 'स्कंदगुप्त', 'चन्द्रगुप्त' और 'ध्रुवस्वामिनी' में प्रसादजी का बुनियादी नाट्य गद्य इसी प्रकार का है।

आलोचकों द्वारा प्रसादजी की काव्यात्मकता और तत्समाग्रही भाषा को लेकर यह प्रश्न उठाया जाता रहा है कि क्या यह गद्य श्रोता-पाठक के लिए तत्कालिक रूप से संप्रेषणीय है क्योंकि गद्य प्रकार संप्रेषण प्रक्रिया में सर्वाधिक महत्वपूर्ण तत्त्व माना जाता है। आलोचकों के उक्त प्रश्न के उत्तर में यह कहा जा सकता है कि संभव है कि एक लेखक की भाषा सरल हो पर प्रवाह न हो तथा दूसरी ओर भाषा कठिन काव्यात्मक और तत्समाग्रही हो जैसा कि प्रसादजी की है परंतु उसमें प्रवाह हो। इसे एक उदाहरण से स्पष्ट किया जा सकता है। 'अजातशत्रु' नाटक के प्रारंभ में महाराजा बिम्बिसार अपनी रानी वासवी से पूछते है, ''देवी, तुम कुछ समझती हो कि मनुष्य के लिए एक पुत्र का होना क्यों इतना आवश्यक समझा गया है ?'' उत्तर से संतुष्ट न होकर महाराज अपनी ओर से समाधान देते है, ''संसारी को त्याग, तितिक्षा या विराग होने के लिए पहला और सहज साधन है। पुत्र को समस्त अधिकार देकर वीतराग हो जाने से असंतोष नहीं होता क्योंकि मनुष्य अपनी ही आत्मा का भोग उसे भी समझता है।''

ऐतिहासिक नाटक के माध्यम से उत्तराधिकारी की समस्या का ऐसा संक्षिप्त और मर्मस्पर्शी विवेचना प्रसादजी को छोड़कर शायद ही कहीं और मिले, जो एक ही साथ जितना दार्शनिक विवेचना है उतना ही व्यावहारिक भी। प्राय सत्ता से लेकर गृहस्थ तक में उत्तराधिकारी की समस्या कैसे परिव्याप्त है,इसका संप्रेषण हर दर्शक वर्ग को अपने-अपने स्तर पर हो जाता है। प्रसादजी का सिर्फ एक नाटक 'एक घूंट' ही रोजमर्रा के बोलचाल की भाषा में है तथा इसी भाषा में प्रसादजी के बाद के नाटक प्राय लिखे गये है। जयशंकर प्रसाद की काव्यभाषा

दो स्तरों, एक बिंब भाषा और दूसरा वर्णन की भाषा में गतिशील होती है। बिंब भाषा जहां पूर्णत व्यवस्थित है वहीं वर्णन की भाषा में कुछ ढ़िलाई देखने को मिलती है। प्रसाद के एतिहासिक नाटकों का काल मानव संस्कृति के आरंभ से, जनमेजय का नागयज्ञ सम्राट हर्षबर्धन तक, राजश्री माना जाता है। इस विस्तृत काल अवधि की भाषा में संस्कृत तत्सम शब्दावली का प्रचुर प्रयोग दो प्रयोजनों, यथा, प्रथम तो तत्कालीन संस्कृति की झलक और द्वितीय नाटक काल समकालीन जीवन व्यवस्था से बहुत पूराना है, को सिद्ध करता है। प्रसादजी के ऐतिहासिक नाटकों का गद्य विधान संवाद प्रवाह की बुनियादी समस्या उत्पन्न नहीं करता है। उदाहरण के लिए नाटक 'चंद्रगुप्त' में चाणक्य का लंबा स्वगत कथन, ''समझदारी आने पर यौवन चला जाता है। जबतक माला गूंथी जाती है तब तक फूल कुम्हला जाते है।'' इन संवादों में कुछेक शब्दों का ठीकठाक अर्थ भले ही न समझ में आए परंतु काव्यात्मक प्रसंग पूरे के पूरे ग्राहय है। ऐसा ही एक उदाहरण जब सिंहरण कहता है, ''अतीत सूखों के लिए सोच क्यों, अनागत भविष्य के लिए भय क्यों और वर्त्तमान को मैं अपने अनुकूल बना ही लूंगा, फिर चिंता किस बात की ?'' 'स्कंदगुप्त नाटक में देवसेना के भूख से नारी जीवन को रेखांकित करते ये संवाद कि ''संगीत सभा की अंतिम लहरदार और आश्रयहीन तान, धूपदान की एक क्षीण गंध-रेखा, कुचले हुए फूलों का ग्लान सौरभ और उत्सव के पीछे का अवसाद, इन सबों की प्रतिक्रिया मेरा क्षुद्र नारी जीवन।''

जयशंकर प्रसाद का महत्वपूर्ण चिंतन छायावाद और रहस्यवाद की पृष्ठभूमि को लेकर अधिक है। रहस्वाद को उन्होंने वैदिक परम्परा के स्वास्थ-सहज विकास के रूप में देखा जो अपने अद्वैत चिंतन में इस संसार को स्वीकार करता है तथा विवेक के स्थान पर आनंद को महत्व प्रदान करता है। आपका अधूरा उपन्यास 'इरावती', कहानी 'सालवती' और 'रहस्यवाद' विषयक निबंध का गद्य रचनात्मक और आलोचनात्मक लेखन का सुंदर उदाहरण है। अपने अधूरे उपन्यास 'इरावती' में प्रसादजी अग्निमित्र के समय यानी 155 ई.पू. के आसपास परवर्ती बौद्ध समाज में व्याप्त विधि निषेधों के माध्यम से आधुनिक हिन्दू समाज की विषमताओं का अतिसुदंर चित्रण किया है। अपनी पुस्तक 'प्रसाद का गद्य' के समापन में सूर्यप्रसाद दीक्षित ने ठीक ही लिखा है कि ''गद्य की अनेक विधाएं प्राय प्रसाद द्वारा उत्कृष्ठ रूप में अविष्कृत हुई है।'' प्रसादजी के उपन्यास के गद्य में तद्भवता और तत्समता अपने-अपने ढ़ग से कैसे नियुक्त है

इसे दो उदाहरणों से समझा जा सकता है, पहला 'तितली' उपन्यास के आरंभ का एक वर्णन इस प्रकार है ''संध्या गांव की सीमा में धीरे-धीरे आने लगी। अंधकार के साथ ही ठंड़ बढ़ चली। गंगा की कछार की झाड़ियों में सन्नाटा भरने लगा। नालों के करारों में चरवाहों के गीत गूंज रहे थे।'' यह वर्णन आधुनिक गांव की संध्या का है जो जितना सामान्य है उतना ही आश्वस्तिकर भी है। दूसरा उदाहरण 'इरावती' उपन्यास के आरंभिक वर्णन से लिया जा सकता है जो इस प्रकार है, ''महाकाल के विशाल मंदिर में सांयकालीन पूजन हो चुका। दर्शक अभी भी भक्ति भाव से यथास्थान बैठ रहे थे। मंडप के विशाल स्तंभों से वेले के गजरे झूल रहे थे। स्वर्ण के उंचे दीपाघरों में सुंगधित तैलों के दीप जल रहे थे। कस्तूरी अगुरू से मिली हुई धूप-गंध मंदिर में फैल रही थी।'' यह वर्णन प्राचीन विशाल मंदिर का है जहां की भव्यता आशंका को उकसाती है। प्रसादजी का अन्य दो उपन्यास 'कंकाल' और 'तितली' समकालिन समाज का चित्रण करते है। आपकी पांच कहानी संग्रहों में कुल सत्तर कहानियां है, जिसमें कुछेक कहानियां ऐतिहासिक और ज्यादातर कहानियां समकालिन समाज, धर्म और आर्थिक स्थितियों का चित्रण है।

साहित्य चिंतन के विषयों में तो प्रसादजी और भी सुदृढ़ भूमि पर स्थित दिखते है। 'रहस्यवाद' शीर्षक निबंध में अद्वैत, रहस्य और आनंद का पक्ष लेते हुए उन्होंने विवेक के पक्ष में बड़ा सूक्ष्म पर करारा व्यंग्य किया है, ''इस पौराणिक धर्म के युग में विवेकवाद का सबसे बड़ा प्रतीक रामचंद्र के रूप में अवतरित हुआ, जो केवल अपनी मर्यादा में और दु:ख सहिष्णुता में महान रहें। किंतु पौराणिक युग का सबसे बड़ा प्रयत्न श्रीकृष्ण के पूर्णावतार का निरूपण था। इनमें गीता का पक्ष जैसे बुद्धिवाद था वैसे ही ब्रजलीला और द्वारका का ऐश्वर्य योग आनंद से संबद्ध था।'' प्रसादजी के इस चिंतन में पूरा तारतम्य है। भारतीय पुनर्जागरण के चिंतन में आनंद बनाम विवेक का विवेचन करते हुए प्रसादजी ने आनंद के पक्ष को बड़ी क्षमता के साथ 'कामायनी' काव्य, 'इरावती' अधूरा उपन्यास, 'सालवती' कहानी और 'रहस्यवाद' शीर्षक निबंध में प्रतिष्ठित किया है। यह कहने में कोई अतिशयोक्ति नही होगी कि जयशंकर प्रसाद की तरह संश्लिष्ट रचनाकार व्यक्तित्त्व आधुनिक भारतीय साहित्य में कठिनाई से ही मिलेगा।

भक्तिकाल के बाद जिस छायावाद को आधुनिक हिन्दी कविता का स्वर्ण युग माना जाता है जयशंकर प्रसाद इसके प्रमुख स्तम्भों में से एक विशिष्ट स्तंभ

थे। हिन्दी नाटक के विकास में प्रसादजी के विशिष्ट योगदान को देखते हुए 'प्रसाद युग' की स्थापना की गयी। प्रसादजी के महत्ता का अंदाजा इस बात से लगाया जा सकता है कि 'रामचरितमानस' के बाद महाकाव्य के रूप में इनकी 'कामायनी' प्रतिष्ठित हुई। 75 वर्ष बीत जाने के बाद भी 'कामायनी' जैसा उत्कृष्ट और उदान्त महाकाव्य कोई कवि नहीं लिख सका है।

'कामायनी' इतिहास और कल्पना का सुंदर समन्वय है किंतु अतीत के गौरवशाली वैभव के चित्रण में उन्होंने वर्तमान से भी अपने को जोड़े रखा है।

प्रसादजी ने रूपक कथात्मक शैली से 'कामायनी' को प्रारंभ किया है,

''हिमगिरि के उत्तुंग शिखर पर
बैठ शिला की सुंदर छांव
एक पुरुष भींगें नयनों से
देख रहा था प्रलय प्रवाह
नीचे जल था, उपर हिम था
एक तरल था, एक सघन।
एक तत्त्व की ही प्रधानता
कहो उसे जड़ या चेतन''

आलोचकों के अनुसार यह महाकाव्यात्मक आरंभ है। सूक्ष्म और स्थूल, लाक्षणिक और चित्रात्मक शैली की इन पक्तियों में मणिकांचन संयोग है। यहां प्रसादजी ने बड़ी कुशलता से स्थूल के लिए सूक्ष्म उपमान दिया है। 'कामायनी' की ये प्रारम्भिक पक्तियां एक करूण छाप छोड़ जाती है। जल प्लावन को यदि प्रतीक समझे तो यह प्रत्येक हृदय का प्लावन है। जिसमें उसके सुख का संसार करूणा जल में डूब जाता है और फिर उसका एकाकी जीवन सुख तलाशने लगता है। इसमें कोई दो राय नहीं कि कामायनी में प्रसादजी मानवीय चित्रवृत्तियों का मानवीकरण कर उसे अपना स्वतंत्र रूप देने के प्रयास में अत्यंत सफल रहे है। डा. प्रतिपाल सिंह ने कामायनी में श्रद्धा के चरित्र के संबंध में लिखा है कि ''श्रद्धा महाकाव्य की प्राण है एवं स्फूर्तिदायिनी शक्ति है जो चिंताग्रस्त मनु को मंगलमय एवं कल्याणकारी पथ का पथिक बनाती है। वास्तव में श्रद्धा ने मनु के व्यक्तित्त्व को एक महामानवीय आकार दिया है। प्रश्न उठता है श्रद्धा क्या है ? सारा संसार जिस समय आपसी विवादों, कलहों के कारण भयानक कोलाहल में अपना अस्तित्त्व खो रहा था, श्रद्धा कहती है कि मैं उस विशेष स्थिति में हृदय की बात हूँ,

''तुमुल कोलाहल कलह में
मैं हृदय की बात रे मन !
विकल होकर नित्य चंचल
खोजती जब नींद के पल
चेतना थक सी रही तब
मैं मलय की बात रे मन !''

इस गीत के माध्यम से प्रसादजी ने मस्तिष्क पर हृदय को स्थापित कर दिया जो बहुत ही महत्वपूर्ण साहित्यिक घटना है। मस्तिष्क मरूभूमि की ज्वाला में भटकने के लिए है। वह धधकती हुई ज्वाला जिसमें चातकी स्वाति नक्षत्र की एक बूंद की प्यासी रहती है, ठीक इसी प्रकार आत्मा हृदय से निःसृत प्रेम कणों पर ही जीवित रहती है। इस लाक्षणिक प्रयोग से यही अर्थ निकलता है कि बुद्धि के कल्चर में मनुष्य का जीवन मरू ज्वाला में घिर जाता है परिणामस्वरूप मनु के सौम्य सुखद प्रेममय जीवन की सारी शीतलता सारा सुख इड़ा के नगर में खो जाता है और वे मूर्च्छित आहत मैदान में पड़े रहते है। श्रद्धा का गीत वर्षा की भांति उनके जीवन सरसता लाता है, ताप मिटाता है और फिर जीने की रमणीय दिशा देता है। अनेक उपनिषदों, पुराणों एवं धर्मग्रंथों के गहन अध्ययन के पश्चात प्रसादजी ने श्रद्धा का चरित्र गढ़ा है। श्रद्धा आस्तिकता, आस्था और विश्वास का प्रतीक है। वास्तव में आज के आदमी की बुद्धि ही उसकी त्रासदी है। वह हृदय से दूर होता जाता है और असीमित दुख का भागी बनता है। श्रद्धा तो हर हृदय में आनंद देने को तत्पर है परंतु आनंद मनु की भांति बुद्धि के सारस्वत नगर में ढूंढ़ रहा है। इस गीत का कामायनी में महत्वपूर्ण स्थान इसलिए भी है क्योंकि कवि ने इस गीत के माध्यम से जीवन में थके, निराश, हारे मनु को जीवन दिया है।

जयशंकर प्रसाद बहुत ही सरल और उदार व्यक्ति थे। उन्होंने अपनी किसी भी रचना के लिए पुरुस्कार के रूप में एक पैसा भी नहीं लिया। हिन्दुस्तानी एकाडेमी और काशीनगर प्रचारिणी सभा से उन्हें जो पुरुस्कार मिला था वह भी उन्होंने नगर प्रचारिणी सभा को दान कर दिया था। किसी संस्था का सभापति होना या किसी कवि सम्मेलन में कविता पाठ करना उन्हें स्वीकार नहीं था। प्रसादजी के साहित्य में अनुभूति और शिल्प दोनों दिशाओं में सतत जागरूकता का प्रयत्न दृष्टिगोचर होता है। यही कारण है कि वे 'चित्रधार' जैसी साधारण कृतियों की साधारण भूमि से उठकर 'कामायनी' जैसे ऋंग तक उठ सके। प्रेम,

सौंदर्य की अनुभूतियाँ उनकी मानवीयता से संबंध रखती है। नाटकों में सांस्कृतिक दृष्टि अधिक मुखर है। इनकी कविताओं में मनोवैज्ञानिकता, दार्शनिकता तथा सांस्कृतिक भूमि का समावेश देखा जा सकता है। प्रसादजी ने ऐतिहासिक कथाओं के माध्यम से राष्ट्रीयता और आध्यात्मिकता का वर्तमान युग को संदेश दिया है। सौंदर्य वर्णन करने में प्रसादजी भौतिक जगत में ही रहे परंतु उनका सौंदर्य वर्णन रीतिकाल के कवियों की तरह कहीं भी ऐन्द्रिकता के भार से बोझिल नहीं होता है। उदाहरणार्थ,

''विछल रही है चाँदनी, छवि मतवाली रात
कहती कंपित अधर से, बहलाने की बात''

कवि की काव्य प्रेरणा प्राकृति है, जिसे उन्होंने कई रूपों में पेश किया है। प्रसादजी के कविताओं में मानवीय भावनाओं, काव्य में कला और कल्पना की उड़ान देखने को मिलती है। प्रसादजी ने संक्षिप्त छंद में जितना कह दिया है उतना अन्य कवि विस्तृत वर्णन में भी नहीं कह पाते है जैसे,

'' तुम्हारी आँखों का बचपन,
खेलता जब अल्हड़ खेल''

हिन्दी काव्य की वह धारा जिसमें स्थल रूपात्मक चित्रणों के स्थान पर सूक्ष्म भावनाओं और निर्भय कल्पना का उन्मुक्त उपयोग होता है, आलोचकों द्वारा छायावाद के नाम से प्रतिष्ठित हुआ है। जयशंकर प्रसाद छायावाद के पोषक कवि थे जिन्होंने द्विवेदीकालीन काव्य की इतिवृतात्मक तथा नैतिक नीरसता के स्थान पर नवीन भावनाओं, आंकाक्षाओं, चेतना और अभिव्यक्ति के काव्य का एक नया रूप तैयार किया। नन्द दुलारे वाजपेयी ने लिखा है कि 'नवीन युग की हिन्दी कविता की बृहत्तयत्री रूप में श्री जयशंकर प्रसाद, श्री सूर्यकांत त्रिपाठी निराला और श्री सुमित्रानंदन पंत की प्रतिष्ठा मानी जाती है। इसमें ऐतिहासिक दृष्टि से जयशंकर प्रसाद का कार्य सबसे अधिक विशेष तथा समन्वित है। उन्होंने कविता के विषय को रसमय बनाया और कल्पना एवं सौंदर्य के नए स्पर्श कराए। प्रसादजी को अग्रगण्य छायावादी कवि के रूप में प्रतिष्ठित करने वाले काव्य संग्रहों में 'लहर', 'आंसू' और 'कामयानी' है। इनकी प्रतिभा ने छायावादी काव्य को 'कामायनी' की अन्तिम और सर्वश्रेष्ठ भेंट दी है।

प्रसादजी एक चिंतक कवि थे, उन्हें भारत के प्राचीन अध्यात्मकवाद का बड़ा ध्यान था। कवि ने उन ऋषियों की अर कृतियों का अध्ययन किया जिसके ज्ञान से मनुष्य सांसारिक सरिता को पार करके मानसिक शांति की अनुभूति करता

है और आध्यात्मिक सुख प्राप्त करता है। कवि के प्रेम से ओत-प्रोत हृदय ने संसार को ही प्रेम के रंग में रंगा हुआ देखा है, उदाहरणार्थ,

''मानव जीवन वैदी पर, परिणय है बिरह मिलन का
सुख-दुख दोनों नाचेंगे, है खेल आँख, मन का''

हम पाते है कि प्रसादजी का प्रेम परक काव्य शुद्ध आध्यात्मिक है। उसमें इंद्रिय लिप्सा नहीं है, वासना नहीं है, मोह नहीं है, स्वार्थ नहीं है क्योंकि प्रेम ही ईश्वर है। प्रेम में निष्क्रियता नहीं वह अनन्त प्रगति का प्रतीक है। छायावादी होने के कारण कवि का यह मानना है कि जिस प्रेम को हम मानव जगत में ढूढ़ते है वह प्रकृति के मूक संसार में बहुताय में मिल सकती है। अत: प्राकृतिक दृश्यों का स्वाभविक और सूक्ष्म चित्रण कवि के काव्य में सर्वत्र बिखरा मिलता है। इनके काव्य में जो सौंदर्य का वर्णन हुआ है उसमें प्रेमिका का नख-शिख वर्णन भी है परंतु उसके अंगों का वर्णन मात्र न होकर कल्पना विलास है। प्रसादजी की कविताएं सूक्ष्म कल्पना और गंभीर भावों से भरी हुई है, जिसमें अनुभूतियों का समावेश, वेदना का करूण क्रन्दन, आशा और उल्लास का मार्मिक व्यंजना आदि गुण समान रूप से विद्यमान है। अनुभूति एवं कल्पना प्रधान काव्य कृतियों में 'आंसू' सर्वश्रेष्ठ है, इसमें एक सौ चौबीस छंद है, जिसमें वेदना, पीड़ा और मधुर भाव का चित्रवत अभिव्यंजन है। आंसू में कवि ने आध्यात्मिक और सौंदर्यविष्ठ असंतोष को प्रकट कर काव्य में चिरमंगल का संदेश दिया है। कवि की दृष्टि में दु:ख का कारण है मन में संकल्प का अभाव। सुख-दु:ख को मन का खेल समझकर समभाव बने रहने से ही मनुष्य मन का कल्याण है। इसके अतिरिक्त कविता 'हमारा देश' या 'भारत वर्ष' राष्ट्रीयता और सांस्कृतिकता से भरी भाव भूमि का ज्वलंत उदाहरण है। कविता के माध्यम से प्रसादजी ने अपने सांस्कृतिक व्यक्तित्त्व की झांकी प्रस्तूत की है। बीणा की झंकार, दधीची की दानशीलता, बुद्ध का शांति संदेश और ऋषिमनु का सामाजिक आदर्श हमारे देश की आध्यात्मिक और नैतिक पृष्ठ भूमि का आधार रचते है।

अंतत: जयशंकर प्रसाद पर की गई आलोचना का जिक्र करते हुए जहां मुक्तिबोध ने कामायनी महाकाव्य पर कटु आक्षेप करते हुए लिखा है कि प्रसाद की कामायनी में मनु की समस्या स्वयं कवि प्रसाद की समस्या है। इसमें वर्णित प्रलय उनके परिवार में घटित प्रलय, मृत्यु आदि की व्यावर्त्तक घटना, की ही छाया है। वहीं कामयानी को एक शालेय ग्रंथ कहते आलोचक नहीं थकते। विश्वबुक्स द्वारा प्रकाशित 'कामायनी' में सुदर्शन चोपड़ा ने तो यहां तक लिख

डाला है कि हिन्दी छात्रों का मानसिक विकास अवरूद्ध करने का सारा दायित्व कामायनी जैसे कालजयी ग्रंथों पर ही है। आलोचक चाहे जो कहें परंतु इसमें कोई दो राय नहीं कि रामचरितमानस के बाद दूसरा महाकाव्य जयशंकर प्रसाद द्वारा लिखित कामायनी ही है। इनके बाद आजतक कोई हिन्दी के मठाधीशों ने महाकाव्य की रचना नहीं की और यह भी सत्य है कि कामायनी की आलोचना करते-करते लब्ध प्रतिष्ठित जरूर हो गए।

इस तथ्य से इंकार नहीं किया जा सकता है कि महाकवि जयशंकर प्रसाद आधुनिक हिन्दी साहित्य के सर्वांगिण विकास में सबसे अधिक योगदान देने वाले साहित्यकार थे। काव्य, कथा साहित्य, नाटक, आलोचना, दर्शन, इतिहास सभी क्षेत्रों में उनकी प्रतिभा अद्वितीय है। साहित्य जगत हमेशा ऐसे महान कवि, लेखक, कहानीकार, नाटककार, गीतकार का ऋणी रहेगा।

अजातशत्रु में जयशंकर प्रसाद की नाट्य दृष्टि

इतिहास में घटनाओं की प्राय: पुनरावृत्ति होते देखी जाती है। इसका तात्पर्य यह नहीं है कि उसमें कोई नई घटना होती ही नहीं। किन्तु असाधारण नई घटना भी भविष्यत् में फिर होने की आशा रखती है। मानव-समाज की कल्पना का भण्डार अक्षय है, क्योंकि वह इच्छा-शक्ति का विकास है। इन कल्पनाओं का, इच्छाओं का मूल-सूत्र बहुत ही सूक्ष्म और अपरिस्फुट होता है। जब वह इच्छा-शक्ति किसी व्यक्ति या जाति में केन्द्रीभूत होकर अपना सफल या विकसित रूप धारण करती है, तभी इतिहास की सृष्टि होती है। विश्व में जब तक कल्पना इयत्ता को नहीं प्राप्त होती, तब तक वह रूप-परिवर्तन करती हुई, पुनरावृत्ति करती ही जाती है। समाज की अभिलाषा अनन्त स्रोतवाली है। पूर्व कल्पना के पूर्ण होते-होते एक नई कल्पना उसका विरोध करने लगती है, और पूर्व कल्पना कुछ काल तक ठहरकर, फिर होने के लिए अपना क्षेत्र प्रस्तुत करती है। इधर इतिहास का नवीन अध्याय खुलने लगता है। मानव-समाज के इतिहास का इसी प्रकार संकलन होता है।

भारत का ऐतिहासिक काल गौतम बुद्ध से माना जाता है, क्योंकि उस काल की बौद्ध-कथाओं में वर्णित व्यक्तियों का पुराणों की वंशावली में भी प्रसंग आता है। लोग वहीं से प्रामाणिक इतिहास मानते हैं। पौराणिक काल के बाद गौतम बुद्ध के व्यक्तित्त्व ने तत्कालीन सभ्य संसार में बड़ा भारी परिवर्तन किया। इसलिए हम कहेंगे कि भारत के ऐतिहासिक काल का प्रारम्भ धन्य है, जिसने संसार में

पशु-कीट-पतंग से लेकर इन्द्र तक के साम्यवाद की शंखध्वनि की थी। केवल इसी कारण हमें, अपना अतीव प्राचीन इतिहास रखने पर भी, यहीं से इतिहास-काल का प्रारम्भ मानने से गर्व होना चाहिए।

भारत-युद्ध के पौराणिक काल के बाद इन्द्रप्रस्थ के पाण्डवों की प्रभुता कम होने पर बहुत दिनों तक कोई सम्राट् नहीं हुआ। भिन्न-भिन्न जातियाँ अपने-अपने देशों में शासन करती थीं। बौद्धों के प्राचीन संघों में ऐसे 16 राष्ट्रों के उल्लेख हैं, प्रायः उनका वर्णन भौगोलिक क्रम के अनुसार न होकर जातीयता के अनुसार है। उनके नाम हैं-अंग, मगध, काशी, कोसल, वृजि, मल्ल, चेदि, वत्स, कुरु, पांचाल मत्स्य, शूरसेन, अश्वक, अवन्ति, गांधार और काम्बोज।

उस काल में जिन लोगों से बौद्धों का सम्बन्ध हुआ है, इनमें उन्हीं का नाम है। जातक-कथाओं में शिवि, सौवीर, नद्र, विराट् और उद्यान का भी नाम आया है, किन्तु उनकी प्रधानता नहीं है। उस समय जिन छोटी-से-छोटी जातियों, गणों और राष्ट्रों का सम्बन्ध बौद्ध धर्म से हुआ, उन्हें प्रधानता दी गई, जैसे 'मल्ल' आदि।

अपनी-अपनी स्वतन्त्र कुलीनता और आचार रखने वाले इन राष्ट्रों में-कितनों ही में गणतन्त्र शासन-प्रणाली भी प्रचलित थी-निसर्ग-नियमानुसार एकता, राजनीति के कारण नहीं, किन्तु एक-से होने वाली धार्मिक क्रान्ति से थी।

वैदिक हिंसापूर्ण यज्ञों और पुरोहितों के एकाधिपत्य से साधारण जनता के हृदय-क्षेत्र में विद्रोह की उत्पत्ति हो रही थी। उसी के फलस्वरूप जैन-बौद्ध धर्मों का प्रादुर्भाव हुआ। चरम अहिंसावादी जैन-धर्म के बाद बौद्ध-धर्म का प्रादुर्भाव हुआ। वह हिंसामय 'वेद-वाद' और पूर्ण अहिंसा वाली जैन-दीक्षाओं के 'अति-वाद' से बचता हुआ एक मध्यवर्ती नया मार्ग था। सम्भवतः धर्म-चक्र-प्रवर्तन के समय गौतम ने इसी से अपने धर्म को 'मध्यमा प्रतिपदा' के नाम से अभिहित किया और इसी धार्मिक क्रान्ति ने भारत के भिन्न-भिन्न राष्ट्रों को परस्पर सन्धि-विग्रह के लिए बाध्य किया।

इन्द्रप्रस्थ और अयोध्या के प्रभाव का ह्रास होने पर, इसी धर्म के प्रभाव से पाटलिपुत्र पीछे बहुत दिनों तक भारत की राजधानी बना रहा। उस समय के बौद्ध-ग्रन्थों में ऊपर कहे हुए बहुत-से राष्ट्रों में से चार प्रमुख राष्ट्रों का अधिक वर्णन है-कोसल, मगध, अवन्ति और वत्स। कोसल का पुराना राष्ट्र सम्भवतः उस काल में सब राष्ट्रों से विशेष मर्यादा रखता थाय किन्तु वह जर्जर हो रहा था। प्रसेनजित् वहाँ का राजा था। अवन्ति में प्रद्योत (पज्जोत) राजा था। मालव का

राष्ट्र भी उस समय सबल था। मगध, जिसने कौरवों के बाद भारत में महान् साम्राज्य स्थापित किया, शक्तिशाली हो रहा था। बिम्बिसार वहाँ के राजा थे। अजातशत्रु वैशाली (वृजि) की राजकुमारी से उत्पन्न, उन्हीं का पुत्र था। इसका वर्णन भी बौद्धों की प्राचीन कथाओं में बहुत मिलता है। बिम्बिसार की बड़ी रानी कोसला (वासवी) कोसल नरेश प्रसेनजित् की बहन थी। वत्स-राष्ट्र की राजधानी कौशाम्बी थी, जिसका खँडहर जिला बाँदा (करुई सव-डिवीजन) में यमुना-किनारे 'कोसम' नाम से प्रसिद्ध है। उदयन इसी कौशाम्बी का राजा था। इसने मगध-राज और अवन्ति-नरेश की राजकुमारियों से विवाह किया था। भारत के सहस्र-रजनी-चरित्र 'कथा-सरित्सागर' का नायक इसी का पुत्र नरवाहनदत्त है।

वृहत्कथा (कथा-सरित्सागर) के आदि आचार्य वररुचि हैं, जो कौशाम्बी में उत्पन्न हुए थे। और जिन्होंने मगध में नन्द का मन्त्रित्व किया। उदयन के समकालीन अजातशत्रु के बाद उदयाश्व, नन्दिवर्द्धन और महानन्द नाम के तीन राजा मगध के सिंहासन पर बैठे। शूद्रा के गर्भ से उत्पन्न, महानन्द के पुत्र, महापद्म ने नंद-वंश की नींव डाली। इसके बाद सुमाल्य आदि आठ नन्दों ने शासन किया। (विष्णुपुराण, 4 अंश)। किसी के मत से महानन्द के बाद नवनन्दों ने राज्य किया। इस 'नवनन्द' वाक्य के दो अर्थ हुए-नवनन्द (नवीन नन्द), तथा महापद्म और सुमाल्य आदि नौ नन्द। इनका राज्यकाल भी, पुराणों के अनुसार, 100 वर्ष होता है। नन्द के पहले राजाओं का राज्य-काल भी, पुराणों के अनुसार, लगभग 100 वर्ष होता है। ढुण्ढि ने मुद्राराक्षस के उपोद्घात में अन्तिम नन्द का नाम धननन्द लिखा है। इसके बाद योगानन्द का मन्त्री वररुचि हुआ। यदि ऊपर लिखी हुई पुराणों की गणना सही है, तो मानना होगा कि उदयन के पीछे 200 वर्ष के बाद वररुचि हुए, क्योंकि पुराणों के अनुसार 4 शिशुनाग वंश के और 9 नन्दवंश के राजाओं का राज्य-काल इतना ही होता है। महावंश और जैनों के अनुसार कालाशोक के बाद केवल नवनन्द का नाम आता है। कालाशोक पुराणों का महापद्म नन्द है। बौद्धमतानुसार इन शिशुनाग तथा नन्दों का सम्पूर्ण राज्यकाल 100 वर्ष से कुछ ही अधिक होता है। यदि इसे माना जाए, तो उदयन के 100-125 वर्ष पीछे वररुचि का होना प्रमाणित होगा। कथा-सरित्सागर में इसी का नाम 'कात्यायन' भी है-"नाम्नावररुचिः किं च कात्यायन इति श्रुतःश्श। इन विवरणों से प्रतीत होता है कि वररुचि उदयन के 125-200 वर्ष बाद हुए। विख्यात उदयन की कौशाम्बी वररुचि की जन्मभूमि है।

मूल वृहत्कथा वररुचि ने काणभूति से कही और काणभूति ने गुणाढ्य से। इससे व्यक्त होता है कि यह कथा वररुचि के मस्तिष्क का आविष्कार है, जो सम्भवत: उसने संक्षिप्त रूप से संस्कृत में कही थीय क्योंकि उदयन की कथा उसकी जन्म-भूमि में किम्वदन्तियों के रूप में प्रचलित रही होगी। उसी मूल उपाख्यान को क्रमश: काणभूति और गुणाढ्य ने प्राकृत और पैशाची भाषाओं में विस्तारपूर्वक लिखा। महाकवि क्षेमेन्द्र ने उसे वृहत्कथा-मंजरी नाम से, संक्षिप्त रूप से, संस्कृत में लिखा। फिर काश्मीर-राज अनन्तदेव के राज्यकाल में कथा-सरित्सागर की रचना हुई। इस उपाख्यान को भारतीयों ने बहुत आदर दिया और वत्सराज उदयन कई नाटकों और उपाख्यानों में नायक बनाए गए। स्वप्न-वासवदत्ता, प्रतिज्ञा-यौगन्धरायण और रत्नावली में इन्हीं का वर्णन है। 'हर्षचरित' में लिखा है-"नागवन विहारशीलं च मायामातंगांगान्निर्गता: महासेनसैनिका: वत्सपतिंन्ययंसिषु।" मेघदूत में भी-" प्राप्यावन्तीनुदयन- कथाकोविदग्राममवृद्धान्श' और 'श्प्रद्योतस्य प्रियदुहितरं वत्सराजो 'त्र जह्वे' इत्यादि हैं। इससे इस कथा की सर्वलोकप्रियता समझी जा सकती है। वररुचि ने इस उपाख्यान-माला को सम्भवत: 350 ई. पूर्व लिखा होगा। सातवाहन नामक आंध्र-नरपति के राजपण्डित गुणाढ्य ने इसे वृहत्कथा नाम से ईसा की पहली शताब्दी में लिखा। इस कथा का नायक नरवाहनदत्त इसी उदयन का पुत्र था।

बौद्धों के यहाँ इसके पिता का नाम 'परन्तप' मिलता है। और 'मरन परिदीपितउदेनिवस्तु' के नाम से एक आख्यायिका है। उसमें भी (जैसा कि कथा-सरित्सागर में) इसकी माता का गरुड़ वंश के पक्षी द्वारा उदयगिरि की गुफा में ले जाया जाना और वहाँ एक मुनि कुमार का उनकी रक्षा और सेवा करना लिखा है। बहुत दिनों तक इसी प्रकार साथ रहते-रहते मुनि से उसका स्नेह हो गया और उसी से वह गर्भवती हुई। उदयगिरि (कलिंग) की गुफा में जन्म होने के कारण लड़के का नाम उदयन पड़ा। मुनि ने उसे हस्ती-वश करने की विद्या, और भी कई सिद्धियाँ दीं। एक वीणा भी मिली (कथा-सरित्सागर के अनुसार, वह प्राण बचाने पर, नागराज ने दी थी)। वीणा द्वारा हाथियों और शबरों की बहुत-सी सेना एकत्र करके उसने कौशाम्बी को हस्तगत किया और अपनी राजधानी बनाया, किन्तु वृहत्कथा के आदि आचार्य वररुचि का कौशाम्बी में जन्म होने के कारण उदयन की ओर विशेष पक्षपात-सा दिखाई देता है। अपने आख्यान के नायक को कुलीन बनाने के लिए उसने उदयन को पाण्डव वंश का लिखा है। उनके अनुसार उदयन गाण्डीवधारी अर्जुन की सातवीं पीढ़ी में उत्पन्न

सहस्रानीक का पुत्र था। बौद्धों के मतानुसार 'परन्तप' के क्षेत्रज पुत्र उदयन की कुलीनता नहीं प्रकट होतीय परन्तु वररुचि ने लिखा है कि इन्द्रप्रस्थ नष्ट होने पर पाण्डव-वंशियों ने कौशाम्बी को राजधानी बनाया। वररुचि ने यों सहस्रानीक से कौशाम्बी के राजवंश का आरम्भ माना है। कहा जाता है, इसी उदयन ने अवन्तिका को जीतकर उसका नाम उदयपुरी या उज्जयनपुरी रखा। कथा-सरित्सागर में उदयन के बाद नरवाहनदत्त का ही वर्णन मिलता है। विदित होता है, एक-दो पीढ़ी चलकर उदयन का वंश मगध की साम्राज्य-लिप्सा और उसकी रणनीति में अपने स्वतन्त्र अस्तित्त्व को नहीं रख सका।

किन्तु विष्णुपुराण की एक प्राचीन प्रति में कुछ नया शोध मिला है और उससे कुछ और नई बातों का पता चलता है। विष्णुपुराण के चतुर्थ अंक के 21वें अध्याय में लिखा है कि "तस्यापि, जन्मेजयश्रुतसेनोप्रसेनभीमसेना: पुत्रश्चत्वारो भविष्यन्ति।। 1। तस्यापर: शतानीको भविष्यति यो सौ...विषयविरक्तचित्तो... निर्वाणमाप्यति।। 2।। शतानीकादश्वमेघदत्तो भविता। तस्मादप्यधिसीमकृष्ण: अधिसीमकृष्णात् नृचक्षु: यो गंगयापहृते हस्तिनापुरे कौशाम्ब्याम् निवत्स्यति।"

इसके बाद 17 राजाओं के नाम हैं। फिर "ततोप्यपर: शतानीक: तस्माच्च उदयन: उदयनादहीनर:" लिखा है।

इससे दो बातें व्यक्त होती हैं। पहली यह कि शतानीक कौशाम्बी में नहीं गए, किन्तु नृचक्षु नामक पाण्डव-वंशी राजा हस्तिनापुर के गंगा में बह जाने पर कौशाम्बी गए। उनसे 29वीं पीढ़ी में उदयन हुए। सम्भवत: उनके पुत्र अहीनर का ही नाम कथा-सरित्सागर में नरवाहनदत्त लिखा है।

दूसरी यह कि शतानीक इस अध्याय में दोनों स्थान पर 'अपरशतानीक' करके लिखा गया है। 'अपरशतानीक' का विषय-विरागी होना, विरक्त हो जाना लिखा है। सम्भवत: यह शतानीक उदयन के पहले का कौशाम्बी का राजा है। अथवा बौद्धों की कथा के अनुसार इसकी रानी का क्षेत्रज पुत्र उदयन है, किन्तु वहाँ नाम-इस राजा का परन्तप है। जन्मेजय के बाद जो 'अपरशतानीक' आता है, वह भ्रम-सा प्रतीत होता है, क्योंकि जन्मेजय ने अश्वमेध यज्ञ किया थाय इसलिए जन्मेजय के पुत्र का नाम अश्वमेधदत्त होना कुछ संगत प्रतीत होता है, अतएव कौशाम्बी में इस दूसरे शतानीक की ही वास्तविक स्थिति ज्ञात होती है, जिसकी स्त्री किसी प्रकार (गरुड़ पक्षी द्वारा) हरी गई। उस राजा शतानीक के विरागी हो जाने पर उदयगिरि की गुफा में उत्पन्न विजयी और वीर उदयन, अपने बाहुबल से, कौशाम्बी का अधिकारी हो गया। इसके बाद कौशाम्बी के सिंहासन पर

क्रमशः अहीनर (नरवाहनदत्त), खण्डपाणि, नरमित्र और क्षेमक-ये चार राजा बैठे। इसके बाद कौशाम्बी के राजवंश या पाण्डव-वंश का अवसान होता है।

अर्जुन से सातवीं पीढ़ी में उदयन का होना तो किसी प्रकार से ठीक नहीं माना जा सकता, क्योंकि अर्जुन के समकालीन जरासंध के पुत्र सहदेव से लेकर, शिशुनाग वंश से पहले के जरासंध वंश के 22 राजा मगध के सिंहासन पर बैठ चुके हैं। उनके बाद 12 शिशुनाग वंश के बैठे, जिनमें छठे और सातवें राजाओं के समकालीन उदयन थे। तो क्या एक वंश में उतने ही समय में, तीस पीढ़ियाँ हो गई जितने में कि दूसरे वंश में केवल सात पीढ़ियाँ हुई! यह बात कदापि मानने योग्य न होगी। सम्भवतः इसी विषमता को देखकर श्रीगणपति शास्त्री ने "अभिमन्योः पंचविंश सन्तानः" इत्यादि लिखा है। कौशाम्बी में न तो अभी विशेष खोज हुई है, और न शिलालेख इत्यादि ही मिले है। इसलिए सम्भव है, कौशाम्बी के राजवंश का रहस्य अभी पृथ्वी के गर्भ में ही दबा पड़ा हो।

कथा-सरित्सागर में उदयन की दो रानियों के ही नाम मिले हैं। वासवदत्ता और पद्‌मावती। किन्तु बौद्धों के प्राचीन ग्रन्थों में उसकी तीसरी रानी मागन्धी का नाम भी आया है।

वासवदत्ता उसकी बड़ी रानी थी जो अवन्ति के चण्डमहासेन की कन्या थी। इसी चण्ड का नाम प्रद्योत भी था, क्योंकि मेघदूत में "प्रद्योतस्य प्रियदुहितरं वत्सराजो त्र जह्वे" और किसी प्रति में "चण्डस्यात्र प्रियदुहितरं वत्सराजो विजह्वे" ये दोनों पाठ मिलते हैं। इधर बौद्धों के लेखों में अवन्ति के राजा का नाम प्रद्योत मिलता है और कथा-सरित्सागर के एक श्लोक से एक भ्रम और भी उत्पन्न होता है। वह यह है-"ततश्चण्डमहासेनप्रद्योतो पितरो द्वयो देव्योः" तो क्या प्रद्योत पद्‌मावती के पिता का नाम था किन्तु कुछ लोग प्रद्योत और चण्डमहासेन को एक ही मानते हैं। यही मत ठीक है, क्योंकि भास ने अवन्ति के राजा का नाम प्रद्योत ही लिखा है, और वासवदत्ता में उसने यह दिखाया है कि मगध राजकुमारी पद्‌मावती को यह अपने लिए चाहता था। जैकोबी ने अपने वासवदत्ता के अनुवाद में अनुमान किया कि यह प्रद्योत चण्डमहासेन का पुत्र थाय किन्तु जैसा कि प्राचीन राजाओं में देखा जाता है, यह अवश्य अवन्ति के राजा का मुख्य नाम था। उसका राजकीय नाम चण्डमहासेन था। बौद्धों के लेख से प्रसेनजित् के एक दूसरे नाम 'अग्निदत्त' का भी पता लगता है। बिम्बिसार 'श्रेणिक' और अजातशत्रु 'कुणीक' के नाम से भी विख्यात थे।

पद्मावती, उदयन की दूसरी रानी, के पिता के नाम में बड़ा मतभेद है। यह तो निर्विवाद है कि वह मगधराज की कन्या थी, क्योंकि कथा-सरित्सागर में भी यही लिखा है, किन्तु बौद्धों ने उसका नाम 'यामावती लिखा है, जिस पर मागन्धी के द्वारा उत्तेजित किए जाने पर, उदयन बहुत नाराज हो गए थे। वे 'यामावती के ऊपर, बौद्ध-धर्म का उपदेश सुनने के कारण, बहुत क्रुद्ध हुए। यहाँ तक कि उसे जला डालने का भी उपक्रम हुआ था, किन्तु भास की वासवदत्ता में इस रानी के भाई का नाम दर्शक लिखा है। पुराणों में भी अजातशत्रु के बाद दर्शक, दर्भक और वंशक-इन कई नामों से अभिहित एक राजा का उल्लेख है, किन्तु महावंश आदि बौद्ध ग्रन्थों में केवल अजातशत्रु के पुत्र उदयाश्व का ही नाम उदायिन, उदयभद्रक के रूपान्तर में मिलता है। अनुमान है कि पद्मावती अजातशत्रु की बहन थी और भास ने सम्भवतः (कुणीक के स्थान में) अजात के दूसरे नाम दर्शक का ही उल्लेख किया है जैसा कि चण्डमहासेन के लिए प्रद्योत नाम का प्रयोग किया है।

यदि पद्मावती अजातशत्रु की कन्या हुई, तो इन बातों को भी विचारना होगा कि जिस समय बिम्बिसार मगध में, अपनी वृद्धावस्था में राज्य कर रहा था, उस समय पद्मावती का विवाह हो चुका था। प्रसेनजित् उसका समवयस्क था। वह बिम्बिसार का साला था। कलिंगदत्त ने प्रसेनजित् को अपनी कन्या देनी चाही थी, किन्तु स्वयं उसकी कन्या कलिंगसेना ने प्रसेन को वृद्ध देखकर उदयन से विवाह करने का निश्चय किया था।

"श्रावस्तीं प्राप्य पूर्वं च तं प्रसेनजितम् नृपम्!
मृगयानिर्गतं दूराज्जरापाण्डुं ददर्श सा॥
तमुद्यानगता सावैवत्सेशं सख्युरुदीरितम्।" इत्यादि
(enueatqdk yEcd)

अर्थात्-पहले श्रावस्ती में पहुँचकर, उद्यान में ठहरकर, उसने सखी के बताए हुए वत्सराज प्रसेनजित् को, शिकार के लिए जाते समय, दूर से देखा। वह वृद्धावस्था के कारण पाण्डु-वर्ण हो रहे थे।

इधर बौद्धों ने लिखा है कि "गौतम ने अपना नवाँ चातुर्मास्य कौशाम्बी में, उदयन के राज्य-काल में, व्यतीत किया और 45 चातुर्मास्य करके उनका निर्वाण हुआ।" ऐसा भी कहा जाता है-अजातशत्रु के राज्याभिषेक के नवें या आठवें वर्ष में गौतम का निर्वाण हुआ। इससे प्रतीत होता है कि गौतम के 35वें 36वें चातुर्मास्य के समय अजातशत्रु सिंहासन पर बैठा। तब तक वह बिम्बिसार का प्रतिनिधि या

युवराज मात्र था, क्योंकि अजात ने अपने पिता को अलग करके, प्रतिनिधि रूप से, बहुत दिनों तक राज-कार्य किया था, और इसी कारण गौतम ने राजगृह का जाना बन्द कर दिया था। 35वें चातुर्मास्य में 9 चातुर्मास्यों का समय घटा देने से निश्चय होता है कि अजात के सिंहासन पर बैठने के 26 वर्ष पहले उदयन ने पद्‌मावती और वासवदत्ता से विवाह कर लिया था और वह एक स्वतन्त्र शक्तिशाली नरेश था। इन बातों को देखने से यह ठीक जँचता है कि पद्‌मावती अजातशत्रु की बड़ी बहन थी, और पद्‌मावती को अजातशत्रु से बड़ी मानने के लिए यह विवरण यथेष्ट है। दर्शक का उल्लेख पुराणों में मिलता है, और भास ने भी अपने नाटक में वही नाम लिखा है, किन्तु समय का व्यवधान देखने से-और बौद्धों के यहाँ उसका नाम न मिलने से-यही अनुमान होता है कि प्रायः जैसे एक ही राजा को बौद्ध, जैन और पौराणिक लोग भिन्न-भिन्न नाम से पुकारते हैं, वैसे ही दर्शक, कुणीक और अजातशत्रु-ये नाम एक ही व्यक्ति के हैं, जैसे बिम्बिसार के लिए विन्ध्यसेन और श्रेणिक-ये दो नाम और भी मिलते हैं। प्रोफेसर गैगर महावंश के अनुवाद में बड़ी दृढ़ता से अजातशत्रु और उदयाश्व के बीच में दर्शक नाम के किसी राजा के होने का विरोध करते हैं। कथा-सरित्सागर के अनुसार प्रद्योत ही पद्‌मावती के पिता का नाम था। इन सब बातों को देखने से यही अनुमान होता है कि पद्‌मावती बिम्बिसार की बड़ी रानी कोसला (वासवी) के गर्भ से उत्पन्न मगध राजकुमारी थी।

नवीन उन्नतिशील राष्ट्र मगध, जिसने कौरवों के बाद महान् साम्राज्य भारत में स्थापित किया, इस नाटक की घटना का केन्द्र है। मगध को कोसल का दिया हुआ, राजकुमारी कोसला (वासवी) के दहेज में काशी का प्रान्त था, जिसके लिए मगध के राजकुमार अजातशत्रु और प्रसेनजित् से युद्ध हुआ। इस युद्ध का कारण, काशी-प्रान्त का आयकर लेने का संघर्ष था। 'हरितमात', 'बड्‌ढकीसूकर', 'तच्छसूकर' जातक की कथाओं का इसी घटना से सम्बन्ध है।

अजातशत्रु जब अपने पिता के जीवन में ही राज्याधिकार का भोग कर रहा था और जब उसकी विमाता कोसलकुमारी वासवी अजात के द्वारा एक प्रकार से उपेक्षित-सी हो रही थी, उस समय उसके पिता (कोसलनरेश) प्रसेनजित् ने उद्योग किया कि मेरे दिए हुए काशी-प्रान्त का आयकर वासवी को ही मिले। निदान, इस प्रश्न को लेकर दो युद्ध हुए। दूसरे युद्ध में अजातशत्रु बन्दी हुआ। सम्भवतः इस बार उदयन ने भी कोसल को सहायता दी थी। फिर भी निकट-सम्बन्धी जानकर समझौता होना अवश्यम्भावी था, अतएव प्रसेनजित् ने

मैत्री चिस्थायी करने के लिए, और अपनी बात भी रखने के लिए अजातशत्रु से अपनी दुहिता वाजिराकुमारी का ब्याह कर दिया।

अजातशत्रु के हाथ से उसके पिता बिम्बिसार की हत्या होने का उल्लेख भी मिलता है। 'थुस जातक कथा' अजातशत्रु के अपने पिता से राज्य छीन लेने के सम्बन्ध में, भविष्यवाणी के रूप में, कही गई है। परन्तु बुद्धघोष ने बिम्बिसार को बहुत दिन तक अधिकारच्युत होकर बन्दी की अवस्था में रहना लिखा है। और जब अजातशत्रु को पुत्र हुआ, तब उसे 'पैतृक स्नेह' का मूल्य समझ पड़ा। उस समय वह स्वयं पिता को कारागार से मुक्त करने के लिए गयाय किन्तु उस समय वहाँ महाराज बिम्बिसार की अन्तिम अवस्था थी। इस तरह से भी पितृहत्या का कलंक उस पर आरोपित किया जाता है, किन्तु कई विद्वानों के मत से इसमें सन्देह है कि अजात ने वास्तव में पिता को बन्दी बनाया या मार डाला था। उस काल की घटनाओं को देखने से प्रतीत होता है कि बिम्बिसार पर गौतम बुद्ध का अधिक प्रभाव पड़ा था। उसने अपने पुत्र का उद्धत स्वभाव देखकर जो कि गौतम के विरोधी देवदत्त के प्रभाव में विशेष रहता था, स्वयं सिंहासन छोड़ दिया होगा।

इसका कारण भी है। अजातशत्रु की माता छलना, वैशाली के राजवंश की थी, जो जैन तीर्थंकर महावीर स्वामी की निकट-सम्बन्धिनी भी थी। वैशाली की वृजि-जाति (लिच्छवि) अपने गोत्र के महावीर स्वामी का धर्म विशेष रूप से मानती थी। छलना का झुकाव अपने कुल-धर्म की ओर अधिक था। इधर देवदत्त जिसके बारे में कहा जाता है कि उसने गौतम बुद्ध को मार डालने का एक भारी षड्यन्त्र रचा था और किशोर अजात को अपने प्रभाव में लाकर राजशक्ति से भी उसमें सहायता लेना चाहता था- चाहता था कि गौतम से संघ में अहिंसा की ऐसी व्याख्या प्रचारित करावे जो कि जैन धर्म से मिलती हो, और उसके इस उद्देश्य में राजमाता की सहानुभूति का भी मिलना स्वाभाविक ही था।

बौद्ध-मत में बुद्ध ने कृत, दृष्ट और उद्दिष्ट-इन्हीं तीन प्रकार की हिंसाओं का निषेध किया था। यदि भिक्षा में मांस भी मिले, तो वर्जित नहीं था। किन्तु देवदत्त यह चाहता था कि 'संघ में यह नियम हो जाए कि कोई भिक्षु मांस खाए ही नहीं।' गौतम ने ऐसी आज्ञा नहीं प्रचारित की। देवदत्त को धर्म के बहाने छलना की सहानुभूति मिली और बड़ी रानी तथा बिम्बिसार के साथ, जो बुद्धभक्त थे, शत्रुता की जाने लगी।

इसी गृह-कलह को देखकर बिम्बिसार ने स्वयं सिंहासन त्याग दिया होगा और राजशक्ति के प्रलोभन से अजात को अपने पिता पर सन्देह रखने का कारण

हुआ होगा और विशेष नियन्त्रण की भी आवश्यकता रही होगी। देवदत्त और अजात के कारण गौतम को कष्ट पहुँचाने का निष्फल प्रयास हुआ। सम्भवत: इसी से अजात की क्रूरताओं का बौद्ध-साहित्य में बड़ा अतिरंजित वर्णन मिलता है।

कोसल-नरेश प्रसेनजित् के-शाक्य-दासी-कुमारी के गर्भ से उत्पन्न-कुमार का नाम विरुद्धक था। विरुद्धक की माता का नाम जातकों में बासभखत्तिया मिलता है। (उसी का कल्पित नाम शक्तिमती है) प्रसेनजित् अजात के पास सहायता के लिए राजगृह आया था, किन्तु 'भद्दसाल-जातक' में इसका विस्तृत विवरण मिलता है कि विद्रोही विरुद्धक गौतम के कहने पर फिर से अपनी पूर्व मर्यादा पर अपने पिता के द्वारा अधिष्ठित हुआ। इसने कपिलवस्तु का जनसंहार इसलिए चिढ़कर किया था कि शाक्यों ने धोखा देकर प्रसेनजित् से शाक्य-कुमारी के बदले एक दासीकुमारी से ब्याह कर दिया था, जिससे दासी-सन्तान होने के कारण विरुद्धक को अपने पिता के द्वारा अपदस्थ होना पड़ा था। शाक्यों के संहार के कारण बौद्धों ने इसे भी क्रूरता का अवतार अंकित किया है। 'भद्दसाल-कथा' के सम्बन्ध में जातक में कोसल-सेनापति बन्धुल और उसकी स्त्री मल्लिका का विशद वर्णन है। इस बन्धुल के पराक्रम से भीत होकर कोसल-नरेश ने इसकी हत्या करा डाली थी और इसका बदला लेने के लिए उसके भागिनेय दीर्घकारायण ने प्रसेनजित् से राजचिह्न लेकर क्रूर विरुद्धक को कोसल के सिंहासन पर अभिषिक्त किया।

प्रसेन और विरुद्धक सम्बन्धिनी घटना का वर्णन 'अवदान-कल्पलता' में भी मिलता है। बिम्बिसार और प्रसेन दोनों के पुत्र विद्रोही थे और तत्कालीन धर्म के उलट-फेर में गौतम के विरोधी थे। इसीलिए इनका क्रूरतापूर्ण अतिरंजित चित्र बौद्ध-इतिहास में मिलता है। उस काल के राष्ट्रों के उलट-फेर में धर्म-दुराग्रह ने भी सम्भवत: बहुत भाग लिया था।

मागन्धी (श्यामा), जिसके उकसाने से पद्मावती पर उदयन बहुत असन्तुष्ट हुए थे, ब्राह्मण-कन्या थी, जिसको उसके पिता गौतम से ब्याहना चाहते थे, और गौतम ने उसका तिरस्कार किया था। इसी मागन्धी को और बौद्धों के साहित्य में वर्णित आम्रपाली (अम्बपाली) को, हमने कल्पना द्वारा एक में मिलाने का साहस किया है। अम्बपाली पतिता और वेश्या होने पर भी गौतम के द्वारा अन्तिम काल में पवित्र की गई। (कुछ लोग जीवक को इसी का पुत्र मानते हैं।)

लिच्छवियों का निमन्त्रण अस्वीकार करके गौतम ने उसकी भिक्षा ग्रहण की थी। बौद्धों की 'यामावती वेश्या आम्रपाली, मागन्धी और इस नाटक की

'यामा वेश्या का एकत्र संघटन कुछ विचित्र तो होगा, किन्तु चरित्र का विकास और कौतुक बढ़ाना ही इसका उद्देश्य है।

सम्राट् अजातशत्रु के समय में मगध साम्राज्य-रूप में परिणत हुआय क्योंकि अंग और वैशाली को इसने स्वयं विजय किया था और काशी अब निर्विवाद रूप से उसके अधीन हो गई थी। कोसल भी इसका मित्रराष्ट्र था। उत्तरी भारत में यह इतिहासकाल का प्रथम सम्राट् हुआ। मथुरा के समीप परखम गाँव में मिली हुई अजातशत्रु की मूर्ति देखकर मिस्टर जायसवाल की सम्मति है कि अजातशत्रु ने सम्भवत: पश्चिम में मथुरा तक भी विजय किया था।इसमें अंतर्द्वन्द्व नाटकों का प्राण होता है। अजातशत्रु का मूलाधार भी अंतर्द्वन्द्व ही है। मगध,कोशल और कौशांबी में प्रज्वलित विरोध की अग्नि इस पूरे नाटक में फैली हुई है। उत्साह और शौर्य से परिपूर्ण इस नाटक में चरित्रों का सजीव चित्रण किया गया है। इसके प्रमुख पात्र मानवीय गुणों से ओतप्रोत है।

बंग-साहित्य-प्रेमियों के एक दल द्वारा अत्यन्त समादृत नाट्यकार द्विजेन्द्र बाबू का कथन है कि ''जिस नाटक में अंतर्द्वन्द्व दिखाया जाय वही नाटक उच्च श्रेणी का होता है। अन्तर्विरोध के रहे बिना उच्च श्रेणी का नाटक बन नहीं सकता।'' यह सिद्धांत किसी अंश में ठीक है, क्योंकि ऐसा होने से काव्य में प्रशंसित लोकोत्तर चमत्कार बढ़ता है। किन्तु, यही सिद्धांत चरम है, ऐसा मानना कठिन है, क्योंकि अंतर्विरोध से वाह्यद्वन्द्व जगत्, का उद्भव है और इस वाह्यद्वन्द्व कालक्रम से शीघ्र अवसान होता हैकृइसी का चित्रण कवि के अभीष्ट को शीघ्र समीप ले आता है।

अन्तर्द्वन्द्वमय अपूर्णता में घटना का अन्त कर देना, उसे कल्पना का क्षेत्र बना देना, छोटी-छोटी घटनाओं पर अवलम्बित आख्यायिकाओं का काम है। यदि नाटक अपने ऊपर यह भार उठावें तो उनसे वृत्तियों को केवल चंचलता की शिक्षा मिलेगी, और सन्देह-वाद की पुष्टि होगी। और, चरित्रगठन को उपकरण देने से, तथा मानव-समाज के ज्ञान-साधन में सहायक होने सेकृजो नाटक का उद्देश्य नहीं, तो निर्देश अवश्य है। वे अंतत: वंचित ही रहेंगे।

बाह्यद्वन्द्व के जगत का-हमारे जीवन से विशेष सान्निध्य है। इसी महानाटक से हम अपने चरित्र के लिए उपकरण ग्रहण करते हैं, आदर्श बनाते हैं, अनुकरण करते हैं। अत: जो चरित्र मानवता की साधारण गति के समीप होगा वही उसे विशेष शिक्षा देगा। साथ ही विशेष विनोद की सामग्री जुटावेगा। जो दूर है वह केवल कौतुक और आश्चर्य ही का उद्दीपन करेगा। वह, प्रबल प्रतिघात तथा

वृत्तियों को विपरीत धक्के खिलाकर उत्तेजित करके अथवा, बलवंती वासनाओं को दुर्दान्त मानवरूप में अति-चित्रण करके समाज में कुतूहल उपजावेगा। उसकी चंचलता बढ़ावेगा और उसमें क्रांति करा देगा। ऐसी ही नाटक, चाहे वे रचना में प्रसादान्त क्यों न हों, मानवता के लिए, परिणाम में विषादान्त होते हैं।

किन्तु जहाँ वासनाओं का चरित्र के साथ उत्थान और पतन तथा संघर्ष होगा, साथ ही उत्कट वासनाओं का आरम्भ होकर शान्त हृदय में अवसान होगा, वह नाटक मरणांत भले ही हो, किंन्तु है मानवता के लिए प्रसादान्त। 'प्रसाद' जी के नाटकों में एक यह भी मुख्य विशेषता है।

'अजातशत्रु' का अन्तिम दृश्य इसका प्रस्तुत प्रमाण है। यद्यपि अंत में बिम्बसार का लड़खड़ाना यवनिकापतन के साथ उसके मरण का घोतक है(किन्तु, जिन वाक्यों को कहता हुआ लड़खड़ता है वे वाक्य तथा उसी क्षण भगवान गौतम का प्रवेश, बिम्बसार के हृदय की तथा उस अवसर की पूर्ण शान्ति के सूचक हैं।

हाँ, 'प्रसाद' जी के नाटक ऐसे ही हैं। वे न तो केवल अन्तर्द्वन्द्व को लेकर मर्त्यलोक में, चतुर्मुख की मानसी सृष्टि की तरह चमत्कार पूर्ण किन्तु निःसार और निरवलम्ब की अवतारणा करते हैं, न केवल वाह्यद्वन्द्व दिखाकर मानवता के सामने पाशव आदर्श रखते हैं, वरन् वे इन दोनों अंगों के समुचित समिश्रण होने के कारण मानवता के उच्चतम आदर्श के पूर्ण व्यंजक हैं। अतएव मानवता की वे एक बड़ी भारी पूँजी हैं।

'प्रसाद' के आदर्शों में पवित्रता, उच्चता, भव्यता, आदि देव-ग्रंथ इसलिए हैं कि वे पूर्ण मनुष्य हैं। उनका बिम्बसार, मगधाधिप होने के कारण बड़ा नहीं। उसकी बड़ाई इसलिए है कि वह नीचे लिखे, तथा इसी प्रकार के अन्य वाक्यों द्वारा, उन संकीर्ण सामाजिक नियमों को, जिन्होंने मनुष्य को ऊँच-नीच के भिन्न-भिन्न प्रकार के बन्धनों में जकड़कर मानवता की पवित्रता को पददलित कर रक्खा है, किस जोरों में खण्डन करता है –

''यदि मैं सम्राट न होकर किसी विनम्र लता के कोमल किसलय झुरमुट में एक अधखिला फूल होता और संसार की दृष्टि मुझ पर न पड़ती, पवन की किसी लहर को सुरभित करके धीरे से उस थाले में चू पड़ता-तो इतना भीषण चीत्कार इस विश्व में न मचता।''

''चुप ! यदि मेरा नाम न जानते हो तो, 'मनुष्य' कह कर पुकारो। यह भयानक सम्बोधन (सम्राट) मुझे न चाहिए।'

इतना ही नहीं, उसके जीवन-भर में मानवता ओत-प्रोत है, और उसका पुत्र, क्रूर अजातशत्रु भी अन्त को इसके आगे सिर नवाता है।

इसी तरह 'प्रसाद' के लोकोत्तर चरित पात्रों को भी हम इसलिए श्रद्धा पूर्वक सिर नवाते हैं कि उनमें मानवता का पूर्ण विकास है। उनके बुद्ध इसलिए बुद्ध हैं–इसलिए अवतार हैं–कि वे मानवता के आदर्शों की पूर्ण मूर्ति हैं। यह नहीं कि, अवतार हैं, अतः उनमें इन आदर्शों की पूर्णता उपस्थित हुई है।

कवि की इस प्रतिभा पर बहुत कुछ कहा जा सकता है,

प्रसादयुगीन प्रतिनिधि रचनाकार

छायावादी कवियों के जीवन चरित्र तथा उनके काव्यों के विवेचन से इनकी चार कोटियाँ सामने आती हैं–

साहित्य साधक - इनका एक मात्र लक्ष्य साहित्य साधना करना था। आजीवन साहित्य साधना में लगे रहे।

जीवन केन्द्रित - ये कवि तत्कालीन सामाजिक - राजनीतिक आंदोलनों में सक्रिय भाग लेते थे। साथ-साथ काव्य सृजन का कार्य भी करते थे। इनका मुख्य लक्ष्य आंदोलन एवं साहित्य सृजन दोनों न होकर जीवन में सफलता प्राप्त करना था। इसलिए जीवन केन्द्रित कहा जा सकता है।

प्रणयी- ये कवि प्रेमी थे इनके जीवन का मुख्य लक्ष्य प्रणय था। इन्होंने लौकिक प्रेम को प्रधानता दी है तथा नारी के लौकिक, मांसल सौन्दर्य का चित्रण किया है। लौकिक सौन्दर्य का अनुभूतिपरक वर्णन सराहनीय है।

हास्य व्यंग्य

1. साहित्य साधक

"स्वांतः सुखाय तुलसी रघुनाथ गाथा–

भाषानिबंधमतिमंजुलमातनोति।।" के कहने वाले महाकवि, भक्त शिरोमणि गोस्वामी तुलसीदास वास्तविक साहित्य साधक थे। जीवन से दुखी, किसी से मोह माया नहीं रह गई थी अगर रही भी होगी तो स्मृति संचारी भाव में। यही स्थिति छायावादी मनीषियों तथा मनीषिणी की थी चारों वैयक्तिक जीवन के दुःख से संतप्त होकर उसे विस्मृत कर साहित्य साधना में लग गए थे। प्रसाद की पत्नियां मरती गईं, प्रेमिकाओं से सच्चा प्रेम न मिला। पंत आजीवन कुंवारे रहे। प्रेमिका मिली तो प्रकृति। निराला की पत्नी एवं सरोज की मृत्यु ने उनकी कमर

तोड़ दी। केवल स्मृतियों में संजोए रहे। महादेवी वर्मा का विवाह डॉ. एस.एन. वर्मा से हुआ किंतु आजीवन बिना तलाक के अलग रहीं। रत्नावली का परित्याग कर ही तुलसी गोस्वामी तुलसीदास बने। साहित्य साधना का आनन्द सच्चा साहित्यकार ही जानता है। छायावाद की चतुष्टयी के जयशंकर प्रसाद, सुमित्रा नंदन पंत, पंडित सूर्यकांत त्रिपाठी निराला तथा महादेवी वर्मा चारों साहित्यकार सच्चे साहित्य साधक थे।

सुमित्रानंदन पंत

सुमित्रनंदन पंत हिंदी साहित्य में छायावादी युग के चार प्रमुख स्तंभों में से एक हैं। इस युग को जयशंकर प्रसाद, महादेवी वर्मा, सूर्यकांत त्रिपाठी 'निराला' और रामकुमार वर्मा जैसे कवियों का युग कहा जाता है। उनका जन्म कौसानी बागेश्वर में हुआ था। झरना, बर्फ, पुष्प, लता, भ्रमर-गुंजन, उषा-किरण, शीतल पवन, तारों की चुनरी ओढ़े गगन से उतरती संध्या ये सब तो सहज रूप से काव्य का उपादान बने। निसर्ग के उपादानों का प्रतीक व बिम्ब के रूप में प्रयोग उनके काव्य की विशेषता रही। उनका व्यक्तित्त्व भी आकर्षण का केंद्र बिंदु था। गौर वर्ण, सुंदर सौम्य मुखाकृति, लंबे घुंघराले बाल, सुगठित शारीरिक सौष्ठव उन्हें सभी से अलग मुखरित करता था।

सुमित्रानन्दन पन्त का जन्म बागेश्वर जिले के कौसानी नामक ग्राम में 20 मई 1900 ई, को हुआ। जन्म के छह घंटे बाद ही उनकी माँ का निधन हो गया। उनका लालन-पालन उनकी दादी ने किया। उनका नाम गोसाईं दत्त रखा गया। वह गंगादत्त पंत की आठवीं संतान थे। 1910 में शिक्षा प्राप्त करने गवर्नमेंट हाईस्कूल अल्मोड़ा गये। यहीं उन्होंने अपना नाम गोसाईं दत्त से बदलकर सुमित्रनंदन पंत रख लिया। 1918 में मँझले भाई के साथ काशी गये और क्वींस कॉलेज में पढ़ने लगे। वहाँ से हाईस्कूल परीक्षा उत्तीर्ण कर म्योर कालेज में पढ़ने के लिए इलाहाबाद चले गए। 1921 में असहयोग आंदोलन के दौरान महात्मा गांधी के भारतीयों से अंग्रेजी विद्यालयों, महाविद्यालयों, न्यायालयों एवं अन्य सरकारी कार्यालयों का बहिष्कार करने के आह्वान पर उन्होंने महाविद्यालय छोड़ दिया और घर पर ही हिन्दी, संस्कृत, बँगला और अंग्रेजी भाषा-साहित्य का अध्ययन करने लगे। इलाहाबाद में ही उनकी काव्यचेतना का विकास हुआ। कुछ वर्षों के बाद उन्हें घोर आर्थिक संकट का सामना करना पड़ा। कर्ज से जूझते हुए पिता का निधन हो गया। कर्ज चुकाने के लिए जमीन और घर भी बेचना पड़ा।

इन्हीं परिस्थितियों में वह मार्क्सवाद की ओर उन्मुख हुये। 1931 में कुँवर सुरेश सिंह के साथ कालाकांकर, प्रतापगढ़ चले गये और अनेक वर्षों तक वहीं रहे। महात्मा गाँधी के सान्निध्य में उन्हें आत्मा के प्रकाश का अनुभव हुआ। 1938 में प्रगतिशील मासिक पत्रिका 'रूपाभ' का सम्पादन किया। श्री अरविन्द आश्रम की यात्रा से आध्यात्मिक चेतना का विकास हुआ। 1950 से 1957 तक आकाशवाणी में परामर्शदाता रहे। 1958 में 'युगवाणी' से 'वाणी' काव्य संग्रहों की प्रतिनिधि कविताओं का संकलन 'चिदम्बरा' प्रकाशित हुआ, जिसपर 1968 में उन्हें 'भारतीय ज्ञानपीठ' पुरस्कार प्राप्त हुआ। 1960 में 'कला और बूढ़ा चाँद' काव्य संग्रह के लिए 'साहित्य अकादमी पुरस्कार' प्राप्त हुआ। 1961 में 'पद्मभूषण' की उपाधि से विभूषित हुये। 1964 में विशाल महाकाव्य 'लोकायतन' का प्रकाशन हुआ। कालान्तर में उनके अनेक काव्य संग्रह प्रकाशित हुए। वह जीवन-पर्यन्त रचनारत रहे। अविवाहित पंत जी के अंतस्थल में नारी और प्रकृति के प्रति आजीवन सौन्दर्यपरक भावना रही। उनकी मृत्यु 28 दिसम्बर 1977 को हुई।

साहित्य सृजन

सात वर्ष की उम्र में, जब वे चौथी कक्षा में ही पढ़ रहे थे, उन्होंने कविता लिखना शुरु कर दिया था। 1918 के आसपास तक वे हिंदी के नवीन धारा के प्रवर्तक कवि के रूप में पहचाने जाने लगे थे। इस दौर की उनकी कविताएं वीणा में संकलित हैं। 1926 में उनका प्रसिद्ध काव्य संकलन 'पल्लव' प्रकाशित हुआ। कुछ समय पश्चात वे अपने भाई देवीदत्त के साथ अल्मोडा आ गये। इसी दौरान वे मार्क्स व फ्रायड की विचारधारा के प्रभाव में आये। 1938 में उन्होंने 'रूपाभ' नामक प्रगतिशील मासिक पत्र निकाला। शमशेर, रघुपति सहाय आदि के साथ वे प्रगतिशील लेखक संघ से भी जुडे रहे। वे 1950 से 1957 तक आकाशवाणी से जुड़े रहे और मुख्य-निर्माता के पद पर कार्य किया। उनकी विचारधारा योगी अरविन्द से प्रभावित भी हुई जो बाद की उनकी रचनाओं 'स्वर्णकिरण' और 'स्वर्णधूलि' में देखी जा सकती है। "वाणी" तथा "पल्लव" में संकलित उनके छोटे गीत विराट व्यापक सौंदर्य तथा पवित्रता से साक्षात्कार कराते हैं। "युगांत" की रचनाओं के लेखन तक वे प्रगतिशील विचारधारा से जुड़े प्रतीत होते हैं। "युगांत" से "ग्राम्या" तक उनकी काव्ययात्रा प्रगतिवाद के निश्चित व प्रखर स्वरों की उद्घोषणा करती है। उनकी साहित्यिक यात्रा के तीन प्रमुख पडाव हैं - प्रथम में

वे छायावादी हैं, दूसरे में समाजवादी आदर्शों से प्रेरित प्रगतिवादी तथा तीसरे में अरविन्द दर्शन से प्रभावित अध्यात्मवादी। 1907 से 1918 के काल को स्वयं उन्होंने अपने कवि-जीवन का प्रथम चरण माना है। इस काल की कविताएँ वाणी में संकलित हैं। सन् 1922 में उच्छ्वास और 1926 में पल्लव का प्रकाशन हुआ। सुमित्रानंदन पंत की कुछ अन्य काव्य कृतियाँ हैं - ग्रन्थि, गुंजन, ग्राम्या, युगांत, स्वर्णकिरण, स्वर्णधूलि, कला और बूढ़ा चाँद, लोकायतन, चिदंबरा, सत्यकाम आदि। उनके जीवनकाल में उनकी 28 पुस्तकें प्रकाशित हुई, जिनमें कविताएं, पद्य-नाटक और निबंध शामिल हैं। पंत अपने विस्तृत वांग्मय में एक विचारक, दार्शनिक और मानवतावादी के रूप में सामने आते हैं, किंतु उनकी सबसे कलात्मक कविताएं 'पल्लव' में संगृहीत हैं, जो 1918 से 1925 तक लिखी गई 32 कविताओं का संग्रह है। इसी संग्रह में उनकी प्रसिद्ध कविता 'परिवर्तन' सम्मिलित है। 'तारापथ' उनकी प्रतिनिधि कविताओं का संकलन है। उन्होंने ज्योत्स्ना नामक एक रूपक की रचना भी की है। उन्होंने मधुज्वाल नाम से उमर खटयाम की रुबाइयों के हिंदी अनुवाद का संग्रह निकाला और डॉ. हरिवंश राय बच्चन के साथ संयुक्त रूप से खादी के फूल नामक कविता संग्रह प्रकाशित करवाया।

विचारधारा

उनका संपूर्ण साहित्य 'सत्यं शिवं सुन्दरम्' के आदर्शों से प्रभावित होते हुए भी समय के साथ निरंतर बदलता रहा है। जहां प्रारंभिक कविताओं में प्रकृति और सौंदर्य के रमणीय चित्र मिलते हैं वहीं दूसरे चरण की कविताओं में छायावाद की सूक्ष्म कल्पनाओं व कोमल भावनाओं के और अंतिम चरण की कविताओं में प्रगतिवाद और विचारशीलता के। उनकी सबसे बाद की कविताएं अरविंद दर्शन और मानव कल्याण की भावनाओं से ओतप्रोत हैं। पंत परंपरावादी आलोचकों और प्रगतिवादी तथा प्रयोगवादी आलोचकों के सामने कभी नहीं झुके। उन्होंने अपनी कविताओं में पूर्व मान्यताओं को नकारा नहीं। उन्होंने अपने ऊपर लगने वाले आरोपों को 'नम्र अवज्ञा' कविता के माध्यम से खारिज किया। वह कहते थे 'गा कोकिला संदेश सनातन, मानव का परिचय मानवपन।'

पुरस्कार व सम्मान

हिंदी साहित्य सेवा के लिए उन्हें पद्मभूषण(1961), ज्ञानपीठ(1968), साहित्य अकादमी, तथा सोवियत लैंड नेहरू पुरस्कार जैसे उच्च श्रेणी के सम्मानों

से अलंकृत किया गया। सुमित्रानंदन पंत के नाम पर कौसानी में उनके पुराने घर को, जिसमें वह बचपन में रहा करते थे, 'सुमित्रानंदन पंत वीथिका' के नाम से एक संग्रहालय के रूप में परिवर्तित कर दिया गया है। इसमें उनके व्यक्तिगत प्रयोग की वस्तुओं जैसे कपड़ों, कविताओं की मूल पांडुलिपियों, छायाचित्रों, पत्रों और पुरस्कारों को प्रदर्शित किया गया है। इसमें एक पुस्तकालय भी है, जिसमें उनकी व्यक्तिगत तथा उनसे संबंधित पुस्तकों का संग्रह है।

स्मृति विशेष

सन 2015 में पन्त जी की याद में एक डाक-टिकट जारी किया गया था।

उत्तराखण्ड में कुमायूँ की पहाड़ियों पर बसे कौसानी गांव में, जहाँ उनका बचपन बीता था, वहां का उनका घर आज 'सुमित्रा नंदन पंत साहित्यिक वीथिका' नामक संग्रहालय बन चुका है। इस में उनके कपड़े, चश्मा, कलम आदि व्यक्तिगत वस्तुएं सुरक्षित रखी गई हैं। संग्रहालय में उनको मिले ज्ञानपीठ पुरस्कार का प्रशस्तिपत्र, हिंदी साहित्य सम्मेलन द्वारा मिला साहित्य वाचस्पति का प्रशस्तिपत्र भी मौजूद है। साथ ही उनकी रचनाएं लोकायतन, आस्था आदि कविता संग्रह की पांडुलिपियां भी सुरक्षित रखी हैं। कालाकांकर के कुंवर सुरेश सिंह और हरिवंश राय बच्चन से किये गये उनके पत्र व्यवहार की प्रतिलिपियां भी यहां मौजूद हैं।

संग्रहालय में उनकी स्मृति में प्रत्येक वर्ष पंत व्याख्यान माला का आयोजन होता है। यहाँ से 'सुमित्रानंदन पंत व्यक्तित्त्व और कृतित्त्व' नामक पुस्तक भी प्रकाशित की गई है।

रामनरेश त्रिपाठी

रामनरेश त्रिपाठी जन्म- 4 मार्च, 1881, कोइरीपुर, जौनपुर, उत्तर प्रदेश, मृत्यु- 16 जनवरी, 1962, प्रयाग) प्राक्छायावादी युग के महत्त्वपूर्ण कवि थे, जिन्होंने राष्ट्रप्रेम की कविताएँ भी लिखीं। इन्होंने कविता के अलावा उपन्यास, नाटक, आलोचना, हिन्दी साहित्य का संक्षिप्त इतिहास तथा बालोपयोगी पुस्तकें भी लिखीं। इनकी मुख्य काव्य कृतियाँ हैं- 'मिलन, 'पथिक, 'स्वप्न तथा 'मानसी। रामनरेश त्रिपाठी ने लोक-गीतों के चयन के लिए कश्मीर से कन्याकुमारी और सौराष्ट्र से गुवाहाटी तक सारे देश का भ्रमण किया। 'स्वप्न' पर इन्हें हिंदुस्तान अकादमी का पुरस्कार मिला।

जीवन परिचय

'हे प्रभो! आनन्ददाता ज्ञान हमको दीजिए' जैसा प्रेरणादायी गीत रचकर, प्रार्थना के रूप में स्कूलों में छात्रों व शिक्षकों की वाणी में बसे, महाकवि पंडित रामनरेश त्रिपाठी साहित्य के आकाश के चमकीले नक्षत्र थे। रामनरेश त्रिपाठी का जन्म जिला जौनपुर के कोइरीपुर नामक गाँव में 4 मार्च, सन् 1881 ई. में एक कृषक परिवार में हुआ था। उनके पिता 'पंडित रामदत्त त्रिपाठी' परम धर्म व सदाचार परायण ब्राह्मण थे। पंडित रामदत्त त्रिपाठी भारतीय सेना में सूबेदार के पद पर रह चुके थे, उनका रक्त पंडित रामनरेश त्रिपाठी की रगों में धर्मनिष्ठा, कर्त्तव्यनिष्ठा व राष्ट्रभक्ति की भावना के रूप में बहता था। उन्हें अपने परिवार से ही निर्भीकता और आत्मविश्वास के गुण मिले थे। पंडित त्रिपाठी की प्रारम्भिक शिक्षा गाँव के प्राइमरी स्कूल में हुई। जूनियर कक्षा उत्तीर्ण कर हाईस्कूल वह निकटवर्ती जौनपुर जिले में पढ़ने गए, मगर वह हाईस्कूल की शिक्षा पूरी नहीं कर सके। पिता से अनबन होने पर अट्ठारह वर्ष की आयु में वह कलकत्ता चले गए।

हे प्रभो आनन्ददाता की रचना

पंडित त्रिपाठी में कविता के प्रति रुचि प्राथमिक शिक्षा प्राप्त करते समय जाग्रत हुई थी। वह कलकत्ता में संक्रामक रोग हो जाने की वजह से अधिक समय तक नहीं रह सके। वह स्वास्थ्य सुधार के लिए एक व्यक्ति की सलाह मानकर जयपुर के सीकर ठिकाना स्थित फतेहपुर ग्राम में 'सेठ रामवल्लभ नेवरिया' के पास चले गए। यह एक संयोग ही था कि मरणासन्न स्थिति में वह अपने घर परिवार में न जाकर सुदूर अपरिचित स्थान राजपूताना के एक अजनबी परिवार में जा पहुँचे जहाँ शीघ्र ही इलाज व स्वास्थ्यप्रद जलवायु पाकर रोगमुक्त हो गए। पंडित त्रिपाठी ने सेठ रामवल्लभ के पुत्रों की शिक्षा-दीक्षा की जिम्मेदारी को कुशलतापूर्वक निभाया। इस दौरान उनकी लेखनी पर माँ सरस्वती की मेहरबानी हुई और उन्होंने "हे प्रभो! आनन्ददाता.." जैसी बेजोड़ रचना कर डाली जो आज भी अनेक स्कूलों में प्रार्थना के रूप में गाई जाती है।

साहित्य साधना की शुरुआत

पंडित त्रिपाठी की साहित्य साधना की शुरुआत फतेहपुर में होने के बाद उन्होंने उन दिनों तमाम छोटे-बड़े बालोपयोगी काव्य संग्रह, सामाजिक उपन्यास

और हिन्दी महाभारत लिखे। उन्होंने हिन्दी तथा संस्कृत के सम्पूर्ण साहित्य का गहन अध्ययन किया। पंडित त्रिपाठी ज्ञान एवं अनुभव की संचित पूंजी लेकर वर्ष 1915 में पुण्यतीर्थ एवं ज्ञानतीर्थ प्रयाग गए और उसी क्षेत्र को उन्होंने अपनी कर्मस्थली बनाया। उन्होंने थोड़ी पूंजी से प्रकाशन का व्यवसाय भी आरम्भ किया। पंडित त्रिपाठी ने गद्य और पद्य दोनों में रचनाएँ की तथा मौलिकता के नियम को ध्यान में रखकर रचनाओं को अंजाम दिया। हिन्दी जगत में वह मार्गदर्शी साहित्यकार के रूप में अवरित हुए और सारे देश में लोकप्रिय हो गए।

हिन्दी के प्रथम एवं सर्वोत्कृष्ट राष्ट्रीय खण्डकाव्य "पथिक" की रचना उन्होंने वर्ष 1920 में 21 दिन में की। इसके अतिरिक्त उनके प्रसिद्ध मौलिक खण्डकाव्यों में "मिलन" और "स्वप्न" भी शामिल हैं। उन्होंने बड़े परिश्रम से 'कविता कौमुदी' के सात विशाल एवं अनुपम संग्रह-ग्रंथों का भी सम्पादन एवं प्रकाशन किया। पंडित त्रिपाठी कलम के धनी ही नहीं बल्कि कर्मशूर भी थे। महात्मा गाँधी के निर्देश पर त्रिपाठी जी हिन्दी साहित्य सम्मेलन के प्रचार मंत्री के रूप में हिन्दी जगत के दूत बनकर दक्षिण भारत गए थे। वह पक्के गांधीवादी देशभक्त और राष्ट्र सेवक थे। स्वाधीनता संग्राम और किसान आन्दोलनों में भाग लेकर वह जेल भी गए। पंडित त्रिपाठी को अपने जीवन काल में कोई राजकीय सम्मान तो नहीं मिला पर उससे भी कही ज्यादा गौरवपद लोक सम्मान तथा अक्षय यश उन पर अवश्य बरसा।

स्वच्छन्दतावादी कवि

रामनरेश त्रिपाठी स्वच्छन्दतावादी भावधारा के कवि के रूप में प्रतिष्ठित हुए हैं। इनसे पूर्व श्रीधर पाठक ने हिन्दी कविता में स्वच्छन्दतावाद (रोमाण्टिसिज्म) को जन्म दिया था। रामनरेश त्रिपाठी ने अपनी रचनाओं द्वारा उक्त परम्परा को विकसित किया और सम्पन्न बनाया। देश प्रेम तथा राष्ट्रीयता की अनुभूतियाँ इनकी रचनाओं का मुख्य विषय रही हैं। हिन्दी कविता के मंच पर ये राष्ट्रीय भावनाओं के गायक के रूप में बहुत लोकप्रिय हुए। प्रकृति-चित्रण में भी इन्हें अदभुत सफलता प्राप्त हुई है।

काव्य कृतियाँ

इनकी चार काव्य कृतियाँ उल्लेखनीय हैं-

'मिलन' (1918 ई.)

'पथिक' (1921 ई.)

'मानसी' (1927 ई.)

'स्वप्न' (1929 ई.)। इनमें 'मानसी' फुटकर कविताओं का संग्रह है और शेष तीनों कृतियाँ प्रेमाख्यानक खण्डकाव्य है।

खण्ड काव्य

रामनरेश त्रिपाठी ने खण्ड काव्यों की रचना के लिए किन्हीं पौराणिक अथवा ऐतिहासिक कथा सूत्रों का आश्रय नहीं लिया है, वरन् अपनी कल्पना शक्ति से मौलिक तथा मार्मिक कथाओं की सृष्टि की है। कवि द्वारा निर्मित होने के कारण इन काव्यों के चरित्र बड़े आकर्षक हैं और जीवन के साँचे में ढाले हुए जान पड़ते हैं। इन तीनों ही खण्ड काव्यों की एक सामान्य विशेषता यह है कि इनमें देशभक्ति की भावनाओं का समावेश बहुत ही सरसता के साथ किया गया है। उदाहरण के लिए 'स्वप्न' नामक खण्ड काव्य को लिया जा सकता है। इसका नायक वसन्त नामक नवयुवक एक ओर तो अपनी प्रिया के प्रगाढ़ प्रेम में लीन रहना चाहता है, मनोरम प्रकृति के क्रोड़ में उसके साहचर्य-सुख की अभिलाषा करता है और दूसरी ओर समाज का दुख-दर्द दूर करने के लिए राष्ट्रोद्धार की भावना से आन्दोलित होता रहता है। उसके मन में इस प्रकार का अन्तर्द्वन्द बहुत समय तक चलता है। अन्ततः वह अपनी प्रिया के द्वारा प्रेरित किये जाने पर राष्ट्र प्रेम को प्राथमिकता देता है और शत्रुओं द्वारा पदाक्रान्त स्वेदश की रक्षा एवं उद्धार करने में सफल हो जाता है। इस प्रकार की भावनाओं से परिपूर्ण होने के कारण रामनरेश त्रिपाठी के काव्य बहुत दिनों तक राष्ट्रप्रेमी नवयुवकों के कण्ठहार बन हुए थे।

प्रकृति चित्रण

रामनरेश त्रिपाठी अपनी काव्य कृतियों में प्रकृति के सफल चितेरे रहे हैं। इन्होंने प्रकृति चित्रण व्यापक, विशद और स्वतंत्र रूप में किया है। इनके सहज-मनोरम प्रकृति-चित्रों में कहीं-कहीं छायावाद की झलक भी मिल जाती है। उदाहरण के लिए 'पथिक' की दो पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं-

"प्रति क्षण नूतन वेष बनाकर रंग-विरंग निराला।
रवि के सम्मुख थिरक रही है नभ में वारिद माला"

भाषा

प्रकृति चित्र हों, या अन्यान्य प्रकार के वर्णन, सर्वत्र रामनरेश त्रिपाठी ने भाषा का बहुत ख्याल रखा है। इनके काव्यों की भाषा शुद्ध, सहज खड़ी बोली है, जो इस रूप में हिन्दी काव्य में प्रथम बार प्रयुक्त दिखाई देती है। इनमें व्याकरण तथा वाक्य-रचना सम्बन्धी त्रुटियाँ नहीं मिलतीं। इन्होंने कहीं-कहीं उर्दू के प्रचलित शब्दों और उर्दू-छन्दों का भी व्यवहार किया है-

"मेरे लिए खड़ा था दुखियों के द्वार पर तू।
मैं बाट जोहता था तेरी किसी चमन में॥
बनकर किसी के आँसू मेरे लिए बहा तू।
मैं देखता तुझे था माशूक के बदन में"॥

कृतियाँ

उपन्यास तथा नाटक

रामनरेश त्रिपाठी ने काव्य-रचना के अतिरिक्त उपन्यास तथा नाटक लिखे हैं, आलोचनाएँ की हैं और टीका भी। इनके तीन उपन्यास उल्लेखनीय हैं-

'वीरागंना' (1911 ई.),
'वीरबाला' (1911 ई.),
'लक्ष्मी' (1924 ई.)

नाट्य कृतियाँ

तीन उल्लेखनीय नाट्य कृतियाँ हैं-

'सुभद्रा' (1924 ई.),
'जयन्त' (1934 ई.),
'प्रेमलोक' (1934 ई.)

सियाराम शरण गुप्त

स्वर्गीय राष्ट्र कवि मैथिलीशरण गुप्त के अनुज सियाराम शरण गुप्त (सन् 1895-1963 ई) का जन्म ग्राम चिरगांव, जनपद झांसी, उत्तर प्रदेश में हुआ था। शरीरिक रुग्नता एवं पारिवारिक दुखों ने इनके जीवन को अति दुखमय बना दिया था। सरसता एवं नम्रता इनमें कूट कूट कर भरी हुई थी।

भगवती चरण वर्मा

भगवती चरण वर्मा का जन्म सन् 1903 ई. में हुआ। इनकी कविताएं सन् 1917 से 'प्रताप' में प्रकाशित होने लगीं थी। स्पष्ट हो जाता है कि चौदह वर्ष की आयु से ही काव्य सृजन प्रारंभ कर दिया था।

साहित्यिक विशेषताएं–इनकी अनुभूति दो रूपों में अभिव्यक्त हुई है–जिसमें पहला जहां ये अपनी मस्ती एवं फक्कड़पने में अपने विचारों को अभिव्यक्ति प्रदान करते हैं–

हरिवंश राय बच्चन

हरिवंश राय बच्चन (27 नवम्बर 1907 - 18 जनवरी 2003) हिन्दी भाषा के एक कवि और लेखक थे। अलाहाबाद के प्रवर्तक बच्चन हिन्दी कविता के उत्तर छायावत काल के प्रमुख कवियों में से एक हैं। उनकी सबसे प्रसिद्ध कृति मधुशाला है। भारतीय फिल्म उद्योग के प्रख्यात अभिनेता अमिताभ बच्चन उनके सुपुत्र हैं।

उन्होंने इलाहाबाद विश्वविद्यालय में अंग्रेजी का अध्यापन किया। बाद में भारत सरकार के विदेश मंत्रालय में हिन्दी विशेषज्ञ रहे। अनन्तर राज्य सभा के मनोनीत सदस्य। बच्चन जी की गिनती हिन्दी के सर्वाधिक लोकप्रिय कवियों में होती है।

जीवन

बच्चन का जन्म 27 नवम्बर 1907 को इलाहाबाद में एक कायस्थ परिवार में हुआ था। इनके पिता का नाम प्रताप नारायण श्रीवास्तव तथा माता का नाम सरस्वती देवी था। इनको बाल्यकाल में 'बच्चन' कहा जाता था जिसका शाब्दिक अर्थ 'बच्चा' या 'संतान' होता है। बाद में ये इसी नाम से मशहूर हुए। इन्होंने कायस्थ पाठशाला में पहले उर्दू और फिर हिंदी की शिक्षा प्राप्त की। उन्होंने इलाहाबाद विश्वविद्यालय से अंग्रेजी में एमए. और कैम्ब्रिज विश्वविद्यालय से अंग्रेजी साहित्य के विख्यात कवि डब्लू.बी. यीट्स की कविताओं पर शोध कर P-H-D(पी.एच.डी) पूरी की थी । 1926 में 19 वर्ष की उम्र में उनका विवाह 'यामा बच्चन से हुआ जो उस समय 14 वर्ष की थीं। लेकिन 1936 में 'यामा की टीबी के कारण मृत्यु हो गई। पाँच साल बाद 1941 में बच्चन ने एक पंजाबन तेजी सूरी से विवाह किया जो रंगमंच तथा गायन से जुड़ी हुई थीं। इसी समय

उन्होंने 'नीड़ का निर्माण फिर' जैसे कविताओं की रचना की। उनके पुत्र अमिताभ बच्चन एक प्रसिद्ध अभिनेता हैं।

प्रमुख कृतियाँ

कविता संग्रह

तेरा हार (1929),
मधुशाला (1935),
मधुबाला (1936),
मधुकलश (1937),
आत्म परिचय (1937),
निशा निमंत्रण (1938),
एकांत संगीत (1939),
आकुल अंतर (1943),
सतरंगिनी (1945),
हलाहल (1946),
बंगाल का काल (1946),
खादी के फूल (1948),
सूत की माला (1948),
मिलन यामिनी (1950),
प्रणय पत्रिका (1955),
धार के इधर-उधर (1957),
आरती और अंगारे (1958),
बुद्ध और नाचघर (1958),
त्रिभंगिमा (1961),
चार खेमे चौंसठ खूंटे (1962),
दो चट्टानें (1965),
बहुत दिन बीते (1967),
कटती प्रतिमाओं की आवाज (1968),
उभरते प्रतिमानों के रूप (1969),
जाल समेटा (1973)

नई से नई–पुरानी से पुरानी (1985)

आत्मकथा

क्या भूलूँ क्या याद करूँ (1969),
नीड़ का निर्माण फिर (1970),
बसेरे से दूर (1977),
दशद्वार से सोपान तक (1985)

विविध

बच्चन के साथ क्षण भर (1934),
खय्याम की मधुशाला (1938),
सोपान (1953),
मैकबेथ (1957),
जनगीता (1958),
ओथेलो (1959),
उमर खय्याम की रुबाइयाँ (1959),
कवियों में सौम्य संतः पंत (1960),
आज के लोकप्रिय हिन्दी कवि– सुमित्रानंदन पंत (1960),
आधुनिक कवि (1961),
नेहरू– राजनैतिक जीवनचरित (1961),
नये पुराने झरोखे (1962),
अभिनव सोपान (1964)
चौंसठ रूसी कविताएँ (1964)
नागर गीता (1966),
बच्चन के लोकप्रिय गीत (1967)
डब्लू बी यीट्स एंड अकल्टिजम (1968)
मरकत द्वीप का स्वर (1968)
हैमलेट (1969)
भाषा अपनी भाव पराये (1970)
पंत के सौ पत्र (1970)
प्रवास की डायरी (1971)

किंग लियर (1972)

टूटी छूटी कड़ियाँ (1973)

पुरस्कार/सम्मान

उनकी कृति दो चट्टानें को 1968 में हिन्दी कविता के साहित्य अकादमी पुरस्कार से सम्मानित किया गया था। इसी वर्ष उन्हें सोवियत लैंड नेहरू पुरस्कार तथा एफ्रो एशियाई सम्मेलन के कमल पुरस्कार से भी सम्मानित किया गया। बिड़ला फाउण्डेशन ने उनकी आत्मकथा के लिए उन्हें सरस्वती सम्मान दिया था। बच्चन को भारत सरकार द्वारा 1976 में साहित्य एवं शिक्षा के क्षेत्र में पद्म भूषण से सम्मानित किया गया था।

4

प्रसादोत्तर-युगीन नाटक

प्रसाद के उपरान्त इस परंपरा ने विशेष बल पकड़ा और उसकी अनेक धाराएँ हो गयी .इन धाराओं का निम्नलिखित संक्षिप्त विवेचन हैं -

ऐतिहासिक नाटक

ऐतिहासिक नाताकारों में हरिकृष्ण प्रेमी,वृंदावन लाल वर्मा,आचार्य चतुरसेन शाष्त्री,जगदीश चन्द्र माथुर आदि उल्लेखनीय हैं। हरिकृष्ण प्रेमी के नाटकों में प्रमुख है,रक्षाबंधन, शिवासाधना, प्रतिशोध, आहुति, स्वप्न भंग, विषपान शपथ वृन्दावनलाल वर्मा ने राखी की लाज,कश्मीर का काँटा,झाँसी की रानी,हंस मयूर,बीरबल आदि तथा जगदीशचंद्र माथुर ने कोणार्क एवं शारदीय की रचना कर इस परम्परा को आगे बढाया।

समस्यामूलक नाटक

इक्सन और बर्नाड शॉ से प्रभावित होकर हिंदी में भी अनेक समस्या मूलक नाटकों की रचना हुई है। जिसमें मुख्य इस प्रकार है- श्री उपेन्द्रनाथ अश्क ने झलक, कैद, उड़ान आदि .लक्ष्मी नारायण मिश्र ने राक्षस का मंदिर,मुक्ति का रहस्य, सिंदूर की होली,आधी रात,गुड़िया का घर, वत्सराज आदि .सेठ गोविन्द दास ने हर्ष, प्रकाश, कर्तव्य, सेवापथ, दु:ख क्यों,बड़ा पापी कौन आदि लिखा है।

इनमें मिश्र जी का दृष्टिकोण बुद्धिवादी है। समस्याओं के साथ पात्रों की मन स्थिति तथा द्वंदू का भी इन्होने यथार्थ चित्रण किया है। सेठ गोविन्ददास ने अपने नाटकों की समस्याओं को तल दृष्टि से देखा है। चरित्र चित्रण तथा रंग मंच की दृष्टि से इनके नाटक अच्छे हैं। अश्क के नाटकों में सामायिक जीवन की समस्याओं का यथार्थवादी चित्रण मिलता हैं। इन्हें रंगमंच की आवश्यकता का पूर्ण ज्ञान हैं। मोहन राकेश बहुमुखी प्रतिभा संपन्न साहित्यकार है।किंतु नाटककार के रूप में उनका स्थान सर्वोपरी है।आधुनिक हिन्दी नाटक के विकास यात्रा में 'आषाढ़ का एक दिन', 'लहरों के राजहंस' तथा 'आधे - अधूरे' ने महत्वपूर्ण योगदान निभाया है।उन्होंने अपनी मौलिक दृष्टि, भावपूर्ण संवेदना तथा जीवन के अनुभव - वैविध्य के आधार पर हिन्दी नाटक को कथ्य एवं शिल्प पर परंपरागत दृष्टिकोण से मुक्त कर विकास के नये आयामों से परिचित कराया। रंगमंच की दृष्टि से मोहन राकेश का आषाढ़ का एक दिन' नाटक सर्वोत्तम हैं। इसीलिए रंगमंच के लिए उक्त नाटक अनुकूल है।

प्रसादोत्तर-युगीन नाटक अधिकाधिक यथार्थ की ओर उन्मुख दिखाई पड़ते हैं। परन्तु भारत के सामने एक विशिष्ट उद्देश्य था राष्ट्र की स्वाधीनता की प्राप्ति और विदेशी शासकों के अत्याचारों से मुक्ति प्राप्त करना, फलस्वरूप व्यापक स्तर पर पुनरुत्थान एवं पुनर्जागरण की लहर फैल गई। इस समूचे काल में पुनर्जागरण की शक्तियों का प्रभाव होने के कारण चेतना के स्तर पर भावुक, आवेशात्मक, आदर्शवादी, प्रवृत्तियों से आक्रांत होना नाटककारों के लिए स्वाभाविक था। यही कारण है कि प्रसादोत्तर काल तक किंचित परिवर्तनों के साथ सभी रचनाकारों की दृष्टि मूलत: आस्था, मर्यादा एवं गौरव के उच्चादर्शों से मंडित रही। भारतेन्दु ने अपनी अद्‌भुत व्यंग्यशक्ति एवं समाज-विश्लेषण की पैनी दृष्टि से सामाजिक यथार्थ का चित्रण किया परन्तु उनकी मूल चेतना सुधारवादी आग्रहों का परिणाम होने के कारण आस्थामूलक थी। द्विवेदी युग में भी दो दशकों के अनवरत साहित्यिक अनुशासन आदर्शवादी मर्यादा एवं नैतिकता के कठोर बन्धन के कारण यथार्थ के स्वर मिद्धम पड़ गए। प्रसाद युगीन नाटकों की मूलधारा भी राष्ट्रीय एवं सांस्कृतिक आदर्श चेतना से सम्बन्धित थी परन्तु खल पात्रों की चारित्रिक दुर्बलताओं तथा सद् पात्रों की जीवन चरित्र-सृष्टि में यथार्थ चेतना को नकारा नहीं जा सकता। 19वीं शताब्दी में पश्चिमी नाट्य साहित्य में इब्सन् एवं शॉ द्वारा प्रवर्तित यथार्थवादी नाट्यान्दोलन ने भारतीय नाट्य साहित्य की गतिविधियों को भी प्रेरित एवं प्रभावित किया। लक्ष्मी नारायण मिश्र ने समस्या नाटकों का सूत्रपात

करके बुद्धिवादी यथार्थ को प्रतिष्ठित करने का दावा किया है। परन्तु सिद्धांत एवं प्रयोग में पर्याप्त अन्तर पाते हुए हम देखते हैं कि एक ओर वैचारिक धरातल पर प्रकृतवाद सुलभ जीवन के क्रांतिव्यंजक सम्बन्ध उभरते हैं, वहीं दूसरी ओर समाधान खोजते हुए परम्परा के प्रति भावुकता-सिक्त दृष्टि भी पाई जाती है। 'भावात्मकता और बौद्धकता' का घपला होने के कारण उनके नाटकों का मूल स्वर यथार्थ से बिखर जाता है। स्वतंत्रता प्राप्ति से पूर्व अन्य युगीन सामाजिक समस्याओं के साथ राष्ट्र की मुक्ति का प्रश्न सभी नाटककारों की चेतना पर छाया हुआ था। स्वाधीन भारत से उन्हें अनेक प्रकार की मीठी अपेक्षाएं थी, परन्तु विडम्बना यह है कि स्वाधीनता प्राप्ति के बाद जीवन समस्याओं से आक्रांत, बोझिल और जटिल हो उठा। परिवेश के दबाव से ही यथार्थ बोध की शुरुआत हुई।

लक्ष्मीनारायण मिश्र ने अपने नाटक का लेखन प्रसाद-युग में ही प्रारम्भ किया था। उनके अशोक (1927), संन्यासी (1829), 'मुक्ति का रहस्य' (1932), राक्षस का मन्दिर (1932), 'राजयोग' (1934), सिन्दूर की होली (1934), 'आधी रात' (1934) आदि नाटक इसी काल के हैं। किन्तु मिश्र जी के इन नाटकों में भारतेन्दु और प्रसाद की नाट्यधारा से भिन्न प्रवृत्तियां दृष्टिगोचर होती हैं। जैसा कि पहले संकेत किया जा चुका है कि भारतेन्दु और प्रसाद-युग के नाटकों का दृष्टिकोण मूलत: राष्ट्रीय और सांस्कृतिक था। यद्यपि इस युग के नाटकों में आधुनिक यथार्थवादी धारा का प्रादुर्भाव हो चुका था। तथापि प्राचीन सांस्कृतिक आदर्शों के द्वारा राष्ट्रीयता का उद्‌घोष इस युग के नाटककारों का प्रमुख लक्ष्य था। अत: उसे हम सांस्कृतिक पुनरुत्थान की दृष्टि कह सकते हैं, जिनमें प्राचीन सांस्कृतिक मूल्यों और नयी यथार्थवादी चेतना में समन्वय और सन्तुलन परिलक्षित होता है। मिश्र जी नयी चेतना के प्रयोग के अग्रदूत माने जाते हैं। डॉ. विजय बापट के मतानुसार नयी बौद्धक चेतना का विनियोग सर्वप्रथम उन्हीं के तथाकथित समस्या नाटकों में मिलता है। इस बौद्धक चेतना और वैज्ञानिक दृष्टि का प्रादुर्भाव बीसवीं शताब्दी में पश्चिमी चिन्तकों के प्रभाव से हुआ था। डारविन द्वारा प्रतिपादित विकासवादी सिद्धान्त, फ्रायड के मनोविश्लेषण सिद्धान्त और मार्क्स के द्वन्द्वात्मक भौतिकतावादी सिद्धान्तों ने यूरोप को ही नहीं, भारतीय जीवन पद्धति को भी प्रभावित किया जिसके फलस्वरूप जीवन में आस्था और श्रद्धा की बजाय तर्क को प्रोत्साहन मिला। पश्चिम में इस प्रकार की बौद्धिक चेतना ने समस्या नाटक को जन्म दिया। उन्हीं की प्रेरणा से मिश्र जी

ने भी हिन्दी नाटकों में भावुकता, रसात्मकता और आनन्द के स्थान पर तर्क और बौद्धकता का समावेश किया। साथ ही द्रष्टव्य है कि बुद्धवादी दृष्टिकोण अपनाते हुए भी वे परम्परा-मोह से मुक्त नहीं हो पाए। युगीन मूल्यगत अन्तर्विरोधी चेतना समान रूप से उनके प्रत्येक नाटकों में देखी जा सकती है। इनके नाटकों का केन्द्रीय विषय स्त्री-पुरुष सम्बन्ध एवं सेक्स है। राष्ट्रोद्धार, विश्व-प्रेम आदि के मूल में भी मिश्र जी ने काम भावना को ही रखा है, जो परितृप्ति के अभाव में अपनी दमित वृत्ति को देश सेवा आदि के रूप में अभिव्यक्त करती है और प्रायः इस प्रकार परितष्प्ति' के साधन जुटा लेती है।

मिश्र जी के नाटकों के साथ हिन्दी-नाटक के विषय और शिल्प दोनों में बदलाव आया है। मिश्र जी के सभी नाटक तीन अंकों के हैं। इनमें इब्सन की नाट्य पद्धति का अनुसरण कर किसी भी अंक में बाह्यतः कोई दृश्य विभाजन नहीं रखा गया है यद्यपि दृश्य-परिवर्तन की सूचना यत्र-तत्र अवश्य दे दी जाती है। प्रेम, विवाह और सेक्स के क्षेत्र में विघटित जीवन मूल्यों की अभिव्यक्ति के लिए मिश्र जी ने शिल्पगत नवीनता को अपनाया है। पात्र समस्या के सम्बन्ध में तर्कमूलक वाद-विवाद करते हुए दिखाई देते हैं। कार्य-व्यापार के अभाव से इनके नाटकों में रुक्षता आ गई। जिसके फलस्वरूप प्रभावान्विति खण्डित हो गई। रसात्मकता, प्रभावन्विति के स्थान पर बौद्धिक आक्रोश और उत्तेजना ही इनके नाटकों में प्रधान है। लेकिन भावुकता के कारण इनके नाटकों का शिल्पगत गठन प्रभावित हुआ है। इस अन्तर्विरोध के रहते हुए भी इनके नाटक अकलात्मक नहीं कहे जा सकते।

उपेन्द्रनाथ 'अश्क' उन नाटककारों में हैं, जिन्होंने प्रसादोत्तर काल में नाट्य परम्परा को निर्भीक और बुनियादी यथार्थ की मुद्रा प्रदान की। काल-क्रम के अनुसार उनके प्रमुख नाटक हैं : 'जय-पराजय' (1937), स्वर्ग की झलक' (1938, 'छठा बेटा' (1940), 'कैद' (1943-45), 'उड़ान' (1943-45), 'भंवर' (1943), 'आदि मार्ग' (1950), 'पैतरे' (1952), 'अलग-अलग रास्ते' (1944-53), 'अंजो दीदी' (1953-54), 'आदर्श और यथार्थ' (1954) आदि। अश्क के प्रायः सभी नाटकों में विकसित नाट्य-कला के दर्शन होते हैं। वस्तु-विन्यास की दृष्टि से इनके नाटक सुगठित, स्वाभाविक, सन्तुलित एवं चुस्त बन पड़े हैं। उच्च मध्य वर्गीय समाज की रुढ़ियों, दुर्बलताओं, उनके जीवन में व्याप्त 'कृत्रिमता', दिखावे और ढोंग का पर्दाफाश करना उनके नाटकों का मूलभूत कथ्य है। यह कथ्य समाज के स्थूल यथार्थ से सम्बन्धित है। कथ्य की

स्थूलता और सतही प्रगतिशील यथार्थवादिता ही अश्क के नाटकों की सीमा है, तथापि स्वच्छन्दतावादी प्रवृत्ति के सम्मोहन से हिन्दी नाटक को मुक्त करने का श्रेय भी उन्हीं को प्राप्त है। उनकी विशेषता इस बात में है कि उन्होंने जीवन और समाज को एक आलोचक की दृष्टि से देखा है। इनके अनेक नाटक मंचित तथा रेडियो पर प्रसारित हो चुके हैं। इनका योगदान हिन्दी नाटक और रंगमंच के लिए एक विशेष उपलब्धि है।

आलोच्य-युग में कुछ पुराने खेमे के नाटककार यथा : सेठ गोबिन्ददास, लक्ष्मी नारायण मिश्र, हरिकृष्ण प्रेमी, गोविन्द वल्लभ पंत, उदयशंकर भट्ट, जगन्नाथ प्रसाद 'मिलिन्द' आदि भी नाट्य साहित्य को समृद्ध करते रहे। सेठ गोविन्ददास के 'कर्ण' (1942), शशि गुप्त (1942) आदि पौराणिक नाटकों और 'हिंसा और अहिंसा' (1940), सन्तोष कहाँ (1941) आदि सामाजिक नाटकों की रचना की। हरिकृष्ण प्रेमी के 'छाया' (1941) और बन्धक (1940), सामाजिक नाटक हैं। दोनों नाटकों में आर्थिक शोषण एवं विषमता का यथार्थ मुखरित है। ऐतिहासिक नाटकों में 'आहुति' (1940), स्वप्नभंग (1940), विषपान (1945), साँपों की सृष्टि, उद्धार आदि उल्लेखनीय हैं। 'अमृत-पुत्री' (1978), नवीनतम ऐतिहासिक नाटक हैं। गोबिन्द वल्लभ पंत ने आलोच्य युग में 'अन्तःपुर का छिद्र (1940), 'सिन्दूर बिन्दी' (1946) और 'ययाति' (1951) नाटकों की रचना की। पन्त जी ने 'कला के लिए कला' की भावना से प्रेरित होकर नाटकों की रचना अवश्य की है, किन्तु उनके नाटक उद्देश्य से रहित नहीं हैं। उन्होंने जीवन की गहरी उलझनों एवं समस्याओं को बड़ी सूक्ष्मता से चित्रित किया है। पंत ने यद्यपि प्रसाद-युग की परम्परा का निर्वाह किया है, किन्तु उनके परवर्ती नाटकों में सामाजिक चेतना अधिकाधिक मुखर होती गई है। लक्ष्मीनारायण मिश्र ने 'गरुड़ध्वज' (1945), 'नारद की वीणा', 'वत्सराज' (1950) 'दशवमेघ (1950), 'वितस्ता की लहरें' (1953), 'जगदगुरु', चक्रव्यूह (1953), कवि भारतेन्दु (1955), 'मृत्युञ्जय' (1958) चित्रकूट, अपराजित, धरती का हृदय आदि नाटकों की रचना की। सभी नाटकों में वर्तमान युग के शिक्षित व्यक्तियों की समस्याओं, उनकी संशयात्मक मनः स्थिति, उनकी कुंठाओं और मानसिक विकृतियों का स्वाभाविक और मनोविश्लेषणात्मक चित्रण किया गया है। उदयशंकर भट्ट के नाटकों में 'राधा' (1961), 'अन्तहीन-अन्त' (1942) 'मुक्तिपथ' (1944) 'शक विजय' (1949), कालीदास (1950) 'मेघदूत' (1950), विक्रमोर्वशी (1950), 'क्रांतिकारी' (1953), 'नया

समाज' (1955), पार्वती (1962), मत्स्यगंधा (1976), आदि हैं। भट्ट जी के ऐतिहासिक और पौराणिक नाटकों की मूल प्रेरणा राष्ट्रीयता है। इसमें इतिहास और मिथक के बीच में यथार्थ और समस्या का अहसास भी दिखाई देता है। सामाजिक नाटकों के माध्यम से भट्ट जी ने वर्तमान जीवन के व्यक्तिगत एवं समाजगत संघर्षों एवं समस्याओं का यथार्थ चित्रण किया है। जगन्नाथप्रसाद मिलिन्दका 'समर्पण' (1950) और 'गौतम नन्द' (1952) ख्याति प्राप्त रचनाएं हैं। इनके अतिरिक्त कई अन्य साहित्यकारों ने भी नाटक के क्षेत्र में अवतरण किया, किन्तु उन्हें विशेष सफलता नहीं मिली। इनमें बैकुण्ठनाथ दुग्गल, वृन्दावनलाल वर्मा, सीताराम चतुर्वेदी, चतुरसेन शास्त्री, जगन्नाथ प्रसाद मिलिन्द आदि उल्लेखनीय हैं।

इसी काल में स्वतंत्रता के बाद हिन्दी नाटक में परिवर्तन की एक नई स्थिति दिखाई देती है। प्रसादोत्तर नाटक के पहले चरण में यथार्थवादी प्रवृत्ति से अनुप्राणित हुआ और उसके साथ ही समस्यामूलक नाटक का आविर्भाव हुआ। किन्तु स्वतंत्रता के बाद सामाजिक यथार्थ और समस्या के प्रति जागरूकता के साथ-साथ नाटक के क्षेत्र में कथ्य और शिल्प के कई नए आयाम उभरे। इसके अतिरिक्त स्थूल यथार्थ के प्रति नाटककार के दृष्टिकोण में भी अन्तर आया।

युगीन परिवेश के ऐतिहासिक संदर्भों में पाँचवें दशक तक जीवन के समस्या संकुल होने पर भी आम जनता की स्थिति में सुधार और परिवर्तन आने की अभी धुँधली सी आशा दिखाई दे रही थी परन्तु छठे दशक के बाद से मीठे मोहक सपने बालू की भीत की भांति ढह गए, परिवेश का दबाव बढ़ा, मोहासक्ति भंग हुई और आज परिवेशगत यथार्थ अधिक नंगा होकर सामने आ रहा है। यथार्थ बोध का सही अभिप्राय मोहभंग की इस प्रक्रिया से ही जोड़ा जा सकता है। जगदीश चन्द्र माथुर, लक्ष्मी नारायण लाल आदि नाटककारों ने अपनी ऐतिहासिक एवं सामाजिक रचनाओं द्वारा कुछ सीमाओं के साथ यथार्थ दृष्टि का परिचय दिया। 'जगदीशचन्द्र माथुर' के चार नाटक प्रकाशित हुए हैं : 'कोणार्क' (1954), 'पहला राजा' (1969), शारदीया तथा 'दशरथनन्दन'। इन नाटकों में क्रमशः मार्क्स एवं फ्रायड के प्रभावसूत्रों को आत्मसात करते हुए छायावादी रोमानी कथास्थितियों की सृष्टि करने में माथुर की दृष्टि यथार्थवादी एवं आदर्शवादी, कल्पना तथा स्वच्छन्दतावादी भावुकता को एक साथ ग्रहण करती है। परिणामतः उनके नाटकों में अन्तर्निहित समस्याएं जीवन के यथार्थ को व्याख्यायित करते हुए भी यथार्थवादी कलाशिल्प में प्रस्तुत नहीं हुई हैं। समस्याओं

का विश्लेषण एवं विकास बौद्धक एवं तार्किक क्रिया द्वारा प्रेरित नहीं है। कोणार्क में कलाकार एवं सत्ता के संघर्ष की समस्या धर्मपद के तार्किक उपकथनों के माध्यम से विश्लेषित हुई हैं। परन्तु 'शारदीया' एवं 'पहला-राजा' की समस्याएं प्रगतिशील एवं ह्रासशील मूल्यों के संघर्ष की भूमि पर अवतरित होते हुए भी बौद्धिक एवं तार्किक प्रक्रिया के अभाव में यथार्थवादी कला की दृष्टि से हमारी चिन्तन शक्ति को उद्‌बुद्ध नह" करती क्योंकि माथुर का विशेष बल आन्तरिक अनुभूतियों एवं मानवीय संवेदना को जगाने पर है। फलस्वरूप उन्होंने काव्यात्मकता एवं रसोत्कर्ष के साधनों का सहारा लिया है। अपनी विचारधारा के अनुरूप ही जगदीश चंद्र माथुर ने नाटकीय कला को संस्कृत एवं लोकनाट्य तथा यथार्थवादी मंच की विशेषताओं से अभिमंडित किया है। काव्य-तत्त्व, अलंकरण एवं रस परिपाक से सम्बन्धित तत्त्व उन्होंने संस्कृत नाटकों से ग्रहण किए हैं। संघर्ष, अन्तर्द्वन्द्व का तत्त्व पाश्चात्य यथार्थवादी नाटक शिल्प का प्रभाव है। संक्षेप में, एक ऐसे मंच की परिकल्पना पर उनका ध्यान केन्द्रित रहा है जो बहुमुखी हो, एक ही शैली में सीमित नहीं हो, भिन्न-भिन्न सामाजिक आवश्यकताओं और चेतनाओं का परिचायक हो।

स्वतंत्रता के बाद हिन्दी नाटक ने पाश्चात्य प्रभाव से जो नये आयाम ग्रहण किए उनकी प्रथम अभिव्यक्ति धर्मवीर भारती के 'अन्धायुग' में प्रकट हुई है। पश्चिम में दो महायुद्धों के बाद नाटक के क्षेत्र में कथ्य और शिल्प के अनेक प्रयोग हुए। इसके साथ ही युद्ध की परिस्थितियों के कारण जीवन मूल्यों में भी जो बड़ा भारी परिवर्तन आया उसकी अभिव्यक्ति भी नाटक में हुई। भारत में समानान्तर सामाजिक परिस्थिति तो नहीं आई किन्तु पश्चिम की विचारधारा का उस पर प्रभाव पड़े बिना न रहा। नई कविता और नई कहानी उससे अनुप्राणित थी ही, हिन्दी नाटक को भी उससे एक दिशा मिली। ऐसी स्थिति में आधुनिक भाव-बोध को उजागर करने का प्रयास हुआऔर धर्मवीर भारती, लक्ष्मी नारायण लाल, मोहन राकेश आदि नाटककारों ने उसमें महत्वपूर्ण भूमिका निभाई।

डॉ. धर्मवीर भारती के 'अन्धा युग' (1955) गीति-नाटक ने हिन्दी गीत नाट्य-परम्परा को एक नया मोड़ दिया है। इसमें नाटककार ने महाभारत के युद्ध को अनीति, अमर्यादा और अर्द्ध-सत्य से युक्त माना है। इसीलिए उन्होंने इस काल को अन्धायुग कहा है। इस नाटक में मिथकीय पद्धति द्वारा विगत और आगत का समन्वय कर, निरन्तरता में आस्था उत्पन्न करने का सघन प्रयास 'भारती' ने किया है। इसमें अस्तित्त्ववादी दर्शन की स्पष्ट झलक मिलती है।

'अन्धायुग' के अतिरिक्त सुमित्रानन्दन पन्त के 'रजतशिखर', 'शिल्पी' और 'सौवर्ण' में संगृहीत गीतिनाट्य, गिरजाकुमार माथुर का 'कल्पान्तर', सृष्टि की सांझ और अन्य काव्य-नाटक' में संगृहीत सिद्धान्त कुमार के पांच गीतिनाट्य-सृष्टि की साँझ, लोह देवता, संघर्ष, विकलांगों का देश और बादली का शाप तथा दुष्यन्तकुमार के गीतिनाटक 'एक कण्ठ विषपायी' (1963) आदि भी विशेष उल्लेखनीय हैं। डॉ. लक्ष्मी नारायण लाल के हैं :'अन्धा कुआँ' (1955), 'मादा कैक्टस' (1959), 'तीन आँखों वाली मछली' (1960), 'सुन्दर रस', 'सूखा सरोवर' (1960), रक्त कमल (1961), 'रात रानी' (1962), 'दर्पण' (1963)' 'सूर्यमुख' (1968), 'कलंकी', 'मिस्टर अभिमन्यु' (1971), 'करफ्र्यू' (1972) आदि। 'अन्धा कुआँ' में आर्थिक संघर्ष के कारण उत्पन्न ग्राम्य-जीवन के सामाजिक और पारिवारिक द्वन्द्व का चित्रण है। 'मादा कैक्टस', 'सुन्दर रस', 'सूखा सरोवर' और 'रक्त कमल' उनके प्रतीक नाटक हैं। 'तोता मैना' नाटक टेकनीक के नये प्रयोगों को प्रस्तुत करता है। यह नाटक लोकवृत्त पर आधारित है। 'दर्पण' और 'रातरानी' समस्या नाटक हैं। दर्पण में मनुष्य को अपने वास्तविक रूप की तलाश में भटकते हुए दिखाया गया है। 'कलंकी' नाटक में अनेक जटिल प्रश्नों यथा सक्रांति कालीन लोकचेतना को प्रस्तुत करना, आज के समय में भी कर्मकाण्ड, अन्धविश्वास, देखना, यथार्थ का सामना करने से कतराना आदि को लोकरंगमंचीय संस्कृति, अभिव्यंजनावादी नाट्य-संरचना में प्रस्तुत किया गया है। 'सूर्य-मुख' में महाभारत-युद्ध के बाद की घटना ली गयी है। इस नाटक पर 'अन्धायुग' और 'कनुप्रिया' की स्पष्ट छाप है। 'मिस्टर अभिमन्यु' और 'कर्फ्यू' आधुनिक जीवन की संवेदना को लेकर लिखे गये विचारोत्तेजक नाटक हैं। डॉ. लाल अपने चारों ओर के परिवेश और युग जीवन के प्रति सजग हैं। उनका लक्ष्य समाज की विरूपता को संयम और तर्क के साथ चित्रित कर समाज को बदलते जीवन-मूल्यों और नैतिक मानदंडो से अवगत कराना है।

हिन्दी नाटकों में क्रांतिकारी परिवर्तन लाकर 'मोहन राकेश' ने एक नये युग की स्थापना की है। उनका 'आषाढ़ का एक दिन' (1956), 'लहरों के राजहंस (1963) तथा 'आधे-अधूरे' (1969) नाटक निश्चय ही ऐसे आलोक स्तम्भ हैं जो सुदूर भविष्य में भी हिन्दी-नाटक को एक नवीन गति-दिशा प्रदान करते रहेंगे। मानवीय सम्बन्धों में विघटन के कारण टूटते हुए व्यक्ति के आभ्यंतर यथार्थ का चित्रण करना इन नाटकों का केन्द्रीय कथ्य एवं मूल स्वर है। 'आषाढ़ का

एक दिन' कवि कालिदास और उसकी बाल-संगिनी मल्लिका के प्रेम और संघर्ष की कथा पर आधारित है। कालिदास अपने परिवेश एवं मल्लिका से कट जाने के कारण जीवन के नये अर्थ की तलाश में निकल पड़ता है। 'लहरों के राजहंस' अवघोष के प्रसिद्ध महाकाव्य 'सौन्दरानन्द' पर आधारित है। इस नाटक में नन्द सुन्दरी और गौतम दोनों से निरपेक्ष हो जाने के बाद अलगाव की स्थिति में आंतरिक सत्य की तलाश करने के लिए चल पड़ता है। उनका जीवन-बोध अस्तित्त्ववाद की वैचारिक भूमिका पर ही उभरा है। राकेश की दृष्टि का यह यथार्थ जीवन-अर्थो की खोज तक ही सीमित है। किसी परिणति तक पहुंचना राकेश का अभीष्ट भी नहीं है। इसी कारण उनके समस्त नाटकों का समापन किसी निश्चित अन्त पर पहुंच कर नहीं होता। 'आधे-अधूरे' द्वारा आधुनिक जीवन से साक्षात्कार कराया गया है, इसमें महानगर के मध्यम वर्गीय परिवार का चित्रण है। आज के परिवार की टूटन और चुक गये आपसी सम्बन्धों को नाटक में बड़े सशक्त ढंग से प्रस्तुत किया गया है। अस्तु, राकेश ने अपनी नाट्य-सृष्टि में अन्तर्निहित यथार्थ को पकड़ने की चेष्टा की है। सभी नाटक रंगमंचीय सम्भावनाओं से पूर्ण है। प्रसाद जी के बाद सर्वाधिक सशक्त नाटककार हम राकेश को कह सकते हैं। उन्होंने अतीत के सघन कुहासे और अपने समसामयिक जीवन के अन्धे-गलियारों में भटक कर सभी स्तरों पर अपनी नाट्यकला को पूर्णतया आधुनिक रखा है।

मोहन राकेश के बाद जिस नाटककार के प्रति विश्वास जागता है, वह है 'सुरेन्द्र वर्मा'। उनके नाटकों में 'द्रोपदी', 'सूर्य की अन्तिम किरण से पहली किरण तक', 'आठवां सर्ग' आदि उल्लेखनीय हैं। प्रथम नाटक में आधुनिक नारी की मन:स्थिति का चित्रण पुराने मिथक-प्रतीकों के माध्यम से बड़ी सफलतापूर्वक किया गया है। 'सूर्य की अन्तिम किरण से पहली किरण तक' का आधार छद्‌म इतिहास हैं, पर इसमें लेखक ने एक पौरुषहीन व्यक्ति के विवाह बन्धन में पड़ी नारी की शाश्वत समस्या को आधुनिक भाव-बोध के साथ उठाने का प्रयास किया है। आठवाँ सर्ग' कालिदास के जीवन और लेखन पर आधारित है और उसका कथ्य लेखकीय स्वातंत्रय की आधुनिक चेतना को उजागर करता है।

व्यवस्था के संदर्भ में समाज एवं व्यक्ति के बाह्य एवं आंतरिक यथार्थ का चित्रण करना नये नाटककारों के नाटकों का केन्द्रीय कथ्य लगता है। ब्रजमोहन शाह के 'त्रिशंकु', ज्ञानदेव अग्निहोत्री के 'शुतुरमुर्ग', सर्वेश्वर दयाल सक्सेना के 'बकरी' आदि नाटकों में सत्ता के छद्‌म और पाखंडो का ही पर्दाफाश किया है।

अधुनातन नाटककार मुद्राराक्षस, लक्ष्मीकांत वर्मा, मणि मधुकर, शंकर शेष और भीष्म साहनी भी क्रमशः अपने नाटकों 'योअर्स-फेथ-फुल्ली', 'तेंदुआ', 'मरजीवा', 'रोशनी एक नयी है', 'रसगन्धर्व', 'एक और द्रोणाचार्य' तथा 'हानूश' के माध्यम से इन्हीं प्रश्नों से जूझ रहे हैं। इन्होंने जहाँ एक ओर वर्ग-वैषम्यो की चेतना को जाग्रत करके व्यवस्था के ह्रासशील रूपों का यथार्थ चित्रण किया है वहीं सत्ता के दबाव में पिस रहे आम आदमी की करुण नियति और उससे उत्पन्न संत्रास का भी रुपायन किया है। इस तरह नाटक सीधे जिन्दगी की शर्तों से जुड़े और उनकी विषमताओं के साथ जूझते व्यक्ति की यंत्रणा उसके भीतर यथार्थ को रंग-माध्यम से प्रस्तुत करने का बीड़ा उठाते हैं। बदलाव की चेतना और आकुलता को उजागर करने के सशक्त कथ्य से ही हिन्दी के रचनात्मक नाट्य के लिए शुभारम्भ की स्थिति मानी जा सकती है। नये नाटककार सत्यदेव 'दूबे, रमेश उपाध्याय, रामेश्वर प्रेम, शरद जोशी, गिरिराज, सुशील कुमार सिंह, बलराज पंडित, मृदुला गर्ग, सुदर्शन चोपड़ा नये नाटक लिखकर आंतरिक यथार्थ बोध की संपुष्टि में योग दे रहे हैं। अभी हाल ही में कुछ नाटक प्रकाशित हुए हैं :

प्रभात कुमार भट्टाचार्य का 'काठ महल', गंगाप्रसाद विमल का 'आज नहीं कल', प्रियदर्शी प्रकाश का 'सभ्य सांप', रमेश बख्शी का 'वामाचरण', भगवतीचरण वर्मा का 'वसीयत', इन्द्रजीत भाटिया का 'जीवन दण्ड' सुदर्शन चोपड़ा का 'काला पहाड़' शिवप्रसाद सिंह का 'घाटियां गूंजती हैं' नरेश मेहता का 'सुबह के घण्टे' ज्ञानदेव अग्निहोत्री का 'नेफा की एक शाम' अमृतराय की 'लवदियों की एक झलक' गोविन्द चातक का' अपने अपने खूंटे' विपिन कुमार अग्रवाल का 'लोटन', विष्णुप्रभाकर का 'टगर', सुरेन्द्र वर्मा का 'द्रोपदी' और 'आठवाँ सर्ग' भीष्म साहनी का 'कबिरा खड़ा बाजार में', राजेन्द्र प्रसाद का 'प्रतीतियों के बाहर' और 'चेहरों का जंगल' आदि। इन नाटकों में जो सामान्य प्रवृत्तियां उभर कर आई हैं वे इस प्रकार हैं : आकार में छोटे, वर्तमान जीवन से उनका सम्बन्ध, वस्तुवाद का प्राधान्य, अधिकांश मनोवैज्ञानिक और समस्यात्मक, रंगमंचीय संकेतों का बाहुल्य संकलन त्रय के पालन की प्रवृत्ति आदि। इनमें से अन्तर्मन की सच्चाइयों को नकार कर तटस्थता का मुखौटा लगा लेने का उपदेश देने वाले नाटककार कहां तक सफल हो पायेंगे, इसका सही मूल्यांकन उनकी आने वाली कृतियों से ही लग सकेगा।

किसी भी रचना की सम्पूर्णता कथ्य और शिल्प के सानुपातिक कलात्मक संयोजन में निहित रहती है। हिन्दी नाटकों में इन दोनों तत्त्वों के बीच तालमेल

की स्थिति पर यदि विचार किया जाए तो हिन्दी के बहुत कम नाटक इस स्तर तक ऊंचे उठ पाते हैं। जब तक रंग जगत में वे सफल नहीं होते, उन्हें अर्थवान साबित नहीं किया जा सकता। यह एक सुखद संयोग है कि हिन्दी रंगमंच व्यापक स्तर पर राष्ट्रीय रंगमंच की भूमिका में क्रियाशील है। आज के हिन्दी नाटकों की उपलब्धि पर विचार किया जाए तो यह निष्कर्ष निकलता है कि हिन्दी नाटक ने अपनी निरर्थकता और कलाहीनता के घेरे को तोड़कर उल्लेखनीय सर्जनात्मकता प्राप्त करने की दिशा में कदम बढ़ाया है। और अब नाट्यलेखन केवल सतही सामाजिक उद्देश्यपरकता के आसपास चक्कर नहीं काटता बल्कि गहरी या मूलभूत मानवीय अनुभूति या स्थितियों का सन्धान करता है। इन नाटकों की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि वे जीवन और समाज की विसंगतियों को उभारते हैं, पीड़ा संत्रास और अजनबीपन के बीच आज के मानव की दयनीय नियति को रेखांकित करते हैं। स्वतंत्रता के बाद नाटक आधुनिक युग बोध के साथ ही जुड़ता नहीं दिखाई देता, वरन् रंगशिल्प के प्रति अधिक जागरूक भी हो गया है।

प्रमुख नाटक रचियिता

जगदीशचंद्र माथुर

जगदीशचन्द्र माथुर जन्म– 16 जुलाई, 1917– मृत्यु– 14 मई, 1978) हिन्दी के प्रसिद्ध साहित्यकारों में से एक थे, जिन्होंने आकाशवाणी में काम करते हुए हिन्दी की लोकप्रियता के विकास में महत्वपूर्ण योगदान किया। टेलीविजन उन्हीं के जमाने में वर्ष 1949 में शुरू हुआ था। हिन्दी और भारतीय भाषाओं के तमाम बड़े लेखकों को वे ही रेडियो में लेकर आए थे। सुमित्रनंदन पंत से लेकर रामधारी सिंह 'दिनकर' और बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' जैसे दिग्गज साहित्यकारों के साथ उन्होंने हिंदी के माध्यम से सांस्कृतिक पुनर्जागरण का सूचना संचार तंत्र विकसित और स्थापित किया था।

जीवन परिचय

जगदीशचन्द्र माथुर का जन्म 16 जुलाई, 1917 ई. खुर्जा, बुलंदशहर जिला, उत्तर प्रदेश में हुआ। प्रारंभिक शिक्षा खुर्जा में हुई। उच्च शिक्षा यंग क्रिश्चियन कॉलेज, इलाहाबाद और प्रयाग विश्वविद्यालय में हुई। प्रयाग विश्वविद्यालय का शैक्षिक वातावरण और प्रयाग के साहित्यिक संस्कार रचनाकार के व्यक्तित्त्व

निर्माण में महत्वपूर्ण भूमिका हैं। 1939 ई. में प्रयाग विश्वविद्यालय से एम.ए. (अंग्रेजी) करने के बाद 1941 ई. में 'इंडियन सिविल सर्विस' में चुन लिए गए।

कार्यक्षेत्र

सरकारी नौकरी में 6 वर्ष बिहार शासन के शिक्षा सचिव के रूप में, 1955 से 1962 ई. तक आकाशवाणी- भारत सरकार के महासंचालक के रूप में, 1963 से 1964 ई. तक उत्तर बिहार (तिरहुत) के कमिश्नर के रूप में कार्य करने के बाद 1963-64 में हार्वर्ड विश्वविद्यालय, अमेरिका में विजिटिंग फेलो नियुक्त होकर विदेश चले गए। वहाँ से लौटने के बाद विभिन्न महत्वपूर्ण पदों पर काम करते हुए 19 दिसम्बर 1971 ई. से भारत सरकार के हिंदी सलाहकार रहे। इन सरकारी नौकरियों में व्यस्त रहते हुए भी भारतीय इतिहास और संस्कृति को वर्तमान संदर्भ में व्याख्यायित करने का प्रयास चलता ही रहा।

साहित्यिक परिचय

अध्ययनकाल से ही उनका लेखन प्रारंभ होता है। 1930 ई. में तीन छोटे नाटकों के माध्यम से वे अपनी सृजनशीलता की धारा के प्रति उन्मुख हुए। प्रयाग में उनके नाटक 'चाँद', 'रुपाभ' पत्रिकाओं में न केवल छपे ही, बल्कि इन्होंने 'वीर अभिमन्यु', आदि नाटकों में भाग लिया। 'भोर का तारा' में संग्रहीत सारी रचनाएँ प्रयाग में ही लिखी गईं। यह नाम प्रतीक रूप में शिल्प और संवेदना दोनों दृष्टियों से जगदीशचन्द्र माथुर के रचनात्मक व्यक्तित्त्व का परिचायक 'भोर का तारा' ही है। इसके बाद की रचनाओं में समकालीनता और परंपरा के प्रति गहराई क्रमशः बढ़ती गई है। व्यक्तियों, घटनाओं और देशके विभिन्न ऐतिहासिक स्थलों से प्राप्त अनुभवों ने सृजन में महत्वपूर्ण भूमिका अदा की है।

मुख्य कृतियाँ

भोर का तारा (1946 ई.),
कोणार्क (1950ई.),
ओ मेरे सपने (1950 ई.)
शारदीया (1959 ई),
दस तस्वीरें (1962 ई.),
परंपराशील नाट्य (1968 ई.),

पहला राजा (1970 ई.)
जिन्होंने जीना जाना (1972 ई.)

साहित्यिक विशेषताएँ

जगदीशचन्द्र माथुर जी के प्रारंभिक नाटकों में कौतूहल और स्वच्छंद प्रेमाकुलता है। 'भोर का तारा' में कवि शेखर की भावुकता पर्यावरण में घटित करने या रचने का मोह भी प्रारंभ से मिलता है। परंतु समसामयिक को अनुभव के रूप में अनुभूत करके उसकी प्रामाणिकता को संस्कृति के माध्यम से सिद्ध करने का जो आग्रह उनके नाटकों में हैं उसकी रचनात्मक संभावना का प्रमाण 'कोणार्क' में है। परंपरा को माध्यम और संदर्भ के रूप में प्रयोग करने की कला में माथुर सिद्धहस्त हैं। परंतु इसका तात्पर्य यह नहीं कि यही उनका सब कुछ है, बल्कि उन्होंने रीढ़ की हड्डी आदि ऐसे नाटक भी लिखे जिनका संबंध समाज के भीतर के बदलते रिश्तों और मानवीय संबंधों से है। 'शारदीया' के सारे नाटकों में समस्या को व्यापक परिप्रेक्ष्य में रखकर देखने का आभास अवश्य है, परंतु समस्या मात्र का परिवृत्त इतना छोटा है कि वह किसी व्यापक सत्य का आधार नहीं बन पाती। वस्तुतः माथुर छायावादी संवेदना के रचनाकार हैं। यह संवेदना 'भोर का तारा' से लेकर 'पहला राजा' तक में कमोबेश मिलती है। यह अवश्य है कि यह छायावादिता नाटक के विधागक संस्कार और यथार्थ के प्रति गहरी संसक्ति के कारण 'कोणार्क' और 'पहला राजा' में काफी संस्कारित हुई है।

समीक्षा

'कोणार्क' उत्तम नाटक है। इतिहास, संस्कृति और समकालीनता मिलकर निरवधिकाल की धारणा और मानवीय सत्य की आस्था को परिपुष्ट करते हैं। घटना की तथ्यता और नाटकीयता के बावजूद महाशिल्पी विशु की चिंता और धर्मपद का साहसपूर्ण प्रयोग, व्यवस्था की अधिनायकवादी प्रवृत्ति से लड़ने और जुझने की प्रक्रिया एवं उसकी परिणति का संकेत नाटक को महत्वपूर्ण रचना बना देता है। कल्पना की रचनात्मक सामर्थ्य और संस्कृति का समकालीन अनुभव कोणार्क की सफल नाट्य कृति का कारण है। कोणार्क के अंत और घटनात्मक तीव्रता तथा परिसमाप्ति पर विवाद संभव है, परंतु उसके संप्रेषणात्मक प्रभाव पर प्रश्न चिन्ह संभव नहीं है। 'पहला राजा' नाटक के रचना-विधान और वातावरण

को 'माध्यम' और 'संदर्भ' में रूप में प्रयोग करके लेखक ने व्यवस्था और प्रजाहित के आपसी रिश्तों को मानवीय दृष्टि से व्याख्यायित करने का प्रयास किया है। स्पुतनिक, अपोलो आदि के प्रयोग के कारण समकालीनता का अहसास गहराता है। पृथु, उर्वी, कवष आदि का प्रयास और उसका परिणाम सब मिलकर नाटक की समकालीनता को बराबर बनाए रखते हैं। पृथ्वी की उर्वर शक्ति, पानी और फावड़ा-कुदाल आद् को उपयोग रचना के काल को स्थिर करता है। 'परंपराशील नाट्य' महत्वपूर्ण समीक्षा-कृति है। इसमें लोक नाट्य की परंपरा और उसकी सामर्थ्य के विवेचन के अलावा नाटक की मूल दृष्टि को समझाने का प्रयास किया गया है। रामलीला, रासलीला आदि से संबद्ध नाटकों और उनकी उपादेयता के संदर्भ में परंपरा का समकालीन संदर्भ में महत्व और उसके उपयोग की संभावना भी विवेच्य है। 'दस तसवीरें' और 'इन्होंने जीना जाना है' रचनाकार के मानस पर प्रभाव डालने वाले व्यक्तियों की तस्वीरें और जीवनियाँ हैं, जिनका महत्व उनके रेखांकन और प्रभावांकन की दृष्टि से अक्षुण्ण है।

निधन

जगदीशचंद्र माथुर का निधन 14 मई, 1978 को हुआ।

सेठ गोविंद दास

सेठ गोविंद दास भारत के स्वतंत्रता सेनानी, सांसद तथा हिन्दी के साहित्यकार थे। उन्हें साहित्य एवं शिक्षा के क्षेत्र में सन 1961 में पद्म भूषण से सम्मानित किया गया था। भारत की राजभाषा के रूप में हिन्दी के वे प्रबल समर्थक थे।

परिचय

सेठ गोविन्द दास का जन्म 16 अक्टूबर, 1896 को सम्पन्न मारवाड़ी परिवार में हुआ था। इनके दादा गोकुल दास ने पारिवारिक व्यवसाय को उल्लेखनीय बुलन्दियों तक पहुंचाया। उनके पिता जीवन दास ने विलासी जीवन व्यतीत किया। गोविन्द दास ने घर पर ही शिक्षा ग्रहण की। उन्होंने बीस वर्ष की आयु में सार्वजनिक जीवन में प्रवेश किया। सन 1923 में वे केन्द्रीय सभा के लिए चुने गये। उन्होंने महात्मा गांधी द्वारा संचालित सभी आन्दोलनों में भाग लिया तथा अनेक बार जेल गये। सेठ गोविंद दास हिन्दी के अनन्य साधक, भारतीय

संस्कृति में अटल विश्वास रखने वाले, कला-मर्मज्ञ एवं विपुल मात्रा में साहित्य-रचना करने वाले, हिन्दी के उत्कृष्ट नाट्यकार ही नहीं थे, अपितु सार्वजनिक जीवन में अत्यंत स्वच्छ, नीति-व्यवहार में सुलझे हुए, सेवाभावी राजनीतिज्ञ भी थे। अंग्रेजी भाषा, साहित्य और संस्कृति ही नहीं, स्केटिंग, नृत्य, घुड़सवारी का जादू भी इन पर चढ़ा।

वैभवशाली जीवन का परित्याग

गांधी जी के असहयोग आंदोलन का तरुण गोविंद दास पर गहरा प्रभाव पड़ा और वैभवशाली जीवन का परित्याग कर वे दीन-दुखियों के साथ सेवकों के दल में शामिल हो गए तथा दर-दर की खाक छानी, जेल गए, जुर्माना भुगता और सरकार से बगावत के कारण पैतृक संपत्ति का उत्तराधिकार भी गंवाया।

रचनाएँ

राजनीतिज्ञ के अलावा, सेठ गोविन्द दास एक जाने-माने रचनाकार भी थे। उन्होंने हिन्दी में सौ से अधिक पुस्तकों की रचना की। उनके नाटकों का कैनवास भारतीय पौराणिक कलाओं और इतिहास की सम्पूर्ण अवधि को आच्छादित करता है। सेठ जी पर देवकीनंदन खत्री के तिलस्मी उपन्यासों 'चन्द्रकांता संतति' की तर्ज पर उन्होंने 'चंपावती', 'कृष्णलता' और 'सोमलता' नामक उपन्यास लिखे, वह भी मात्र सोलह वर्ष की किशोरावस्था में।

शेक्सपीयर से प्रभावित

साहित्य में दूसरा प्रभाव सेठ जी पर शेक्सपीयर का पड़ा। शेक्सपीयर के 'रोमियो-जूलियटश, 'एजयू लाइक इट', 'पेटेव्कीज प्रिंस ऑफ टायर' और 'विंटर्स टेल' नामक प्रसिद्ध नाटकों के आधार पर सेठ जी ने 'सुरेन्द्र-सुंदरी', 'कृष्णकामिनी', 'होनहार' और 'व्यर्थ संदेह' नामक उपन्यासों की रचना की। इस तरह सेठ जी की साहित्य-रचना का प्रारंभ उपन्यास से हुआ। इसी समय उनकी रुचि कविता में बढ़ी। अपने उपन्यासों में तो जगह-जगह उन्होंने काव्य का प्रयोग किया ही, 'वाणासुर-पराभव' नामक काव्य की भी रचना की।

नाटक

सन 1917 में सेठ जी का पहला नाटक 'विश्व प्रेम' छपा। उसका मंचन भी हुआ। प्रसिद्ध विदेशी नाटककार इब्सन से प्रेरणा लेकर आपने अपने लेखन

में आमूल-चूल परिवर्तन कर डाला। उन्होंने नई तकनीक का प्रयोग करते हुए प्रतीक शैली में नाटक लिखे। 'विकास' उनका स्वप्न नाटक है। 'नवरस' उनका नाट्य-रुपक है। हिन्दी में मोनो ड्रामा पहले-पहल सेठ जी ने ही लिखे।

भारतीय संस्कृति के संवाहक

हिन्दी भाषा की हित-चिंता में तन-मन-धन से संलग्न सेठ गोविंद दास हिन्दी साहित्य सम्मेलन के अत्यंत सफल सभापति सिद्ध हुए। हिन्दी के प्रश्न पर इन्होंने कांग्रेस की नीति से हटकर संसद में दृढ़ता से हिन्दी का पक्ष लिया। सेठ भारतीय संस्कृति के प्रबल अनुरागी तथा हिन्दी भाषा के प्रबल पक्षधर थे।

पुरस्कार

सेठ गोविन्द दास को साहित्य एवं शिक्षा के क्षेत्र में सन 1961 में पद्म भूषण से सम्मानित किया गया था।

निधन

सेठ गोविंद दास का निधन 18 जून, 1974 को हुआ था।

उपेन्द्रनाथ अश्क

उपेन्द्र नाथ अश्क (1910-1996) हिन्दी के प्रसिद्ध कथाकार व उपन्यासकार थे।'अश्क' का जन्म जालन्धर, पंजाब में हुआ। जालन्धर में प्रारम्भिक शिक्षा लेते समय 11 वर्ष की आयु से ही वे पंजाबी में तुकबंदियाँ करने लगे थे। कला स्नातक होने के बाद उन्होंने अध्यापन का कार्य शुरू किया तथा विधि की परीक्षा विशेष योग्यता के साथ पास की। अश्क जी ने अपना साहित्यिक जीवन उर्दू लेखक के रूप में शुरू किया था किन्तु बाद में वे हिन्दी के लेखक के रूप में ही जाने गए। 1932 में मुंशी प्रेमचन्द्र की सलाह पर उन्होंने हिन्दी में लिखना आरम्भ किया। 1933 में उनका दूसरा कहानी संग्रह 'औरत की फितरत' प्रकाशित हुआ जिसकी भूमिका मुंशी प्रेमचन्द ने लिखी। उनका पहला काव्य संग्रह 'प्रातः प्रदीप' 1938 में प्रकाशित हुआ। बम्बई प्रवास में आपने फ़िल्मों की कहानियाँ, पटकथाएँ, सम्वाद और गीत लिखे, तीन फ़िल्मों में काम भी किया किन्तु चमक-दमक वाली ज़िन्दगी उन्हे रास नही आई। 19 जनवरी

1996 को अश्क जी चिर निद्रा में लीन हो गए। उनको 1972 के 'सोवियत लैण्ड नेहरू पुरस्कार' से भी सम्मानित किया गया।

उपेंद्रनाथ अश्क ने साहित्य की प्रायः सभी विधाओं में लिखा है, लेकिन उनकी मुख्य पहचान एक कथाकार के रुप में ही है। काव्य, नाटक, संस्मरण, उपन्यास, कहानी, आलोचना आदि क्षेत्रों में वे खूब सक्रिय रहे। इनमें से प्रायः हर विधा में उनकी एक-दो महत्वपूर्ण एवं उल्लेखनीय रचनाएं होने पर भी वे मुख्यतः कथाकार हैं। उन्होंने पंजाबी में भी लिखा है, हिन्दी-उर्दू में प्रेमचंदोत्तर कथा-साहित्य में उनका विशिष्ट योगदान है। जैसे साहित्य की किसी एक विधा से वे बंधकर नहीं रहे उसी तरह किसी विधा में एक ही रंग की रचनाएं भी उन्होंने नहीं की।(1) समाजवादी परंपरा का जो रूप अश्क के उपन्यासों में दृश्यमान होता है वह उन चरित्रों के द्वारा उत्पन्न होता है, जिन्हें उन्होंने अपनी अनुभव दृष्टि और अद्‌भुत वर्णन-शैली द्वारा प्रस्तुत किया है। अश्क के व्यक्ति चिंतन के पक्ष को देखकर यही सुर निकलता है कि उन्होंने अपने चरित्रों को शिल्पी की बारीक दृष्टि से तराशा है, जिसकी एक-एक रेखाओं से उसकी संघर्षशीलता का प्रमाण दृष्टिगोचर होता है।

प्रकाशित रचनाएँ

उपन्यास : गिरती दीवारें, शहर में घूमता आईना, गर्म राख, सितारों के खेल, आदि

कहानी संग्रह : सत्तर श्रेष्ठ कहानियां, जुदाई की शाम के गीत, काले साहब, लपजरा, अआड।

नाटकः लौटता हुआ दिन, बड़े खिलाड़ी, जय-पराजय, स्वर्ग की झलक, भँवर।

एकांकी संग्रह : अन्धी गली, मुखड़ा बदल गया, चरवाहे।

काव्य : एक दिन आकाश ने कहा, प्रातःप्रदीप, दीप जलेगा, बरगद की बेटी, उम्मियाँ, रिज पर (?)।

संस्मरणः मण्टो मेरा दुश्मन, फिल्मी जीवन की झलकियाँ

आलोचनाः अन्वेषण की सहयात्रा, हिन्दी कहानीः एक अन्तरंग परिचय

मोहन राकेश

मोहन राकेश(8 जनवरी 1925-3जनवरी, 1972) नई कहानी आन्दोलन के सशक्त हस्ताक्षर थे।

पंजाब विश्वविद्यालय से हिन्दी और अंग्रेजी में एम. ए. किया। जीविकोपार्जन के लिये अध्यापन। कुछ वर्षो तक 'सारिका' के संपादक। 'आषाढ़ का एक दिन', 'आधे अधूरे' और लहरों के राजहंस के रचनाकार। 'संगीत नाटक अकादमी' से सम्मानित। 3 जनवरी 1972 को नयी दिल्ली में आकस्मिक निधन। मोहन राकेश हिन्दी के बहुमुखी प्रतिभा संपन्न नाट्य लेखक और उपन्यासकार हैं। समाज के संवेदनशील व्यक्ति और समय के प्रवाह से एक अनुभूति क्षण चुनकर उन दोनों के सार्थक सम्बन्ध को खोज निकालना, राकेश की कहानियों की विषय-वस्तु है। मोहन राकेश की डायरी हिंदी में इस विधा की सबसे सुंदर कृतियों में एक मानी जाती है।

नाट्य-लेखन

मोहन राकेश को कहानी के बाद सफलता नाट्य-लेखन के क्षेत्र में मिली। हिंदी नाटकों में भारतेंदु और प्रसाद के बाद का दौर मोहन राकेश का दौर है, जिसें हिंदी नाटकों को फिर से रंगमंच से जोड़ा। हिन्दी नाट्य साहित्य में भारतेन्दु और प्रसाद के बाद यदि लीक से हटकर कोई नाम उभरता है तो मोहन राकेश का। हालाँकि बीच में और भी कई नाम आते हैं, जिन्होंने आधुनिक हिन्दी नाटक की विकास-यात्रा में महत्त्वपूर्ण पड़ाव तय किए है,, किन्तु मोहन राकेश का लेखन एक दूसरे ध्रुवान्त पर नजर आता है। इसलिए ही नहीं कि उन्होंने अच्छे नाटक लिखे, बल्कि इसलिए भी कि उन्होंने हिन्दी नाटक को अँधेरे बन्द कमरों से बाहर निकाला और उसे युगों के रोमानी ऐन्द्रजालिक सम्मोहक से उबारकर एक नए दौर के साथ जोड़कर दिखाया। वस्तुतः मोहन राकेश के नाटक केवल हिन्दी के नाटक नहीं हैं। वे हिन्दी में लिखे अवश्य गए हैं, किन्तु वे समकालीन भारतीय नाट्य प्रवृत्तियों के द्योतक हैं। उन्होंने हिन्दी नाटक को पहली बार अखिल भारतीय स्तर ही नहीं प्रदान किया वरन् उसके सदियों के अलग-थलग प्रवाह को विश्व नाटक की एक सामान्य धारा की ओर भी अग्रसर किया। प्रमुख भारतीय निर्देशकों इब्राहीम अलकाजी,ओम शिवपुरी, अरविन्द गौड़, श्यामानन्द जालान, राम गोपाल बजाज और दिनेश ठाकुर ने मोहन राकेश के नाटकों का निर्देशन किया।

मोहन राकेश के दो नाटकों आषाढ़ का एक दिन तथा लहरों के राजहंस में ऐतिहासिक पृष्ठभूमि को लेने पर भी आधुनिक मनुष्य के अंतर्द्वंद और संशयों की ही गाथा कही गयी है। एक नाटक की पृष्ठभूमि जहां गुप्तकाल है तो दूसरा बौद्धकाल के समय के ऊपर लिखा गया है। आषाढ़ का एक दिन में जहां

सफलता और प्रेम में एक को चुनने के द्वन्द से जूझते कालिदास एक रचनाकार और एक आधुनिक मनुष्य के मन की पहेलियों को सामने रखते हैं वहीँ प्रेम में टूटकर भी प्रेम को नही टूटने देनेवाली इस नाटक की नायिका के रूप में हिंदी साहित्य को एक अविस्मरनीय पात्र मिला है। लहरों के राजहंस में और भी जटिल प्रश्नों को उठाते हुए जीवन की सार्थकता, भौतिक जीवन और अध्यात्मिक जीवन के द्वन्द, दूसरों के द्वारा अपने मत को दुनिया पर थोपने का आग्रह जैसे विषय उठाये गए हैं। राकेश के नाटकों को रंगमंच पर मिली शानदार सफलता इस बात का गवाह बनी कि नाटक और रंगमंच के बीच कोई खाई नही है। मोहन राकेश का तीसरा व सबसे लोकप्रिय नाटक आधे अधूरे है । जहाँ नाटककार ने मध्यवर्गीय परिवार की दमित इच्छाओ कुंठाओ व विसंगतियो को दर्शाया है । इस नाटक की पृष्ठभूमि ऐतिहासिक न होकर आधुनिक मध्यवर्गीय समाज है । आधे अधूरे में वर्तमान जीवन के टूटते हुए संबंधो,मध्यवर्गीय परिवार के कलहपुर्ण वातावरण विघटन, सन्त्रास, व्यक्ति के आधे अधूरे व्यक्तित्त्व तथा अस्तित्त्व का यथात्मक सजीव चित्रण हुआ है । मोहन राकेश का यह नाटक, अनिता औलक की कहनी दिन से दिन का नाट्य रूपांतरण है ।

प्रमुख कृतियाँ

उपन्यास

अंधेरे बंद कमरे, अन्तराल, न आने वाला कल।

नाटक

आषाढ़ का एक दिन, लहरों के राजहंस, आधे अधूरे। अण्डे के छिलके

कहानी संग्रह

क्वार्टर तथा अन्य कहानियाँ, पहचान तथा अन्य कहानियाँ, वारिस तथा अन्य कहानियाँ।

निबंध संग्रह

परिवेश
अनुवाद

मृच्छकटिक, शाकुंतलम।
यात्रा वृत्तांत
आखिरी चट्टान

सम्मान

संगीत नाटक अकादमी,1968

स्वदेश दीपक

स्वदेश दीपक (1942 जन्म) एक भारतीय नाटककार, उपन्यासकार और लघु कहानी लेखक है। उन्होंने 15 से भी अधिक प्रकाशित पुस्तके लिखी हैं। स्वदेश दीपक हिंदी साहित्यिक परिदृश्य पर 1960 के दशक के मध्य से सक्रिय है। उन्होंने हिंदी और अंग्रेजी में स्नातकोत्तर उपाधि प्राप्त की थी। छब्बीस साल उन्होंने अम्बाला के गांधी मेमोरियल कालेज में अंग्रेजी साहित्य पढ़ाया। उन्हें संगीत नाटक अकादमी सम्मान (2004) से सम्मानित किया गया। वे 2 जून 2006 को, सुबह की सैर के लिए निकले और आज तक वापस नही आए।

कृतियाँ

कहानी संग्रह- अश्वारोही (1973), मातम (1978), तमाशा (1979), प्रतिनिधि कहानियां (1985), बाल भगवान (1986), किसी अप्रिय घटना का समाचार नहीं (1990), मसखरे कभी नहीं रोते (1997), निर्वाचित कहानियां (2003)

उपन्यास- नंबर 57 स्क्वाड्रन (1973), मायापोत (1985)

नाटक- बाल भगवान (1989), कोर्ट मार्शल (1991), जलता हुआ रथ (1998), सबसे उदास कविता (1998), काल कोठरी (1999)

संस्मरण- मैंने मांडू नहीं देखा (2003)

कोर्ट मार्शल

कोर्ट मार्शल स्वदेश दीपक का सर्वश्रेष्ठ नाटक है।खकिसके अनुसार?, दीपक स्वदेश के कोर्ट मार्शल का अरविन्द गौड़ के निर्देशन में अस्मिता थियेटर ग्रुप द्वारा भारत भर में 450 बार से अधिक मन्चन। रंगमंच निर्देशक रन्जीत कपूर, उषा गांगुली, अमला राय और नादिरा बब्बर ने भी इसका मन्चन किया। यह कई

भारतीय भाषाओं में अनुवाद किया गया है रंगकर्मियो में इस दशक का लोकप्रिय, प्रासंगिक, सामाजिक और राजनीतिक नाटक।

नाग बोडस

नाग बोडस एक लोकप्रिय भारतीय नाटककार और हिन्दी कथाकार थे।

प्रमुख नाटक

अम्मा तुझे सलाम
खूबसूरत बहू
टीन -ट्प्पर
कृति-विकृति
तीन नाटक
नर -नारी उर्फ बाबा लोचन दास
अम्मा तुझे सलाम

स्वर्गीय श्री नाग बोडस द्वारा लिखित सलाम एक सामाजिक व्यंग्य नाटक है। जो इस उपभोक्ता- समाज मैं भिखारियों के जीवन के बारे मैं है। नाटक विकलांग मैकेनिक की कहानी के माध्यम से सामाजिक नियमों और पाखंड का खुलासा करता है। वह दुनिया की कठोरता के बावजूद, उसमै अपनी निष्ठा रखता है और छोटी खुशियाँ का सपना पुरा करना चाहता है। यह् नाटक संघर्ष, निर्दोष बचपन, मानसिक अस्थिरता, साजिश, महत्वाकांक्षा और समाज की बेरहमी दर्शाने के साथ महिलाओं और बच्चों के अवैध व्यापार का मुद्दा भी उठाता है। अम्मा तुझे सलाम का पहला मन्चन अरविन्द गौड़ के निर्देशन मैं अस्मिता नाट्य संस्था ने किया। खूबसुरत बहू को रन्जीत कपूर ने रानावि रंगमन्डल के साथ किया। नर -नारी उर्फ थेन्कु बाबा लोचन दास का पहला मन्चन भी रानावि ने किया।

कमलेश्वर

कमलेश्वर (6 जनवरी1932-27 जनवरी 2007) हिन्दी लेखक कमलेश्वर बीसवीं शती के सबसे सशक्त लेखकों में से एक समझे जाते हैं। कहानी, उपन्यास, पत्रकारिता, स्तंभ लेखन, फिल्म पटकथा जैसी अनेक विधाओं में उन्होंने अपनी लेखन प्रतिभा का परिचय दिया। कमलेश्वर का लेखन केवल गंभीर साहित्य से ही जुड़ा नहीं रहा बल्कि उनके लेखन के कई तरह के रंग

देखने को मिलते हैं। उनका उपन्यास 'कितने पाकिस्तान' हो या फिर भारतीय राजनीति का एक चेहरा दिखाती फिल्म 'आंधी' हो, कमलेश्वर का काम एक मानक के तौर पर देखा जाता रहा है। उन्होंने मुंबई में जो टीवी पत्रकारिता की, वो बेहद मायने रखती है। 'कामगार विश्व' नाम के कार्यक्रम में उन्होंने गरीबों, मजदूरों की पीड़ा-उनकी दुनिया को अपनी आवाज दी। कमलेश्वर की अनेक कहानियों का उर्दू में भी अनुवाद हुआ है।

कमलेश्वर का जन्म 6 जनवरी 1932 को उत्तर प्रदेश के मैनपुरी जिले में हुआ। उन्होंने 1954 में इलाहाबाद विश्वविद्यालय से हिन्दी साहित्य में एम.ए. किया। उन्होंने फिल्मों के लिए पटकथाएँ तो लिखी ही, उनके उपन्यासों पर फिल्में भी बनी। आंधी', 'मौसम (फिल्म)', 'सारा आकाश', 'रजनीगंधा',, 'मिस्टर नटवरलाल', 'सौतन', 'लैला', 'रामबलराम' की पटकथाएँ उनकी कलम से ही लिखी गईं थीं। लोकप्रिय टीवी सीरियल 'चन्द्रकांता' के अलावा 'दर्पण' और 'एक कहानी' जैसे धारावाहिकों की पटकथा लिखने वाले भी कमलेश्वर ही थे। उन्होंने कई वृत्तचित्रों और कार्यक्रमों का निर्देशन भी किया।

1995 में कमलेश्वर को 'पद्मभूषण' से नवाजा गया और 2003 में उन्हें 'कितने पाकिस्तान'(उपन्यास) के लिए साहित्य अकादमी पुरस्कार से सम्मानित किया गया। वे 'सारिका' 'धर्मयुग', 'जागरण' और 'दैनिक भास्कर' जैसे प्रसिद्ध पत्र-पत्रिकाओं के संपादक भी रहे। उन्होंने दूरदर्शन के अतिरिक्त महानिदेशक जैसा महत्वपूर्ण दायित्व भी निभाया। कमलेश्वर ने अपने 75 साल के जीवन में 12 उपन्यास, 17 कहानी संग्रह और करीब 100 फिल्मों की पटकथाएँ लिखीं।

कमलेश्वर की अंतिम अधूरी रचना अंतिम सफर उपन्यास है, जिसे कमलेश्वर की पत्नी गायत्री कमलेश्वर के अनुरोध पर तेजपाल सिंह धामा ने पूरा किया और हिन्द पाकेट बुक्स ने उसे प्रकाशित किया और बेस्ट सेलर रहा। 27 जनवरी 2007 को उनका निधन हो गया।

कृतियाँ

उपन्यास -

1. एक सड़क सत्तावन गलियाँ
2. तीसरा आदमी
3. डाक बंगला

4. समुद्र में खोया हुआ आदमी
5. काली आँधी
6. आगामी अतीत
7. सुबह...दोपहर...शाम
8. रेगिस्तान
9. लौटे हुए मुसाफिर
10. वही बात
11. एक और चंद्रकांता
12. कितने पाकिस्तान
13. अंतिम सफर

पटकथा एवं संवाद

कमलेश्वर ने 99 फिल्मों के संवाद, कहानी या पटकथा लेखन का काम किया। कुछ प्रसिद्ध फिल्मों के नाम हैं-

1. सौतन की बेटी(1989)-संवाद
2. लैला(1984)- संवाद, पटकथा
3. यह देश (1984) -संवाद
4. रंग बिरंगी(1983) -कहानी
5. सौतन(1983)- संवाद
6. साजन की सहेली(1981)- संवाद, पटकथा
7. राम बलराम (1980)- संवाद, पटकथा
8. मौसम(1975)- कहानी
9. आंधी (1975)- उपन्यास

संपादन

अपने जीवनकाल में अलग-अलग समय पर उन्होंने सात पत्रिकाओं का संपादन किया -

1. विहान-पत्रिका (1954)
2. नई कहानियाँ-पत्रिका (1958-66)
3. सारिका-पत्रिका (1967-78)
4. कथायात्रा-पत्रिका (1978-79)

5. गंगा-पत्रिका(1984-88)
6. इंगित-पत्रिका (1961-68)
7. श्रीवर्षा-पत्रिका (1979-80)

अखबारों में भूमिका

वे हिन्दी दैनिक दैनिक जागरण' में 1990 से 1992 तक तथा 'दैनिक भास्कर' में 1997 से लगातार स्तंभलेखन का काम करते रहे।'

कहानियाँ

कमलेश्वर ने तीन सौ से अधिक कहानियाँ लिखीं। उनकी कुछ प्रसिद्ध कहानियाँ हैं -

1. राजा निरबंसिया
2. मांस का दरिया
3. नीली झील
4. तलाश
5. बयान
6. नागमणि
7. अपना एकांत
8. आसक्ति
9. जिंदा मुर्दे
10. जॉर्ज पंचम की नाक
11. मुर्दों की दुनिया
12. कस्बे का आदमी
13. स्मारक

नाटक

उन्होंने तीन नाटक लिखे -

1. अधूरी आवाज
2. रेत पर लिखे नाम
3. हिंदोस्ता हमारा

❐❐❐